ALOCHNA HINDI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

P R
२६
P पं ३६ आ
अं - १०

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

49414
49415
P21575

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

R

विषय संख्या ८४
पुस्तक संख्या दि ३६ आ
आगत पंजिका संख्या अ — १०

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
PHAR BAZAR ROORKEE

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2004

Stock Verification-2004

स्टाक सत्यापन १९८४-१९८५

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सम्पादक-समिति
डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश
डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
COMPILED
1973
079575

२०

आलोचना

079575

साहित्य का इतिहास : मध्ययुग	सम्पादकीय
साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्य-युग	डॉ० राजबली पाण्डेय
...वादी काव्य-दृष्टि	डॉ० रामरतन भटनागर
...यास-कला का आभ्यन्तरिक प्रयाण	देवराज उपाध्याय
अंग्रेज़ी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी	यदुपति सहाय
वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन	आई० ए० एक्स्ट्रास
सन्तुलन का प्रश्न	सुमित्रानन्दन पन्त
कला, सौन्दर्य और संस्कृति	हंसकुमार तिवारी

ज्ञानमण्डल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...श्वविद्यालय,

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक २ पूर्णांक १० जनवरी, १९५४

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ३)

सूची

▲सम्पादकीय

—हिन्दी-साहित्य का इतिहास : मध्ययुग --- १

▲निबन्ध

—हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्ययुग : डॉ० राजबली पाण्डेय --- ९

—छायावादी काव्यदृष्टि : डॉ० रामरतन भटनागर --- २३

—उपन्यास-कला का आभ्यन्तरिक प्रयाण : देवराज उपाध्याय --- ३१

—अंग्रेजी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी : यदुपति सहाय --- ४८

▲प्रस्तुत प्रश्न

—वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन : आई० ए० एक्स्ट्रास --- ५६

—सन्तुलन का प्रश्न : सुमित्रानन्दन पन्त : --- ७०

▲अनुशीलन

—भक्ति-भावना और रीतिकालीन कवि : डॉ राकेश गुप्त --- ७५

—स्त्रियों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण : डॉ हरदेव बाहरी --- ७६

▲मूल्यांकन

—कला, सौंदर्य और संस्कृति : हंसकुमार तिवारी --- ८६

—नैराश्य के पुजारी : श्रीपतराय --- ६५

जैनेन्द्र का सोच-विचार : नरोत्तम नागर --- १०२

—समीक्षा की समीक्षा : गजानन माधव मुक्तिबोध --- १०७

—खण्ड सत्य और निष्प्राण बीज : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय --- ११०

—'वेलि' का नया संस्करण : डॉ० टीकमसिंह तोमर --- ११३

—सात रेडियो एकांकी : जनार्दन मुक्तिदूत --- ११४

—सृष्टि का रथ : विष्णुस्वरूप --- ११७

—चाँदनी रात और अजगर : मार्कण्डेय --- ११८

—भारतीय सन्तों की वाणी : प्रभाकर माचवे --- १२१

▲परिचय --- १२५

▲प्रत्यालोचना --- १३३

▲प्राप्ति-स्वीकार --- १३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

सम्पादकीय

हिन्दी-साहित्य का इतिहास : मध्ययुग

सामाजिक परम्परा के सन्दर्भ में सांस्कृतिक मूल्यांकन ही किसी कलाकृति की सौन्दर्य-शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक समीक्षा को वास्तविक आधार प्रदान करता है। किन्तु हिन्दी-साहित्य की समीक्षा में—चाहे वह सैद्धान्तिक हो अथवा व्याख्यात्मक—सबसे बड़ी त्रुटि यही रह गई है कि उसका याथातथ्य ऐतिहासिक मूल्यांकन नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहास लिखे गए, उनमें मध्ययुग के कवियों और काव्य-धाराओं के ऐतिहासिक विवेचन की प्रवृत्ति भी विकसित हुई, तथापि मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य का इतिहास जो यथार्थ में मध्ययुग के इतिहास का अभिन्न अंग कहा जा सके अब भी लिखा जाना शेष है। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों—तासी, सेंगर आदि—ने केवल संक्षिप्त विवरण और अधिक हुआ तो स्फुट उदाहरणों के साथ कवियों की सूचियाँ प्रस्तुत कर दी थीं। ग्रियर्सन, ग्रीव्स और के ने इतिहास का काल-विभाजन और उसके अन्तर्गत विविध प्रवृत्तियों का संकेत भी किया, किन्तु उनके पास साहित्य की सामग्री अधिक नहीं थी, इतिहास की सामग्री की ओर उनका ध्यान भी नहीं था और सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित और संकीर्ण था। साहित्य-सामग्री की दृष्टि से मिश्र-बन्धु का चार जिल्दों में विभाजित 'विनोद', अनेक नितान्त स्पष्ट चिन्त्य भूलों के बावजूद, पर्याप्त सम्पन्न था। उन्होंने इतिहास के काल-विभाजन में मौलिकता लाने की चेष्टा अवश्य की, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनमें साहित्य के समूहगत पर्यालोचन तथा किसी क्रम-व्यवस्था से उसके परीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण कर सकने का यथेष्ट वैज्ञानिक विवेक नहीं था। सामाजिक इतिहास की उपलब्ध सामग्री को साहित्य के इतिहास में नियोजित करने की चेतना का उनमें सर्वथा अभाव था।

आचार्य शुक्ल का 'इतिहास' हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन का प्रथम सीमा-चिह्न है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर काल-विभाजन, विभिन्न कालों का आकर्षक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामकरण, कवियों का वर्गीकरण और उनकी व्यक्तिगत समीक्षा में अन्तर्दृष्टि तथा साहित्यिक परम्पराओं के क्रम-विकास का निर्देश—इन अनेक नवीनताओं से समन्वित उनका ऐतिहासिक अध्ययन साहित्य-समीक्षकों के एक बड़े समूह का धर्म-शास्त्र रहा है। किन्तु जहाँ एक ओर शुक्लजी के इतिहास का व्यापक रूप में अनुकरण और अनुचरण हुआ, वहाँ दूसरी ओर यह अनुभव करने में भी देर न लगी कि इतिहास-लेखन की दृष्टि से यह अध्ययन निर्दोष नहीं है। व्यक्तिगत कवियों की सूक्ष्म और गम्भीर समीक्षा तथा उनकी रचनाओं से उत्तम उदाहरणों का संकलन अपने में उपयोगी और रोचक अवश्य है, किन्तु उनसे ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप में भारी बाधा पड़ती है। इतिहास-लेखन की यह शैली पुरानी थी। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने इस त्रुटि को तुरन्त समझ लिया और शुक्लजी के इतिहास-प्रकाशन के दूसरे ही वर्ष अपना 'हिन्दी भाषा और साहित्य' प्रस्तुत कर दिया जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप को उपर्युक्त बाधा से मुक्त किया और साथ ही शुक्लजी द्वारा निर्णीत साहित्यिक धाराओं के विकास-क्रम निर्देश में आदि, मध्य और आधुनिक के ऐतिहासिक काल-विभाजन की सीमाओं तक को मिटा दिया। साहित्य के इतिहास में हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक इतिहास को जोड़ना आचार्य श्यामसुन्दरदास की एक ऐसी मौलिकता थी जिसका औचित्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि भाषा के इस इतिहास में हिन्दी के अभ्युदय की ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों और कारणों का विवेचन होता, तब अवश्य साहित्य के इतिहास के साथ उसकी संगति मिल जाती। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में ललित कलाओं के इतिहास को भी सम्मिलित किया गया था। यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी, किन्तु इस इतिहास को साहित्य के इतिहास के साथ अविच्छिन्न और अविकल रूप से मिलाकर परखने की आवश्यकता थी। भाषा-शैली और समीक्षा-दृष्टि के महत्त्वपूर्ण अन्तरों के अतिरिक्त शेष बातों में शुक्लजी और श्यामसुन्दरदास जी के इतिहासों में कोई मौलिक अन्तर नहीं थे। किन्तु गम्भीरता और प्रतिभा-सम्पन्न अन्तर्दृष्टि से लिखे जाने के कारण आचार्य शुक्ल के ही 'इतिहास' के दोष भी अधिक देखे गए।

हिन्दी-साहित्य के और भी महत्त्वपूर्ण इतिहास प्रकाशित हुए। महाकवि हरिऔध के 'विकास', डाक्टर रामकुमार वर्मा के 'आलोचनात्मक इतिहास', डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री के 'विवेचनात्मक इतिहास' तथा कुछ अन्य ने भी अपनी-अपनी मौलिक विशेषताओं के लिए प्रसिद्धि और लोकप्रियता प्राप्त की। परन्तु इन सब में साहित्यिक सौन्दर्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति इतनी प्रधान थी कि उनके ऐतिहासिक पुनर्संगठन की थोड़ी-बहुत मौलिकता अथवा नवीनता की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। इस बीच हिन्दी-साहित्य में अनेक नवीन अनुसंधान हो चुके थे, नवीन सामग्री सम्मुख आई थी, पुरानी का परीक्षण-विश्लेषण हुआ था। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इस नवीन कार्य का भरपूर उपयोग किया और प्रारम्भ में जो छोटी-मोटी-भ्रान्तियां रह गई थीं उन्हें भी द्वितीय संस्करण में सुधार लिया। 'आलोचनात्मक इतिहास' साहित्य की प्रचुर सामग्री एक स्थान पर सँजोकर आलोचना और इतिहास दोनों क्षेत्रों के विद्यार्थी की सहायता करता रहा है। इस इतिहास में 'चारणकाल' के अंतर्गत महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा किये गए अनुसंधानों का प्रचुर प्रयोग किया गया था तथा अपभ्रंश के सिद्ध और जैन साहित्य को भी हिन्दी में शामिल कर लिया गया था। स्वयं राहुलजी ने अपनी 'काव्य धारा' में अपभ्रंश के कवियों की ऐतिहासिक समीक्षा में आर्थिक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों को नियोजित करके एक व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप का परिचय दिया। उन्होंने भाषा-परिवर्तन के सामाजिक कारणों को भी उद्घाटन करने की चेष्टा की। परन्तु राहुलजी की ऐतिहासिक दृष्टि में निष्कर्ष और निर्णय तथ्य और वस्त्वाधार के पहले आ जाते हैं, अतः वे इतिहास और साहित्य की सामग्री का संकलन अपने उद्देश्य की ही दृष्टि से करते हैं। फलस्वरूप ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप की व्यापकता उद्देश्य की संकीर्णता में विलीन हो जाती है।

आज से चौदह वर्ष पूर्व आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' लिखकर साहित्यिक इतिहास की एक नवीन दिशा का संकेत किया और उसमें इस आदर्श की पूर्ति का प्रयत्न किया कि 'प्रत्येक देश का साहित्य, समाज, संस्कृति और चिंतन, एक अविच्छिन्न विचार-परम्परा का और उसमें होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिबिम्ब हुआ करता है जिसे गति देने में भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, और वैयक्तिक कारण काफ़ी हिस्सा लेते हैं।' यह सही है कि 'भूमिका' इस आदर्श की आंशिक पूर्ति ही कर सकी; उसमें प्राचीन परंपरा का दिग्दर्शन ही अधिक हुआ, उसे गति देने वाले उपर्युक्त कारणों का पर्यवेक्षण और विश्लेषण कदाचित् काफ़ी न हो सका। इस महत्त्वपूर्ण कृति ने शुक्लजी के 'इतिहास' की उन त्रुटियों की ओर भी संकेत किया जिन्हें अन्य विद्वान् भी अनुभव करते आ रहे थे। 'भूमिका' के आधार पर हिन्दी-साहित्य के वास्तविक इतिहास की आशा बँधी थी। अब द्विवेदीजी के 'आदिकाल' तथा 'हिन्दी-साहित्य' के प्रकाशन से प्रतीक्षा की अवधि समाप्त हुई है। शुक्लजी के 'इतिहास' की अनेक त्रुटियों को द्विवेदीजी ने स्पष्ट रूप में इंगित किया है। काल-विभाजन, कालों के नामकरण, महान् कवियों और प्रवृत्तियों के मूल्यांकन तथा प्राचीन परम्पराओं एवं तत्कालीन सामाजिक और वैयक्तिक परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के इतिहास का विन्यास, अनेक बातों में द्विवेदीजी ने शुक्लजी से मतभेद प्रकट किया है तथा इतिहास-लेखन के आदर्श को आगे बढ़ाया है। उनके निष्कर्षों और तर्कों के पीछे नवीन सामग्री के अनुसंधान, पुरानी सामग्री के पुनर्मूल्यांकन तथा साहित्य-समीक्षा की अधिक व्यापक और उदार अंतर्दृष्टि है। साहित्य के इतिहास और समीक्षा के क्षेत्र में सम्भवतः आचार्य द्विवेदी का कार्य द्वितीय सीमा-चिह्न कहा जायगा। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'हिन्दी-साहित्य' में साहित्य-सामग्री के संकलन, वर्गीकरण और उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने में वह सतर्कता और संतुलन नहीं दिखाई देता जिसकी आशा की जा सकती थी। राहुलजी की भाँति निर्णय देने में वह भी कभी-कभी जल्दबाज़ी कर सकते हैं और जिस प्रकार राहुलजी का निश्चित उद्देश्य उनसे तथ्य की उपेक्षा करा सकता है, उसी प्रकार द्विवेदीजी का उत्साह उनसे तर्क की भ्रांति। किन्तु 'हिन्दी-साहित्य' की आलोचना के लिए अभी बहुत समय बाकी है।

अस्तु, मन्तव्य यह है कि हिन्दी-साहित्य के जितने इतिहास लिखे गए, विभिन्न धाराओं और व्यक्तिगत कवियों के जो अध्ययन प्रस्तुत किये गए, उनके बावजूद यह एक अप्रिय और कठोर सत्य है कि हिन्दी के पुराने साहित्य की, जिसे हम मध्य-युग का साहित्य कहते हैं, यथा-तथ्य ऐतिहासिक व्याख्या नहीं हुई।

इसके लिए साहित्य और इतिहास के सम्मिलित अध्ययन की आवश्यकता है। जहाँ तक साहित्यिक अनुसंधान का सम्बन्ध है, कुछ कवियों और काव्य-धाराओं के एकात्मक, विश्लेषणात्मक और विशिष्ट अध्ययन अवश्य किये गए। किन्तु मध्य-युग के साहित्य की अपार सामग्री अब भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अँधेरे और अज्ञात कोठों में पड़ी कीड़ों-मकौड़ों का शिकार बन रही है, थोड़ी-बहुत ज्ञात सामग्री संग्रहालयों और भण्डारों में बन्द उद्धार की प्रतीक्षा में है, और जो-कुछ प्रकाश में आई है, उसमें बहुत कम ऐसी है जिसका प्रामाणिक सम्पादन और पाठालोचन हुआ हो। इस स्थिति में साहित्य के इतिहासों में चन्द, कबीर, सूर, मीरां तथा अगणित अन्यान्य कवियों के सम्बन्ध में परम्परा से उन बातों को दुहराया जा रहा है जिनकी यथार्थता की परीक्षा हुई ही नहीं। और साहित्य के इतिहास को भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में उपस्थित करने की चेष्टा तो और भी कम हुई। ऐतिहासिक समीक्षण तभी पूर्ण हो सकता है जब हम कवियों के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व के अधिकाधिक अनुसंधान, उनकी प्रामाणिकता की स्थापना तथा उनके वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता की अपेक्षा तत्कालीन समाज की सर्वांगीण परिस्थिति में अंगांगी रूप से साहित्य तथा अन्यान्य कलाकृतियों को विन्यस्त करने और इस प्रकार युग के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को पुनर्निर्मित करके उपस्थित करने की आवश्यकता का महत्त्व कम न समझें। निःसन्देह यह कठिन कार्य साहित्यिकों और इतिहासकारों के सम्मिलित उद्योग से ही हो सकता है। जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड में विगत शताब्दी से ही साहित्य के अध्ययन द्वारा इतिहास-लेखन में एक सर्वथा नई पद्धति अपनाई जाने लगी थी। किन्तु भारतीय मध्य-युग के इतिहासकारों ने हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों की प्रायः उपेक्षा ही की है।

भारतीय इतिहास के मध्ययुग (आठवीं से उन्नीसवीं शताब्दी) के लगभग बारह सौ वर्षों के दीर्घ काल-विस्तार में राजनीति, समाज, धर्म और संस्कृति में इतने महान् परिवर्तन और उत्थान-पतन हुए कि उन सब का एक साथ विचार कर सकना भी सम्भव नहीं है। आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के पूर्व मध्ययुग की विशृंखल सामंती व्यवस्था—अथवा अव्यवस्था—के काल में धर्म और समाज के क्षेत्र में भी विघटन, विभाजन, आंतरिक संघर्ष और असामाजिकता का क्रम तेज़ी से क्रियाशील हो रहा था। इस काल का सांस्कृतिक अधःपतन उन वामाचार-पूर्ण गुह्य तान्त्रिक क्रियाओं में देखा जा सकता है जिन्होंने बौद्ध और वैदिक दोनों धर्मों को आच्छन्न कर लिया था। इन पाँच सौ वर्षों की लम्बी अवधि तक भारत बाह्य संसार से प्रायः पूर्णतया विच्छिन्न रहा। बाह्य संकटों से सुरक्षा की भावना ने निःसन्देह भारतीयों में कूप-मण्डूकता कलहशीलता, अहम्मन्यता और आत्म-तुष्टि की भावना को प्रोत्साहन दिया होगा, जैसा कि अलबेरूनी ने लिखा है कि भारतीयों को अपने देश के अलावा किसी दूसरे देश के अस्तित्व का ज्ञान नहीं है तथा वे अपने धर्म के समान किसी धर्म को नहीं मानते। किन्तु इस काल के इतिहास को जानने की सामग्री बहुत कम है। भारत में इतिहास-लेखन की प्रणाली सर्वथा भिन्न थी। इतिहासकारों ने उस सामग्री को जो पुराणों से प्राप्त हो सकती है समुचित उपयोग नहीं किया और न वे तत्कालीन साहित्य, संगीत, मूर्ति, स्थापत्य आदि कला-कृतियों का सामाजिक इतिहास के साथ संयुक्त करके समग्रीकृत अध्ययन ही संतोषजनक रूप में कर सके। यही वह काल है जिसमें संस्कृत भाषा और साहित्य—अपनी कृत्रिमता, आडम्बरप्रियता, पंडिताऊपन तथा पंडितों द्वारा एकाधिकृत हो जाने के कारण—संभवतः जन-समाज से पूर्णतया विच्छिन्न हो गए थे और वे परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं जिनमें जन-भाषा उत्तरोत्तर विकास करके संस्कृत का स्थान लेने की तैयारी कर रही थी। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए इस काल का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसी समय उस सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना की तात्कालिक भूमिका तैयार हुई जिसका प्रतिफलन आगे भक्ति-आंदोलन में हुआ। किन्तु शुक्लजी ने केवल 'अपभ्रंश काल' के नाम से कुछ सिद्ध और जैन कवियों के नामों और स्फुट उदाहरणों के उल्लेख-मात्र कर दिए हैं। राहुल जी ने अपने दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर ही सामाजिक समीक्षा की है और इसे 'सिद्ध-सामन्त काल' का नाम दिया है। द्विवेदीजी ने भी यही नाम स्वीकार किया, परन्तु वे राहुलजी की एकांगी स्थापनाओं से कहाँ तक सहमत हो सकते हैं, यह स्पष्ट नहीं हो सका। द्विवेदीजी ने सिद्ध और नाथ साधनाओं का गहरा अध्ययन किया है, किन्तु उनके भी अपने मोह और अभिनिवेश हैं, जिनका संतुलित ऐतिहासिक विवेचन पर प्रभाव पड़ता है।

बारहवीं शताब्दी में ही लगभग समस्त उत्तर भारत मुस्लिम विजेताओं के अधिकार में आ गया था और पुनः केन्द्रीय सत्ता के भारत-व्यापी अधिकार-विस्तार के प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे। किन्तु इसके क्रम में कितना नरसंहार, कला और संस्कृति की अपार सामग्री का विध्वंस तथा धन-संपत्ति का भीषण विनाश हुआ इसका अनुमान कर सकना भी सम्भव नहीं है। पहले कठोर मुस्लिम सैनिक शासन और फिर शिष्ट प्रशासन-व्यवस्था में प्रयत्नशील मुग़ल साम्राज्य-शाही का यह मध्य-मध्ययुग अनेक राजनीतिक संघर्षों और उत्थान-पतन के साथ सत्रहवीं शताब्दी तक रहा। किन्तु भारत के राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस का यह काल ही विलक्षण रूप से उस नवीन चेतना और सांस्कृतिक नवनिर्माण का काल है जिसमें भक्ति आन्दोलन ने समस्त उत्तर-भारत की आध्यात्मिक एकता, सामाजिक भावना और जीवन की सोद्देश्यता के नये मूल्य प्रदान किये थे। आगे चलकर जब चेतना की लहर मन्द पड़ गई तथा भावना रूढ़िग्रस्त और जड़ होने लगी, तब निर्माण की शक्तियाँ भी क्षीण हो गईं। वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर-मध्य से ही पुनः राजनीतिक विघटन, सामाजिक अव्यवस्था और सांस्कृतिक ह्रास के उत्तर-मध्य युग का क्रम प्रारम्भ हो गया जो अठारहवीं शताब्दी तक चरम सीमा को पहुँच गया। इतिहासकारों ने इन दोनों मध्य मध्य और उत्तर-मध्य युगों के अध्ययन में सबसे अधिक उपयोग मुस्लिम इतिहासकारों का ही किया है, जो स्वयं अपने-अपने पूर्वग्रहों से ग्रस्त थे। भारतीय भाषाओं के साहित्यों की तो उपेक्षा की ही गई, फ़ारसी साहित्य का भी ऐतिहासिक अध्ययन नहीं हुआ। वस्तुतः समस्त कलाकृतियों के समग्र रूप में अध्ययन के द्वारा ही समाज और संस्कृति-सम्बन्धी उन अनेक असंगतियों और अन्तर्विरोधों को सुलझाया जा सकता था जो हमारे साहित्य के इतिहासकारों के लिए एक विचित्र पहेली बन गई हैं। इतिहास और संस्कृति की सामग्री के पूर्ण और समन्वित अध्ययन के अभाव में ही अपनी-अपनी रुचि और दृष्टिकोणों का आसानी से आरोप करके साहित्य के इतिहास को विकृत किया गया है। किस प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में उस काल के मनुष्य का आदर्श साधक कवि के रूप में मूर्तिमान हुआ और उसने एक नई भाषा को जन-मुख से उठाकर नवीन जीवन्त भावना से अनुप्राणित कर दिया तथा सर्वथा नये प्रकार की साहित्य-सृष्टि कर डाली, इसकी जिज्ञासा अब भी ज्यों-की-त्यों बनी है।

निःसन्देह मध्ययुग के इतिहासकारों ने कला और साहित्य का इतिहास-निर्माण में समुचित उपयोग नहीं किया। परन्तु साहित्य के इतिहासकारों ने इतिहास की उपलब्ध सामग्री की और भी अधिक उपेक्षा की है। उन्होंने साहित्य को शीर्ष स्थान पर रखकर अपनी रुचि, योग्यता अथवा साहित्य-बाह्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्यों के अनुकूल सामाजिक निष्कर्ष निकाल कर, विच्छिन्न रूप से ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा उनकी पुष्टि कर दी और इसी को 'साहित्य का इतिहास' नाम से चलता कर दिया। एक ओर साहित्य को समाज का प्रतिबिंब कहा जाता है और दूसरी ओर साहित्य के इतिहास को समाज के रंगमंच का एक अभिनेता-मात्र कहकर इतिहास का केवल पृष्ठभूमि के रूप में और वह भी अपनी रुचि के अनुसार, उपयोग किया जाता है। परिणाम यह होता है कि ऐतिहासिक तिथियों, नामों और घटनाओं के साथ साहित्य-कृतियों का मनमाना सम्बन्ध जुड़ जाता है और दोनों में कारण और कार्य का नाता कल्पित कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए राजनीतिक इतिहास की पुस्तकों से यह जानकर कि बारहवीं शताब्दी में महमूद गज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी के नेतृत्व में मुसलमानों ने भारत पर अनेक आक्रमण किये थे, यह कल्पना कर ली जाती है कि ऐसे वातावरण में जनता वीरता की भावना से अनुप्राणित हो गई होगी और मुस्लिम संघर्ष के फलस्वरूप कवियों ने उत्साह-वर्धक वीर रसात्मक रचनाएँ की होंगी। प्रायः साहित्य के वास्तविक अध्ययन से पुष्ट किये बिना ही ऐसे प्रवाद व्यापक रूप में प्रचलित हो जाते हैं। इसी प्रकार आक्रमणकारी मुस्लिम विजेताओं के अत्याचारों के संयोग के आधार पर समस्त भक्ति-साहित्य को निराशाजन्य पलायनवादी साहित्य समझ लिया जाता है। अथवा भक्ति के परवर्ती शृङ्गारी साहित्य को मनःकल्पित विलासी वातावरण का परिणाम मान लिया जाता है। पृष्ठभूमि के रूप में इतिहास-प्रयोग के इन उदाहरणों में किंचित् अतिरंजना भले ही दिखाई दे, किन्तु ऐसी अतिरंजना आचार्यों के प्रामाणिक इतिहासों के सूत्र-रूप कथनों के आधार पर अनुचर इतिहास-कारों ने वास्तव में की है। दूसरी ओर, प्राचीन परम्परा के ज्ञान और अनुराग में अभिनिविष्ट इतिहासकार 'साहित्य की विविध' धाराओं की शृंखला दूरातिदूर अतीत तक ढूँढ़ने में इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि उनके सम्मुख तत्कालीन इतिहास की ज्वलन्त घटनाओं का कोई मूल्य नहीं रहता। भक्ति-साहित्य के उद्गम-स्रोत 'भागवत', नारद और शांडिल्य के सूत्रों, ब्रह्मसूत्र की भक्तिपरक व्याख्याओं, पुराणों, 'भगवद्गीता', 'महाभारत' और वेदों तक तो ढूंढ़े जाते हैं, किन्तु जिन सामयिक परिस्थितियों में उस साहित्य की रचना हुई उनका अन्वेषण-अध्ययन थोड़े-से चलताऊ प्रवादों को दुहरा देने में ही सीमित रह जाता है।

साहित्यिक इतिहास के इन असत्य और अर्द्ध-सत्य निष्कर्षों और निर्णयों के उत्तर-दायित्व से साहित्य का इतिहासकार और समीक्षक बच नहीं सकता। ऐतिहासिक तथ्यों की खोज, उनके सम्यक् अनुशीलन तथा साहित्य और अन्य कला-कृतियों के साथ उन्हें सम्बद्ध करके तत्कालीन जीवन के पुनर्निर्माण के बिना न तो वास्तव में सामान्य इतिहास की रचना हो सकती है और न साहित्य के इतिहास की। साहित्य और इति-हास में अभिन्नता और अन्योन्य सम्बन्ध है। मनुष्य की समस्त कलाकृतियाँ सामान्य रूप में तथा साहित्य विशेष रूप में व्यक्ति और समाज का आन्तरिक इतिहास निर्मित करते हैं और आन्तरिक व्यक्ति और समाज की ही स्थूल अभिव्यक्ति उसकी विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा सभ्यता के अन्य उपकरणों के रूप में होती है। मानव-जीवन के जिस इतिहास में युग-जीवन को पुनर्निर्मित करने की चेष्टा नहीं की जाती वह नामों, तिथियों और घटनाओं के समूह से अधिक और क्या है? और, ऐसे इतिहास को साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित करना तो और भी अनर्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

डॉक्टर राजबली पाण्डेय

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्य युग

: १ :

विश्व के इतिहास का मध्य युग सातवीं-आठवीं शती से प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहास में भी मध्य युग के लक्षण सातवीं शती के मध्य से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। इसलिए ऐतिहासिकों ने सुविधा के लिए ६५०—१२०० ई० के काल को पूर्व-मध्य युग और १२००—१७०० ई० के काल को उत्तर-मध्य युग माना है। परन्तु मध्य युग की कल्पना केवल तिथि-क्रम के ऊपर अवलम्बित नहीं है; उस युग की प्रमुख राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों के कारण उसे मध्य युग कहते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन एक विचित्र प्रकार से किया जाता है। हिन्दी-जैसी लोक-भाषाओं का उदय स्वयं मध्य युग की एक प्रक्रिया है। भारत में मध्य युग सोलहवीं शती के बाद भी प्रलम्बित रूप से बना रहता है, क्योंकि भारत पर बर्बर आक्रमणों ने देश में अन्धयुगीन अवस्था उत्पन्न कर दी और वैज्ञानिक तथा सामाजिक क्रान्ति के अभाव में प्रायः १८५७ ई० तक मध्य युग का ही प्रभाव रहा। इस प्रकार हिन्दी का अपभ्रंश-काल, वीर-गाथा-काल, भक्ति-काल तथा रीति-काल सभी मध्य युग के अन्तर्गत आ जाते हैं और हिन्दी के मोटे तौर पर दो ही काल हो सकते हैं—मध्य युग और आधुनिक युग।

पुष्यभूति (वर्द्धन) साम्राज्य के पतन के बाद सम्पूर्ण उत्तर भारत प्रान्तीय और वंशगत राज्यों में बट गया था। बारहवीं शती तक ये राज्य बराबर आपस में लड़ते रहे। परस्पर ध्वंसकारी युद्धों में शूरता-प्रदर्शन ही इनका आदर्श था और एक-दूसरे की सम्पत्ति तथा कन्याओं का अपहरण ही राजाओं का पुरुषार्थ। जनता के राजनीतिक जीवन का आन्तरिक सन्तुलन भी नष्ट हो चुका था। प्राचीन भारत में राजतन्त्र और गणतन्त्र एक-दूसरे के ऊपर नियन्त्रण रखते थे, जिससे जनता में सार्वजनिक राजनीतिक चेतना बनी रहती थी और वह राज्य के उत्थान और पतन में उसके साथ समवेदना रखती थी। गुप्त-सम्राटों ने गणों का विनाश किया। उसके बाद राजतन्त्र क्रमशः अप्रतिबन्ध होते गए और पूर्व-मध्य काल में वे प्रायः बिलकुल निरंकुश हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अथवा व्यक्ति-सम्मान, देश-भक्ति और राजनीतिक जागरूकता के स्थान पर राज-भक्ति, आत्म-समर्पण और राजनीतिक उदासीनता ने जनता में घर कर लिया। प्रान्तीय और वंशगत राज्यों की संघटना भी सामन्तवादी थी। छोटे-छोटे राज्य कई छोटे-छोटे उपराज्यों में बटे हुए थे। जनता की भक्ति अपने मण्डल और स्थानीय सामन्त के प्रति होती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण राज्य की उनके मन और भावना में कोई कल्पना नहीं थी। इस परिस्थिति में इस काल के प्रशस्तिकारों और कवियों के सामने कोई अखिलदेशीय और राष्ट्रीय कल्पना नहीं थी। वे स्थानीय राज्यों और राजाओं के गुण-गान करने में ही अपनी प्रतिभा की सफलता मानते थे अथवा सामन्ती ठाठ-बाट और विलासिता का चित्रण करने में आनन्द लेते थे। लगभग पाँच सौ वर्षों के लम्बे काल में केवल कान्य-कुब्ज के यशोवर्मन के राजकवि भवभूति ने और प्रतिहार-वंश के कुलगुरु राजशेखर ने 'रामायण' और 'महाभारत' के राजनीतिक आदर्शों का स्मरण अपने 'महावीर चरित' तथा 'उत्तर-रामचरित' और 'बाल भारत' तथा 'बाल रामायण' में दिलाया। अधिकांश कवि और लेखक अपने प्रश्रयदाता राजाओं के जीवन-चरित्र में उनके यश ही गाते रहे। इस मध्ययुगीन परम्परा को बाणभट्ट ने प्रारम्भ किया। बाणभट्ट का 'हर्षचरित', वाक्पतिराज का प्राकृत-काव्य 'गौडवहो', परिमल गुप्त का 'नवसाहसाङ्क चरित', विल्हण का 'विक्रमाङ्क देव चरित', सन्ध्याकर नन्दी का 'रामचरित', हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित' तथा 'प्राकृत द्व्याश्रय काव्य', जयानक का 'पृथ्वीराज विजय', सोमेश्वर की 'कीर्ति-कौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्त्तन', जयसिंह का 'हम्मीरमद मर्दन', मेरुतुङ्ग का 'प्रबन्ध चिन्तामणि', नयचन्द्र सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य', जयसिंह सूरि का 'वस्तुपाल चरित', आनन्द भट्ट का 'बल्लाल चरित' तथा गंगाधर पण्डित का 'मण्डलीक महाकाव्य' आदि काव्य संस्कृत और प्राकृत में राजाओं की यश-गाथाओं के रूप में लिखे गए। इसी परम्परा के अनुकरण में हिन्दी के उदय काल के कवियों ने वीर-गाथा और वीर-गीति-शैली के अनेक रासों का निर्माण किया। इन हिन्दी के कवियों के सामने दो प्रकार के राजनीतिक दृश्य थे। एक तो भारतीय राज्यों का परस्पर युद्ध और दूसरे भारतीय राज्यों का अरबों, तुर्कों और पठानों से युद्ध। दोनों प्रकार के युद्धों में शूरता-प्रदर्शन का काफ़ी अवसर था और कवियों के लिए पर्याप्त सामग्री। इन काव्यों का मुख्य विषय थे—प्रेम और युद्ध तथा उनके स्थायी भाव थे शृङ्गार और वीर।

बारहवीं शताब्दी के अन्त में दिल्ली और कन्नौज के हिन्दू-साम्राज्यों के नष्ट हो जाने के बाद यद्यपि ठेठ उत्तर भारत में मुसलिम सत्ता का प्रतिरोध बड़े पैमाने पर बन्द हो गया तथापि राजस्थान, मध्य भारत, गुजरात और उड़ीसा के भारतीय राज-वंश बराबर मुसलमानों का विरोध करते रहे। इस्लाम की राजनीतिक शक्ति और धर्म का जितना विरोध भारत में हुआ उतना अफ्रीका और एशिया महाद्वीप के किसी देश में नहीं। प्रान्तीय और वंशगत राज्यों ने परस्पर युद्धों और सामूहिक भावना के अभाव से मुसलमानों को भारत में घुस आने का अवसर तो दिया परन्तु उनमें वंशगत अभिमान और स्वार्थ के साथ देश, धर्म और जाति की भावना (कम-से-कम विदेशियों के सामने) अवश्य थी और उनमें व्यक्तिगत शूरता और कष्ट-सहन की योग्यता की कमी न थी। अतः वे सोलहवीं शती के मध्य तक बराबर मुसलिम राज्यों से संघर्ष करते रहे। इस प्रकार विरोध का क्षेत्र कम हो जाने पर भी जनता की मानसिक स्थिति इस काल में वही रही, जो दशवीं शती से बारहवीं शती तक थी। राजस्थान और गुजरात के बहुत-से रासो इसी काल में लिखे गए और पहले के लिखे हुए परिवर्द्धित हुए।

सोलहवीं शती के मध्य में मुगल-साम्राज्य के स्थापित हो जाने पर भी हिन्दुओं की ओर से विरोध और संघर्ष बन्द न हुआ। मेवाड़ के राजा संग्रामसिंह ने फिर एक बार हिन्दुओं की राजनीतिक शक्ति का संघटन किया और अपनी राजनीतिक कुशलता से मुगलों के विरुद्ध पठानों को भी अपनी ओर मिला लिया। पानीपत के द्वितीय युद्ध में भारत के अन्तिम नरेश विक्रमादित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेमचन्द्र (हेमू) ने फिर मुगलों का विरोध किया। यद्यपि मुगलों का साम्राज्य पहले के मुसलिम राज्य से विस्तृत था, फिर भी साम्राज्य-विस्तार तथा प्रतिरोध और विद्रोह को दबाने के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध जारी रखना पड़ा। इसके कारण औरंगजेब के समय तक मुगलों की शक्ति शिथिल और हिन्दुओं के राजनीतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। इस काल की राजनीतिक घटनाओं ने हिन्दू जनता के हृदय को दो प्रकार से स्पर्श किया। जिन राज्यों और व्यक्तियों ने मुगल सत्ता के सामने समर्पण किया उनको तो आत्म-ग्लानि और भर्त्सना ही मिली। जिन्होंने उसका विरोध किया वे ही जनता के हृदय-सम्राट् और आदर्श थे। राणा प्रताप, शिवाजी, दुर्गादास, राजसिंह, सिख गुरु, विद्रोही मराठे और जाट—ये ही जनता के हृदय को स्पर्श कर सके। हिन्दी-साहित्यकारों की यही राजनीतिक पृष्ठभूमि थी। वे विदेशी सत्ता के अन्त और हिन्दुओं के पुनः एक सुव्यवस्थित साम्राज्य का स्वप्न देख रहे थे।

हिन्दी-साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने, सम्भवतः फर्कुहर और मैकनिकॅल आदि के विचारों से प्रभावित होकर भक्ति-साहित्य के उदय पर लिखते हुए उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थिति की गलत व्याख्या की है। आचार्य शुक्ल जी अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं :

"इतने बड़े राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू-जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[1]

किन्तु वास्तव में मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन उत्तर भारत में न प्रारम्भ होकर सुदूर दक्षिण में शुरू हुआ था; राजनीतिक पराधीनता से प्रभावित होकर नहीं, किन्तु वहाँ की शुद्ध वैष्णव-परम्परा में धार्मिक धारा के रूप में। इस नव-जाग्रत वैष्णव-धर्म ने उत्तर भारत की राजनीति को प्रभावित किया। यद्यपि उत्तर भारत में हिन्दू राज-वंश तो तेरहवीं शती के प्रारम्भ में ही समाप्त हो गए थे तथापि ऐसे छोटे-छोटे जमींदार बने रहे, जिनके पास सैनिक शक्ति भी थी और वे बराबर मुसलिम सत्ता से विद्रोह करते रहे। जहाँ तक जनता का प्रश्न है, (विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में) धार्मिक दृष्टि से इस्लाम से उसने कभी हार न मानी। उसके बहुत-से मन्दिर तोड़े गए, किन्तु उसने बराबर नये मन्दिरों का निर्माण किया और अपनी धार्मिक चेतना बनाये रखी। राजनीतिक आदर्श और आशा भी कभी लुप्त नहीं हुई। राणा संग्रामसिंह और हेमचन्द्र (हेमू) के बाद भी जब अकबर का प्रबल प्रताप चारों ओर फैल रहा था तब रानी दुर्गावती तथा राणा प्रताप आदि ने स्वतन्त्रता की आग बुझने नहीं दी। असफलताएँ हुईं, किन्तु निराशा ने भारतीय जनता को कभी आक्रान्त नहीं किया। इस काल के निर्गुणी भक्त (नानक, कबीर तथा दादू आदि) प्राचीन वेदान्त, योग, ज्ञानाश्रयी भक्ति आदि परम्परा की उपज थे, यद्यपि उन पर सूफ़ी मत का पुट कुछ चढ़ गया था। ये व्यक्तिवादी मस्त सन्त थे, राजनीति से इनको कोई मतलब न था। नव-जाग्रत वैष्णव-धर्म लोक-संग्रही था, जिसके उन्नायक इस युग में रामानन्द और तुलसीदास हुए। इन वैष्णव भक्तों की प्रपत्ति, दैन्य और दास्य भगवान् के सामने थे, जिसमें सभी ऐश्वर्यों की भावना पुञ्जीभूत होती है; मनुष्य के सामने (जिनमें मुगल-सम्राट् भी सम्मिलित थे) इन्होंने मस्तक नहीं नत किया। 'वीर-गाथा' और 'रासो' की अल्पता को वे समझते थे, क्योंकि

१. पूर्व-मध्य काल, प्रकरण १, पृ० ६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके पहले के राज-वंश और योद्धा भी व्यक्तिवादी थे, जिनकी शूरता के होते हुए भी देश का विशृङ्खलन और पतन हुआ। तुलसीदास तो अपने 'कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछुताना।' में स्पष्ट इस ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार 'कलपहिं पन्थ अनेक' में निर्गुणियों के ऊपर व्यंग्य है। उनकी 'रामायण' में भक्ति की प्रधानता होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय लोक-मर्यादा और लोक-संग्रह है। अन्याय के दमन और राम-राज्य की स्थापना के लिए सामूहिक चेतना, शौर्य, संगठन-शक्ति और नीतिमत्ता की आवश्यकता होती है, जिनकी प्रति-ध्वनि 'रामायण' में पद-पद पर मिलती है। महाराष्ट्र के सन्त समर्थ गुरु रामदास का 'दास बोध' तो राजनीतिक दृष्टि से पतित जाति को उठाने का अमोघ मन्त्र था। लोक-संग्रही विष्णु की कल्पना में उदासी और निराशा का कहीं नाम भी नहीं है। इस प्रकार सगुण-भक्ति-आन्दोलन का सम्बन्ध उस राजनीतिक प्रक्रिया से है जिसने भारत में मुगल-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। मध्य युग तक संसार की सबसे प्रबल भावना और प्रेरक-शक्ति धर्म था, वह राजनीति और साहित्य सभी को प्रभावित करता था।

सत्रहवीं शताब्दी के बाद से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक राजनीतिक परिस्थिति को हम मुगलों का ह्रास, नवाबी का उदय, हिन्दू-राजनीतिक शक्तियों का पुनरुत्थान और यूरोपीयों का आगमन कह सकते हैं। प्रथम दो राजनीतिक शक्तियाँ पतनोन्मुख थीं। उन्होंने अति भोग और विलासिता को जन्म दिया। उनके प्रभाव से साहित्य भी विलास की सामग्री बन गया। उसमें प्रेम, शृङ्गार और आमोद-प्रमोद की प्रधानता हुई। जीवन के राजनीतिक संकोच, धार्मिक शैथिल्य और भोग-विलास के आधिक्य ने रीति-काल की कविता को जन्म दिया। पुनरुत्थानी राजनीतिक वातावरण में वीर-रस की कविताएँ होती थीं, जो शृङ्गार की पूरक मानी जाती थीं। भारत में यूरोपीय जातियों ने अपनी अर्थ-नीति और कूट-नीति की प्रधानता के कारण अपने जीवन से काव्य को कोई प्रेरणा न दी।

समाज-संगठन का सैद्धान्तिक आधार अब भी वर्णाश्रम-व्यवस्था थी, जैसा कि इस काल में लिखित 'स्मृतियों' से प्रकट होता है; परन्तु वर्ण के रूप में कई दूर-व्यापी परिवर्तन हुए। एक तो अब वर्णों का उत्कर्ष अर्थात् निम्न वर्णों से उच्च वर्णों में जाने का मार्ग बन्द हो गया; अपकर्ष अर्थात् ऊपर से नीचे उतरने का मार्ग खुला रहा, यद्यपि इस प्रवृत्ति के भी कुछ अपवाद पाये जाते हैं। जाति ने वर्ण पर विजय प्राप्त कर ली। जाति-प्रथा का विस्तार और प्रसार बहुत जोरों से होने लगा। वैश्य वर्ण की बहुत-सी जातियाँ (जो कृषि, गो-रक्षा तथा शिल्पादि का काम करती थीं) जैन-वैष्णव-आचार के कारण और व्यवसाय में सत्यानृत (सच और झूठ) के भेद के कारण वैश्य-वर्ण से गिरकर शूद्रों में गिनी जाने लगीं। इसी प्रकार बहुत-से वर्ण-च्युत और जाति-च्युत लोग शूद्रों में शामिल होने लगे। परन्तु 'शूद्र' के अर्थ में भी परिवर्तन हुआ। अब शूद्र केवल पारिवारिक दास या खेतिहर श्रमिक नहीं था। वह कोई भी आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था कर सकता था; शूद्र शब्द का केवल लांछन-मात्र उसके ऊपर लग जाता था। अतिशूद्रों और अन्त्यजों की अवस्था कुछ भिन्न अवश्य थी। अभी वे समाज के छोर पर ही पड़े हुए थे और सवर्ण समाज उनके साथ वर्जनशीलता का व्यवहार करता था। इसी युग में वर्णों और जातियों की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटीं, कुछ व्यवसाय, कुछ आचार, कुछ सम्प्रदाय, कुछ अन्तर्जातीय विवाह, कुछ नई प्रथाओं को लेकर। इस काल की 'स्मृतियाँ' सामाजिक नियमों और उपनियमों का विस्तार के साथ विधान करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और समाज की प्रत्येक इकाई को उसकी सीमा के भीतर कसकर रखना चाहती हैं। भाष्यकारों और निबन्धकारों ने इस बन्धन को और भी दृढ़ किया। मुसलिम आक्रमण के बाद रक्षात्मक शुद्धि और वर्जनशीलता के कारण सामाजिक प्रतिबन्ध और भी कड़े होते गए तथा सामाजिक जीवन में वर्ग-वर्ग और व्यक्ति-व्यक्ति का भेद बढ़ता गया। परन्तु यह सारा भेद भारतीय समाज का आन्तरिक था। इसके ऊपर एक भारतीय सामाजिकता थी और उस समाज की एक केन्द्रीय कल्पना थी। ऊँच-नीच-भेद-भाव होते हुए भी उसके बहुसंख्यक सदस्य उसे स्वीकार करके चलते थे; जो उससे असन्तुष्ट थे वे उसकी आलोचना करके भी उसके बाहर नहीं जाते थे। इस्लाम के आने के बाद इस परिस्थिति में परिवर्तन हुआ। इस्लामी सामाजिक व्यवस्था भिन्न थी। उसमें विभिन्न जातिगत भावना होते हुए भी खान-पान, विवाह-शादी तथा पूजा-पाठ का भेद-भाव नहीं के बराबर था। हिन्दू-समाज के असन्तुष्ट व्यक्तियों के बाहर जाने का रास्ता इस्लाम ने खोल दिया, यद्यपि अधिकांश नवमुसलिम दबाव अथवा प्रलोभन से मुसलमान हुए थे। इसका फल यह हुआ कि सामाजिक नियमों की व्यक्तिगत अवहेलना और समालोचना पहले से अधिक बढ़ गई।

यद्यपि मीमांसक अथवा वैदिक-धर्म के अनुष्ठान तथा भोजन एवं विवाह आदि में नियमों की कठोरता थी, परन्तु अन्य सामाजिक कर्तव्यों पर वर्णगत अथवा जातिगत कोई बन्धन नहीं था। जिस सम्प्रदाय अथवा धार्मिक मत को कोई अपनाना चाहे उसको पूर्ण छूट थी। यह सामाजिक संकोच और धार्मिक स्वतन्त्रता इस युग में भारतीय जीवन के मुख्य अंग बन गए। भागवत धर्म ने सामाजिक बन्धन को कुछ ढीला किया, क्योंकि भगवान् के सामने सवर्ण-असवर्ण तथा आर्य और म्लेच्छ सभी बराबर थे। इसी प्रकार कई शैव सम्प्रदायों ने भी परम्परागत सामाजिक रूढ़ियों का परित्याग किया। सिद्धों, योगियों और अन्य ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी निर्गुणी धार्मिक सम्प्रदायों ने भी सामाजिक उदारता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। परन्तु इन सामाजिक स्वतन्त्रतावादी लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। इनमें प्रायः समाज के निम्न स्तर के लोग थे, यद्यपि इनके नेताओं में उच्च वर्ण के भी व्यक्ति थे। समाज का अधिकांश भाग सिद्धान्ततः स्मार्त अर्थात् स्मृतियों में विहित वर्णाश्रम-व्यवस्था को मानने वाला था। यही कारण है कि मध्य युग में तुलसीदास जी की 'रामायण' सामाजिक दृष्टि से सबसे अधिक प्रिय हुई, यद्यपि उसके ऊपर वैष्णव धर्म का गहरा पुट चढ़ा हुआ था।

हिन्दू-समाज में विवाह-संस्था बहुत प्राचीन और दृढ़ थी। किन्तु पूर्वमध्य-काल में युद्ध तथा विलास का वातावरण होने से गान्धर्व तथा राक्षस-विवाहों का ही अधिक वर्णन मिलता है। स्वयंवर की प्रथा क्षत्रियों में तब भी प्रचलित थी। 'नैषध' में दमयन्ती के स्वयंवर का वर्णन श्रीहर्ष ने संस्कृत में किया। 'पृथ्वीराज रासो' में संयुक्ता का स्वयंवर लोक-प्रसिद्ध हुआ। लोक में स्त्री के दो रूप थे—एक तो सामाजिक सम्बन्धों में कन्या, पत्नी तथा माता के रूप में और दूसरे शुद्ध स्त्री या यौन रूप में। प्रथम रूप में तो वह वात्सल्य, प्रेम तथा आदर की पात्र थी और दूसरे रूप में वह भोग और विलास की सामग्री। मानवी प्रेम और दैवी प्रेम दोनों में उसका स्थान ऊँचा था। वह प्रेम की प्रतीक और स्वयं प्रेम-रूपा थी। प्रेमाश्रयी कवियों ने इसी रूप में स्त्री का उपयोग किया था। जीवन में स्त्री निःस्वार्थ प्रेम, त्याग, तपस्या तथा कष्ट-सहन की प्रतिमूर्ति मानी जाती थी। तुलसीदास ने सीता के रूप में ऐसी ही स्त्री की रचना की। मुगल-साम्राज्य की विलासिता के बाद फिर पूर्वमध्य-काल की अवस्था समाज में लौट आई। शारीरिक प्रेम और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकर्षण की तृप्ति के लिए अनेक प्रकार की नायिकाओं की कल्पना की गई। नवाबों के जनानखाने तथा राजाओं के अन्तःपुर का जीवन कवियों के काव्य की सामग्री बन गया। प्रेम के भीतरी मनोवैज्ञानिक दाव-पेंच और बाहरी प्रसाधन सब वहीं से आते थे।

: २ :

मध्य युग में राजनीति और सामाजिक जीवन से साहित्य को जितनी प्रेरणा मिली-उससे कहीं अधिक प्रेरणा धर्म से मिली। इस युग की प्रधान धार्मिक भावना भक्ति थी, यद्यपि इस मुख्य धारा के अगल-बगल में दूसरी भावनाएँ भी काम कर रही थीं। देव, ईश्वर, जिन तथा बुद्ध आदि सभी ने भगवान् का रूप धारण किया और उनकी उपासना से ही संसार में ऋद्धि-सिद्धि मिल सकती थीं। इस समय पौराणिक धर्म तान्त्रिक रूप धारण करता जा रहा था। तांत्रिक धर्म की पूजा-पद्धति और उपासना में वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध एक-दूसरे के निकट आ रहे थे।

कुछ दार्शनिक वादों ने पुनरुत्थान का प्रयत्न किया, किन्तु वे विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों की दार्शनिक भूमिका और व्याख्या के रूप में ही प्रयुक्त हुए। उत्तर भारत में प्रभाकर और कुमारिल ने मीमांसक वैदिक कर्म-काण्ड को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इनमें से कुमारिल अधिक प्रभावशाली थे, जिन्होंने वैदिक कर्म-काण्ड को नवीन भक्ति-मार्ग और मूर्ति-पूजा का एक पूरक अंग बना दिया। इन्हींके प्रयत्न से विवेचन की मीमांसा-पद्धति तथा वैदिक-प्रामाण्य सिद्धान्त रूप से बहुसंख्यक जनता द्वारा स्वीकार किया गया। शंकराचार्य ने 'वेदान्त दर्शन' का पुनरुत्थान किया। एक ओर जहाँ इन्होंने 'उपनिषद्' के सिद्धान्तों की व्याख्या और विस्तार किया वहाँ दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन के महायान-सम्प्रदाय के कतिपय सिद्धान्तों को आत्मसात् किया। धार्मिक विचारों में शंकराचार्य शाक्त थे और सम्प्रदाय में दक्षिण-मार्ग के प्रवर्तक। परम्परा के अनुसार वे वाममार्गी बौद्धों और शाक्तों के विरोधी थे।

पौराणिक धर्म इस काल में भी वर्तमान था और धीरे-धीरे वह साम्प्रदायिक रूप धारण करता जा रहा था। 'गरुड' और 'अग्नि-पुराण' स्मार्त धर्म के पोषक थे, यद्यपि भागवत लोग भी इनका उपयोग करते थे। वैष्णव-सम्प्रदाय से इनका विशेष सम्बन्ध था, किन्तु आगमों, तन्त्रों और संहिताओं में वर्णित शाक्त-धर्म का प्रभाव इन पर जान पड़ता है। 'नारद', 'वराह', 'वामन' तथा 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणों में वैष्णव-सम्प्रदाय की सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। 'शिव', 'लिङ्ग' और 'कूर्म' पुराणों में शैव-सम्प्रदाय के तत्त्व मुख्यतः पाये जाते हैं। इनमें बहुत-से तत्त्व तो लकुलीश-पाशुपत-सम्प्रदाय के हैं।

इसी युग में स्मार्त धर्म में एक समन्वयात्मक पद्धति का विकास हुआ। स्मार्तों ने पञ्च-देवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश) की पूजा साम्प्रदायिक आग्रह छोड़कर अपना ली। उत्तर भारत में यह पूजा-पद्धति बहुत ही लोकप्रिय थी। इसका परिणाम यह हुआ कि पञ्चदेव तो उपलक्षण-मात्र बन गए। वास्तव में वैदिकमार्गी जनता ने सम्पूर्ण देव-मण्डल को बिना किसी भेद-भाव के स्वीकार कर लिया। पञ्चदेवों की मान्यता और प्राचीनता सिद्ध करने के लिए पाँच उपनिषद् लिखे गए हैं, जिनका संयुक्त नाम 'अथर्वशिरस्-उपनिषद्' है। कुमारिल के 'मीमांसा'-मार्ग और शंकर के 'वेदान्त' से पञ्चदेवोपासक स्मार्त-धर्म का पूर्ण मेल हो गया। कुमारिल के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED

देवता सत्य थे; शंकर के लिए देवता मायिक जगत् में रहने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से असत्य थे, परन्तु उनके मूल में रहने वाला ब्रह्म सत्य था। इस प्रकार स्मार्त, मीमांसा और वेदान्त का सुन्दर समन्वय बन गया। रामानुज, रामानन्द तथा गोस्वामी तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की कृतियों में धर्म का यही रूप स्वीकृत किया गया था।

वैष्णव धर्म के भागवत और पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय तथा उसके साहित्य का विकास भी इस काल में दृष्टिगोचर होता है। भागवतों ने पञ्चदेवोपासक स्मार्त धर्म को स्वीकार किया, यद्यपि उन्होंने शिव और विष्णु की अभिन्नता पर अधिक जोर दिया और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए 'स्कन्दोपनिषद्' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये वैदिक पूजा-पद्धति की परम्परा के बहुत निकट थे। इनकी पूजा-पद्धति का पता 'वैखानस-संहिता' से लगता है। इसके विपरीत पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय वाले स्मार्त-पूजा-पद्धति के बहुत भक्त नहीं थे। पाञ्चरात्र-संहिताएँ काश्मीर, कर्नाटक और तमिलनाड आदि प्रदेशों में पाई जाती हैं, जो लगभग ६०० तथा ८०० ई० के बीच में लिखी गई थीं। संहिताओं की संख्या परम्परागत १०८, किन्तु वास्तव में इससे कहीं अधिक है। इनमें से 'अगस्त्य', 'नृसिंह','दत्तात्रेय', 'गणेश', 'सौर', 'ईश्वर','उपेन्द्र' तथा 'बृहद् ब्रह्म' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से कई उत्तर भारत में लिखी गई थीं। इन संहिताओं में जो एक विशेष बात दिखाई पड़ती है, वह है वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत शाक्त-सिद्धान्तों का समावेश। इनके प्रतिपाद्य विषय हैं—(१) ज्ञान पाद (दार्शनिक धर्म-विज्ञान), (२) योग पाद (योग-शिक्षा तथा पद्धति), (३) क्रियापाद (मन्दिर तथा मूर्ति-निर्माण) और (४) चर्या पाद (पूजा-पद्धति)। इस सम्प्रदाय का धर्म-विज्ञान बहुत-कुछ 'महाभारत' के नारायणीय आख्यान के ऊपर अवलम्बित है और इसका दर्शन सेश्वर योग के ऊपर। इसका दर्शन और सृष्टि विज्ञान पञ्च-व्यूहों (१. वासुदेव, २. संकर्षण, ३. प्रद्युम्न, ४. अनिरुद्ध तथा ५. ब्रह्मा) में व्यक्त किया जाता है; जो 'सांख्य दर्शन' से मिलता-जुलता है। मानव-शरीर में गुह्य शक्तियों के चक्रों का वर्णन तथा योग-साधना और सिद्धियों का विवरण भी शाक्तों की भाँति पाञ्चरात्र-संहिताओं में मिलते हैं। इसी प्रकार मन्त्र और यन्त्र भी पाए जाते हैं। इनके महा मन्त्र हैं: (१) **'ओम नमो भगवते वासुदेवाय'** और (२) **'ओम नमो नारायणाय।'** इनमें से प्रथम भागवतों और द्वितीय श्री वैष्णवों में प्रचलित है। इन संहिताओं में वाममार्गी तत्त्वों का पूर्णतः अभाव है। इसकी पूजा-पद्धति अन्त्यजों को छोड़कर सभी के लिए उन्मुक्त थी। पीछे अन्त्यजों के लिए भी इस पंथ का द्वार खुल गया। यह पाञ्चरात्र धर्म महा-भारत-काल के बाद सुदूर दक्षिण में सात्वतों के द्वारा पहुँचा था और मध्य युग के आरम्भ में प्रथमतः तमिल-प्रदेश के आलवार सन्तों में पाया जाता है। 'नारायण' तथा 'आत्मबोध उपनिषद्' श्री वैष्णवों में प्रचलित थे। 'नृसिंहतापनीय उपनिषद्' से मालूम होता है कि नृसिंहावतार की पूजा भी वैष्णवों में प्रचलित थी। रामायत-सम्प्रदाय का उदय भी इसी काल में हो गया था। 'वाल्मीकि रामायण' के छठे काण्ड में राम के ईश्वरत्व और उसके उपासकों का वर्णन मिलता है, किन्तु एक संगठित सम्प्रदाय के रूप में इसके अस्तित्व का पुराना प्रमाण कोई नहीं पाया जाता। परन्तु 'रामपूर्व तापनीय उपनिषद्' से स्पष्ट है कि आठवीं-नवीं शताब्दी तक रामायत-वैष्णव-सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गया था। 'अगस्त्य सुतीक्ष्ण संहिता' इस सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ था। इसका महामन्त्र **'रामं रामाय नमः'** था।

वैष्णव सम्प्रदाय के प्रायः समानान्तर शैव सम्प्रदाय का विस्तार और विकास हुआ। शैव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदाय के पाशुपत और आगमिक दो मुख्य विभाग थे। पाशुपतों के अन्तर्गत शुद्ध पाशुपत, लकुलीश पाशुपत, कापालिक और नाथों की गणना थी। आगमिक में संस्कृत शैव सिद्धान्त, तमिल शैव, काश्मीर शैव तथा वीर शैव सम्मिलित थे। वैशेषिक सूत्रों के भाष्यकार प्रशस्त पाद तथा न्याय भाष्य के लेखक उद्योत्कर प्रसिद्ध पाशुपताचार्य थे। बाण ने अपने 'हर्ष चरित' में दिवाकर मित्र के आश्रम का वर्णन तथा अन्य स्थानों में पाशुपतों का उत्तर भारत में स्पष्ट उल्लेख किया है। लकुलीश सम्प्रदाय के केन्द्र गुजरात और राजस्थान में पाये जाते थे। 'लिङ्ग' और 'कूर्म' पुराण में इसका साहित्य मिलता है। गुजरात के झारपटन नामक स्थान में सातवीं शती की बनी हुई लकुलीश की मूर्ति मिली है। कापालिकों का सम्प्रदाय लोकप्रिय और संगठित नहीं था। उत्तर भारत में इनके अस्तित्व का उल्लेख भवभूति के 'मालती-माधव' नामक नाटक में पाया जाता है। नाथ-पन्थ केवल गर्भावस्था में इस काल में पाया जाता था। आगमिकों के शैव और रौद्र दो विभाग थे। परम्परा के अनुसार इनकी अट्ठाइस संहिताएँ थीं। इनमें 'शिव सूत्र' और 'मृगेन्द्र आगम' प्रसिद्ध थे। संक्षेप में शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्त इस प्रकार थे—शिव पशुपति हैं, जो सम्पूर्ण जीव-जगत् स्वामी हैं। मनुष्य पशु है, जिसका शरीर जड़ किन्तु आत्मा चेतन है। उसके भीतर सर्व-व्यापी चिच्छक्ति का केन्द्र है। वह पाश से बद्ध है। पाश तीन प्रकार का होता है : (१) आणव (अज्ञान), (२) कर्म (क्रिया-फल) और माया (भौतिक जगत् का उपादान कारण)। शक्ति शिव के अनुग्रह से उद्बुद्ध होती है, जिससे पाश का कमशः नाश और मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्षावस्था में शिव और आत्मा में अभेद हो जाता है।

शैव और शाक्त सम्प्रदाय का घनिष्ठ सम्बन्ध था और शैव के साथ-साथ शाक्त का भी प्रचार हुआ। शाक्त धर्म के ऊपर बहुत-से तन्त्र-ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें से 'कुब्जिका मत तन्त्र', 'परमेश्वर मत तन्त्र' तथा 'महा कौलज्ञानविनिर्णय' आदि काफी पुराने हैं और 'निःश्वास तत्त्वसंहिता' एवं 'चण्डी शतक' आदि कुछ पीछे के। शिव की पत्नी दुर्गा इस सम्प्रदाय की केन्द्र है, यद्यपि अन्य देवियों से भी इसका सम्बन्ध है। क्योंकि शिव अपने शुद्ध रूप में निष्क्रिय हैं और शक्ति में ही क्रिया-शक्ति केन्द्रित है, अतः सृष्टि के सारे कार्य शिव की कृपा और मोक्ष आदि उसी (शक्ति) के द्वारा संभव होते हैं। इस प्रकार शक्ति का महत्त्व शिव से भी अधिक है। शक्ति के बिना शिव केवल शव-तुल्य है। पूजा की दृष्टि से शक्ति शिव-ब्रह्म से भी अधिक पूजनीया है। शाक्त सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त 'सांख्य' तथा 'वेदान्त' से लिये गए हैं। इसमें 'योग' का विशिष्ट स्थान है। शक्ति अनादि तथा सनातन 'शब्द' हैं; नाद, विन्दु और बीज उसकी गतियाँ हैं, जिनके द्वारा वह अभिव्यक्त होती है। इस सम्प्रदाय में मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा, मण्डल और चक्र का व्यापक और कभी-कभी घोर उपयोग होता था। इसमें वाम मार्ग के तत्त्व काफी थे। मध्य युग में सौर और गाणपत्य सम्प्रदाय भी अस्तित्व में थे, किन्तु उनका प्रचार बहुत सीमित था।

बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय उत्तर भारत में अभी जीवित था। सर्वास्तिवादी 'विनय' और 'अभिधम्म' के अनुवाद चीनी और तिब्बती भाषा में इसी समय हुए। परन्तु धीरे-धीरे महायान ने इसको आक्रान्त कर लिया और स्वयं-स्वातंत्र्यवादी और परम्परा-विरोधी होने के कारण वाम-मार्गी प्रभावों से अभिभूत हो गया। महायान सम्प्रदाय में क्रान्तिकारी और विनाशकारी परिवर्तन शाक्त तत्त्वों के प्रवेश कर जाने से हुआ। इसी प्रभाव से बौद्धधर्म का तांत्रिक रूप बना। तन्त्रों के अनुसार प्रत्येक बुद्ध की एक शक्ति—पत्नी—होती है, जिस प्रकार शाक्त सम्प्रदाय में शिव की शक्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस केन्द्रीय तत्त्व ने महायान को गुह्य रूप दिया। शाक्त सम्प्रदाय की तरह इसमें भी मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा, आसन, चक्र, मण्डल, स्त्री, मदिरा तथा मांस आदि वाममार्गी पद्धतियों का खुलकर विचार हुआ। बौद्धों का वज्रयान तो किन्हीं अर्थों में शाक्तों से भी आगे निकल गया। वज्रयानियों ने इस वासनामूलक साधना का समर्थन भगवान् बुद्ध के गार्हस्थ्य जीवन से किया, जो उनके विचार में, सम्बोधि और निर्वाण के लिए आवश्यक था। अन्तर केवल इतना ही था कि भगवान् बुद्ध ने भोग के बाद संसार से विरक्त होकर सम्बोधि और निर्वाण प्राप्त किया; वज्रयानियों ने संसार-त्याग के बाद भोगपरक साधना की; और उनमें से अधिकांश इसी भयंकर साधना में विनष्ट हो गए। कौन कह सकता है कि उन्हें सिद्धि मिली ? इस सम्प्रदाय के आचार्यों में वज्रबोधि और अमोघवज्र प्रसिद्ध थे। बौद्ध धर्म वैदिक परम्परा का विरोधी था। जब उसमें पुनरावर्तन की प्रवृत्ति हुई तो दर्शनों में ईश्वर को मायिक और नश्वर समझने वाला वेदान्त उसको पसन्द आया और पूजा-पद्धति में दक्षिण मार्ग के बदले परम्परा-विरोधी वाम मार्ग। परन्तु आस्तिक शाक्त वाम मार्ग में जो शिव और शक्ति का नियन्त्रण था वह अनीश्वरवादी वज्रयान में नहीं। इसीलिए वज्रयान में स्वतन्त्र और अत्यन्त घोर वासनाओं का ताण्डव हुआ, जो शाक्तों में भी नहीं हो पाया था। इससे बौद्ध धर्म क्रमशः अप्रिय और विनष्ट हुआ।

जैन धर्म ने अपने कठोर आचरण से अपने शुद्ध स्वरूप को बचा लिया। शाक्त-आन्दोलन के प्रभाव से इसने अपने देव-मण्डल में देवियों को स्थान दिया, जो साहित्य और मूर्ति-कला में चित्रित पाई जाती हैं। परन्तु पूजा-पद्धति में उसने दक्षिण मार्ग को अपनाया और गुह्य क्रिया-कलापों से अपने को मुक्त रखा। जैन यति-मुनियों ने न्याय के उच्च कोटि के ग्रन्थों का निर्माण किया। हिन्दी की दृष्टि से उनका एक काम बहुत महत्त्व का था। उन्होंने प्राकृत-ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो आगे चलकर हिन्दी के लिए भाषा और साहित्य का मार्ग बना। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मानुतुङ्ग, हरिभद्र और शीलाङ्क आदि ने कई उत्तम न्याय-ग्रन्थ रचे। प्राकृत में बहुत-से लोकप्रिय ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें से जयवल्लभ का 'वज्जालग्गा', हरिभद्र का 'समरैच्छकहा' तथा सिद्धर्षि का 'उपमितिभवप्रपञ्चक' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हुए। कन्नड़ तथा तमिल आदि भाषाओं में इस सम्प्रदाय ने बहुत-से ग्रन्थों की रचना की। समन्तभद्र और उपास्वाति आदि ने संस्कृत में लिखा। रविकीर्ति ने कन्नड़ में 'जिनकथे' नामक ग्रन्थ लिखा। दिगम्बर पुराणों में रविषेण का 'पद्म-पुराण' तथा जिनसेन का 'हरिवंश' प्रसिद्ध था। ये पुराण हिन्दू पुराणों के अनुकरण पर लिखे गए।

वैष्णव साहित्य की दसवीं शती से प्रभूत वृद्धि हुई। मुख्य वैष्णव-ग्रन्थ 'रामायण' तथा 'महाभारत' के प्रादेशिक भाषाओं में कई भाषान्तर प्रकट हुए। भागवत धर्म के 'भागवत पुराण' ने न केवल भक्ति-मार्ग को उत्क्रान्त किया, किन्तु परवर्ती प्रादेशिक भाषा-साहित्य को भी कथावस्तु और भावना के द्वारा अनुप्राणित और परिवर्द्धित किया। भागवतों का सर्वमान्य ग्रन्थ 'भागवत' ही है। परन्तु साम्प्रदायिक ग्रन्थों में 'नारद भक्ति सूत्र' और 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' भी लिखे गए, जो 'भागवत' से अनुप्राणित थे। 'गोपीचन्दन' और 'वासुदेव' उपनिषद् भी इस समय में लिखे गए। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में बोपदेव ने 'भागवत पुराण' के आधार पर 'हरिलीला' और 'मुक्ताफल' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। महाराष्ट्र के भागवतों में ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वर हुए, जिन्होंने 'भगवत्-गीता' पर ज्ञानेश्वरी नामक टीका मराठी में लिखी। उन्होंने 'हरिपाठ' तथा 'अमृतानुभव' नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की। ज्ञानेश्वर अद्वैतवादी थे, परन्तु उनकी साधना में योग का पूरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुट था। वे नाथ-पंथी परम्परा में गोरखनाथ के शिष्य गणिनाथ के शिष्य निवृत्तिनाथ के शिष्य थे। यहाँ पर शैव-योग-भागवत-तत्त्वों का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है। भागवत-परम्परा में ही बारहवीं शताब्दी के अन्त में मध्वाचार्य हुए। ये द्वैतवादी थे। इन्होंने 'वेदान्त सूत्र' पर भाष्य और अनुव्याख्यान लिखे। इन ग्रन्थों में शांकर वेदान्त (अद्वैत) और रामानुज के विशिष्टाद्वैत से इनका भेद स्पष्ट प्रकट होता है। अभी तक भागवत-साहित्य में राधा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। 'भागवत पुराण' में राधा का उल्लेख नहीं है। सबसे पहले 'गोपाल तापिनी' उपनिषद् में राधा का वर्णन मिलता है। किन्तु इसकी तिथि निश्चित नहीं है। प्रारम्भिक सम्प्रदायों में विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क के अनुयायियों ने राधा को स्वीकार किया। विष्णु स्वामी दाक्षिणात्य और द्वैतवादी थे। इन्होंने 'गीता', 'वेदान्त सूत्र' और 'भागवत' पर भाष्य लिखा। निम्बार्क तेलुगू प्रदेश में उत्पन्न हुए थे, किन्तु वृन्दावन में आकर बस गए। इनका दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेद था। राधा के स्वरूप के विस्तार में इनका बहुत बड़ा हाथ था।

वैष्णव धर्म के पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में भी कई उपसम्प्रदायों का काफी विकास हुआ। आलवार सन्तों के भाव विभोर कीर्तन तथा तमिल भाषा के प्रयोग ने न केवल तमिल प्रदेश में श्री वैष्णव सम्प्रदाय को जनता तक पहुँचाया, अपितु दूसरे प्रदेशों में इस प्रकार के आन्दोलनों को अनुप्राणित किया। श्री वैष्णवाचार्यों में नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र, यमुनाचार्य तथा रामानुज आदि प्रसिद्ध हुए। रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी थे और इन्होंने शंकर के अद्वैत और भाष्कराचार्य के भेदाभेद का बड़ी युक्ति से खण्डन किया। रामानुज के अनुसार मोक्षार्थी भक्त को आजीवन अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए। भक्ति के लिए कर्म और ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं; उनका परस्पर विरोध नहीं है। रामानुज के इस सिद्धान्त को 'समुच्चयवाद' कहते हैं। उत्तर भारत के रामानन्द और तुलसीदास दोनों ही इस सिद्धान्त से अत्यन्त प्रभावित थे। मीमांसा तथा स्मार्त धर्म का पालन इस सम्प्रदाय के लिए आवश्यक था।

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अतिरिक्त एक दूसरा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय मानभाव था। यह पंथ स्मार्त-आचार-विरोधी और साम्प्रदायिक था। यह केवल कृष्ण की आराधना करता था और मूर्ति के स्थान पर उनका प्रतीक धारण करता था। खान-पान में इसके मानने वाले छूत-छात का विचार नहीं करते थे। इसमें मृतकों को समाधि दी जाती थी। इस सम्प्रदाय वाले दत्तात्रेय को अपना प्रवर्त्तक मानते हैं। इसका प्रचार महाराष्ट्र तथा कन्नड़-प्रदेश में अधिक था। नरसिंह-सम्प्रदाय का प्रचार तेलुगू-प्रदेश में था। 'नरसिंह संहिता' इसका मुख्य ग्रन्थ था। 'नरसिंह उपपुराण' का रूपान्तर तेलुगू-भाषा में १३०० के लगभग हुआ।

रामायत सम्प्रदाय में इस समय थोड़ी प्रतिगामी शक्तियाँ प्रवेश कर गईं। 'अध्यात्म रामायण' में राम की कथा बिलकुल नये ढंग से और आध्यात्मिक रूप से कही गई। इसमें अद्वैत, वेदान्त और शाक्त तत्त्वों का भी समावेश किया गया। इसमें राम मायामनुष्य और सीता मायाच्छिन्न चिच्छक्ति थी। इसमें समुच्चयवाद के स्थान में पूर्ण नैष्कर्म का उपदेश दिया गया। इस 'रामायण' पर 'भागवत' की छाप थी और यह अपने पूर्ववर्ती 'अगस्त्य संहिता', कन्नड़ 'पम्पा रामायण', 'योग वाशिष्ठ' तथा 'अद्भुत' और 'भुशुण्डि रामायण' से प्रभावित था। यह सम्प्रदाय भी पहले तमिल-प्रदेश में उत्पन्न हुआ, जो क्रमशः उत्तर भारत में पहुँचा।

वैष्णव सम्प्रदाय की तरह शैव सम्प्रदाय भी अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकसित होते रहे। इनमें से पाशुपतों का उल्लेख पहले किया जाता है। पन्द्रहवीं शती के एक प्रसिद्ध भाष्यकार अद्वैतानन्द ने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मविद्याभरण' में इस सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्तों की रूपरेखा इस प्रकार दी है—(१) पति, विश्व के मूल कारण शिव, (२) पशु, मनुष्य और प्रकृति, (३) योग, (४) विधि (पूजा-पद्धति) और (५) दुःखान्त (मोक्ष)। इस सम्प्रदाय का मुख्य मार्ग था। वे हास, नृत्य, गान, चिल्लाहट, निद्रा, रोग, पागलपन में अपने को विभोर रखते थे। लकुलीश सम्प्रदाय पाशुपत की ही एक शाखा था। दोनों के सिद्धान्त एक थे। केवल विधि में कुछ अन्तर था। लकुलीश सम्प्रदाय के साधु भस्म के बदले बालुका में लेटते थे। गुजरात, राजस्थान तथा मैसूर में इसका प्रचार था। कापालिक सम्प्रदाय कभी बड़े पैमाने पर देश में फैला नहीं, किन्तु 'शंकर-दिग्विजय' नामक ग्रन्थ से मालूम होता है कि इसका अस्तित्व था। इसका दर्शन तो पाशुपत तथा शाक्त दर्शन के समान ही था, किन्तु इसकी साधना और पूजा-पद्धति बहुत घोर और अश्लील थी। नर-बलि, सुरा-पान तथा यौन-अत्याचार का इसमें काफी दौरा था। इसके साधक मुण्डमाला धारण करते और अलौकिक सिद्धियों के लिए यौगिक क्रियाएँ करते थे।

पाशुपत शैवों में नाथ-पन्थ इस समय काफी प्रसिद्ध हो रहा था, यद्यपि इसके अनुयायियों का कोई संघटित सम्प्रदाय नहीं था। यह सम्प्रदाय उत्तर भारत, पंजाब तथा राजस्थान आदि में प्रचलित था। तांत्रिक हिन्दू और तांत्रिक बौद्ध दोनों इसका आदर करते थे। पहले इसका सम्बन्ध कापालिकों से था, परन्तु धीरे-धीरे इसने उनके घोर आचरणों का परित्याग किया। गोरखनाथ इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त थे जिन्होंने नाथ पन्थ को कापालिकों की भयंकर पूजा-पद्धति से मुक्त किया। ये यौगिक साधन में हठ योग के प्रवर्तक थे; जिसमें आसन, शोधन, प्राणायाम, ध्यान तथा मुद्रा आदि का प्रमुख स्थान है। दक्षिण में रसेश्वर और आगमिक शैवों के शैव सिद्धान्त और तमिल शैव आदि कई सम्प्रदाय थे। पश्चिमोत्तर भारत में काश्मीर शैव-सम्प्रदाय ने संस्कृत में उच्चकोटि के ग्रन्थ तैयार किये। कर्नाटक और महाराष्ट्र में वीरशैव सम्प्रदाय ने अपना अच्छा संघटन कर लिया। मानभाव वैष्णवों की तरह वीरशैव भी प्राचीन परम्परा के विरोधी, वर्णाश्रम तथा मूर्ति-पूजा को अनावश्यक समझने वाले तथा सामाजिक मामलों में स्वतन्त्रतावादी थे। ये शिवलिङ्ग को अपने शरीर पर वहन करते थे। शाक्तों में एक ओर तो अभी वाममार्गियों का जोर था, किन्तु दूसरी ओर वाममार्ग की प्रतिक्रिया में दक्षिण-मार्ग अपने को सँभाल रहा था। 'देवी भागवत' नामक उपपुराण में इस संस्कृत शाक्त-धर्म का पूरा विवरण मिलता है।

बौद्ध-धर्म अपनी मूल मानववादी और नीतिवादी प्रवृत्तियों को त्यागकर वज्रयान तथा चक्रयान की साधना में अपनी अन्तिम साँस ले रहा था। इस समय अनेक तांत्रिक ग्रन्थों की रचना हुई, शक्ति की भ्रान्त व्याख्या करके बुद्ध के नाम पर वीभत्स भ्रष्टाचार हुए, प्रत्येक बुद्ध (हेरुक) अपनी शक्ति (वज्रयोगिनी) के साथ प्रादुर्भूत होता है। इस रूपक से प्रत्येक साधक ने स्त्री-सम्भोग को ही साधना का एक-मात्र मार्ग बना लिया। बंगाल में इस बौद्ध-पन्थ को 'सहज' मार्ग कहते थे। परन्तु इस असामाजिक बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया भी इसके भीतर प्रारम्भ हुई। महायान ने मूल में जिस बोधिसत्व की कल्पना की थी उससे आस्तिक सर्वेश्वरवादी पन्थ का उदय हुआ। विज्ञानवाद के आलय विज्ञान का इसमें मुख्य हाथ था और शून्यवाद का पुट। इसके ऊपर अद्वैत वेदान्त के अनिर्वचनीयवाद तथा न्याय और शैव सिद्धान्त के ईश्वरवाद का प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट है। इस पन्थ ने 'आदि बुद्ध' की कल्पना की, जो सम्पूर्ण विश्व और प्रत्येक बुद्धों के मूल में है। वह स्वयं है। उसीसे ध्यानी बुद्ध, ध्यान-बोधिसत्त्व और मानुषी बुद्ध की उत्पत्ति होती है। बौद्ध धर्म अपनी जीर्णावस्था में बंगाल और बिहार में प्रायः केन्द्रित था। तांत्रिक कृत्यों के कारण लोक में इसकी अप्रियता, मुसलिम आक्रमण तथा इसके भक्तिमार्गी आस्तिक अंग के सामान्य जनता में विलय के कारण बौद्ध धर्म का साम्प्रदायिक रूप से भारत में अन्त हो गया।

जैन धर्म के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों ने तांत्रिक वाम मार्ग के प्रभाव से बचकर संस्कृत, प्राकृत तथा प्रादेशिक भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण किया। इस काल के सबसे बड़े श्वेताम्बर लेखक और शास्त्रकार सर्वज्ञ हेमचन्द्र थे, जो गुजरात की राजधानी अनीहिलयाटन में १०८६ से ११७२ ई० तक रहे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'योग-शास्त्र', 'वीतराग-स्तुति', 'त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित' और इसका परिशिष्ट 'पर्वन', 'महावीरचरित' आदि संस्कृत में थे। उन्होंने 'जैन रामायण' रामचरित की भी रचना की और 'वासुदेव हिण्ड' नामक ग्रन्थ, जो कथाओं का संग्रह है, प्राकृत में लिखा। इसके अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, अलंकार, रीति-शास्त्र, कोष तथा राजनीति आदि विविध विषयों पर शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करके उन्होंने तत्कालीन साहित्य का भण्डार भरा। दूसरे प्रसिद्ध लेखक अभयदेव, मलयगिरि, शान्तिसूरि, देवेन्द्रगणि, तिलकाचार्य, श्रीचन्द्रसूरि, शोभन और धनपाल आदि थे। इस काल के अन्त में प्रबन्धों और चरितों को सरल संस्कृत और भाषा में लिखकर जैन लेखकों ने एक नई परम्परा साहित्य में चलाई। जिसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर बहुत पड़ा। दिगम्बरों का कार्य-क्षेत्र धीरे-धीरे दक्षिण में खिसक गया। उनका साहित्यिक काम उतना नहीं हुआ जितना श्वेताम्बरों का, फिर भी उन्होंने समृद्ध और विविध साहित्य का सृजन किया। अमृतचन्द्र और बालचन्द्र इस युग के प्राचीन ग्रन्थों पर प्रसिद्ध भाष्यकार थे। कन्नड़ के प्रसिद्ध जैन कवियों में पम्प का नाम चिरस्मरणीय है। उन्होंने 'पम्पभारत' (विक्रमार्जुन विजय) तथा 'आदि पुराण' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में लिखे। अन्य कवियों में पोन्न, रण्ण तथा अभिनव पम्प उल्लेखनीय हैं। अभिनव पम्प का 'पम्प-रामायण' बहुत ही उच्चकोटि का और लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसकी रचना लगभग ११०० ई० में हुई थी। जैन तमिल-काव्य 'जीवक चिन्तामणि' भी उत्तम रचना है। इसके पूर्व ही सोमदेव ने 'यशस्तिलक' नामक कथा-ग्रन्थ अत्यन्त ललित संस्कृत में लिखा। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, योगीन्द्र आचार्य तथा चामुण्डराय आदि प्रसिद्ध दिगम्बर सम्प्रदाय के लेखक थे, जिन्होंने संस्कृत और प्रादेशिक भाषाओं में रचना की।

धार्मिक दृष्टि से जिस प्रकार भक्तिमार्गी महायान पर वेदान्त और अन्य आस्तिक दर्शनों और सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा उसी प्रकार जैन-श्वेताम्बर सम्प्रदाय पर भी। तीर्थङ्करों की कल्पना के मूल में सनातन ब्रह्म-जैसी सत्ता को जैनियों ने स्वीकार किया। पूजा-पद्धति और आचार में श्वेताम्बर और वैष्णव सम्प्रदाय एक-दूसरे के बहुत निकट आ गए। इसी समय उत्तर भारत पर मुसलिम आक्रमण प्रारम्भ हुए और उत्तर भारत का बचा-खुचा जैन-समाज छिन्न-भिन्न हो गया। उसकी प्रवृत्ति क्रमशः वैष्णव सम्प्रदाय में विलीन होने की हो गई।

: ३ :

उपर्युक्त विविध धार्मिक तथा दार्शनिक आन्दोलनों और उनके विशाल साहित्य से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दि ३७आ
029575

सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य प्रभावित था। इस्लामी आक्रमणों के बार-बार होने और इस्लाम धर्म के परिचय के बाद भी हिन्दू जनता और हिन्दी-साहित्य का अधिकांश अपनी पुरानी परम्परा और देशी धर्म और साहित्य से ही अनुप्राणन और सामग्री प्राप्त करता रहा। उपर्युक्त विशाल साहित्य का अधिकांश—धर्म-विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, शास्त्रीय ग्रन्थ, उच्चकोटि का शुद्ध साहित्य आदि—संस्कृत में लिखा गया था; धार्मिक उपदेश, नीति, जीवन-चरित्र, कथा-कहानियाँ आदि प्राकृत और प्रादेशिक भाषाओं में। क्योंकि हिन्दी लोक-भाषा थी, अतः उसने द्वितीय वर्ग के पूर्ववर्ती साहित्य से अपना सूत्र ग्रहण किया। हिन्दी-साहित्य का सारा प्रारम्भिक अपभ्रंश-साहित्य इसी प्रकार के साहित्य का क्रमशः संक्रमण या रूपान्तर है। धीरे-धीरे प्रादेशिक भाषा-गत लोक-साहित्य की वृद्धि और संस्कृत का ह्रास होता गया। इसका कारण यह है कि इस्लाम के आक्रमण से क्रमशः संस्कृत विद्यालय, पाठशालाएँ, मठ, विहार तथा सत्रादि नष्ट होते गए और वह बड़े पैमाने पर राज्याश्रय से वञ्चित रहे। परन्तु हिन्दुओं का लोक-जीवन कभी इस्लाम से परास्त नहीं हुआ। वह लोक-भाषा के माध्यम से खड़ा रहा और इस नये माध्यम का उसने परिष्कार और विस्तार किया। हिन्दी के आदिकाल अथवा वीर-गाथा-काल का साहित्य भी जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पूर्व मध्यकालीन प्रशस्त्यात्मक जीवन-चरित्रों के आधार पर नई परिस्थितियों में लिखा गया था। इस पर इस्लाम का कोई प्रभाव नहीं था; इस्लाम से उसका सम्पर्क इतना ही था कि वह उसके विरोध में लड़ने वाले वीरों की प्रशंसा में लिखा गया था।

हिन्दी-साहित्य के विकास का दूसरा चरण भक्ति-साहित्य का निर्माण था। इस भक्ति-साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ कहाँ से आईं, इसके सम्बन्ध में कुछ दिन पहले तक बहुत वाद-विवाद चलता रहा। डॉ० ग्रियर्सन के मतानुसार इसको प्रेरणा ईसाई धर्म से मिली, जो मद्रास-प्रदेश में ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में पहुँच चुका था। डॉ० ताराचन्द ने अपनी पुस्तक 'इनफ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि छठी-सातवीं शती में अरब के मल्लाह और व्यापारी मद्रास के समुद्र-तट पर पहुँच चुके थे और दक्षिण के वैष्णवाचार्यों को उन्होंने प्रभावित और प्रेरित किया। परन्तु जो लोग भारत के प्राचीन और मध्य-कालीन इतिहास से परिचित हैं वे इस बात को स्वीकार करेंगे कि कम-से-कम सात्वतो (महाभारत-कालीन) के समय से भावुक भक्ति की परम्परा अजस्र गति से भारत में चली आई है और देश और काल-क्रम से उसमें उत्कर्ष और अपकर्ष होता आया है। वास्तव में भक्ति, कीर्तन और गेय-काव्य की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। वह अधिक विकसित रूप में सात्वतों से संचालित होकर मथुरा, मध्य भारत, राजस्थान, अवन्ति, सुराष्ट्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक होते हुए द्रविड़ देश में पहुँची थी। मध्य युग के प्रारम्भ में जब उत्तर भारत पर अरब और तुर्क-आक्रमण होने लगे, उस समय अधिक अनुकूल और स्वस्थ वातावरण, सुदूर दक्षिण में, भावुक और प्रदर्शन-प्रधान भक्तिमार्ग का पुनः संघटन हुआ और इस्लामी अत्याचार का वेग उत्तर में कम हो जाने पर भक्ति-आन्दोलन दक्षिण से पुनः उत्तर भारत में आया। दक्षिणी भक्ति की प्रमुख धारा सगुणमार्गी थी। जहाँ तक निर्गुण भक्ति का प्रश्न है वह उत्तर भारत में कई सम्प्रदायों के रूप में थी। इस्लाम का इससे अधिक विरोधी भी नहीं था। इसीलिए यह पहले उत्तर भारत में मुसलिम शासन-काल में प्रकट होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सगुण भक्ति के आन्दोलन के पीछे भारतीय इतिहास का एक बड़ा रहस्य है। इसके पूर्व इस्लाम के आक्रमण के कारण हिन्दुओं का राजनीतिक पराभव हो चुका था। उनकी भाषा, धर्म और संस्कृति—सभी खतरे में थे। परन्तु किसी भी सभ्य और सुसंस्कृत जाति का पराभव स्थायी नहीं होता; उसके जीवन में पुनरावर्तन, पुनरुत्थान और नव-निर्माण अवश्यम्भावी है। इसके लिए प्रत्येक युग में अपने अनुकूल माध्यम होता है। मध्य युग में वह माध्यम धर्म था; वही प्रेरक शक्ति थी। विधि-विधानपरक कर्मकाण्ड से यह प्रेरणा नहीं मिल सकती थी और न हठयोगी, सिद्धिमार्गी सन्त ही लोक-संग्रह का मार्ग दिखा सकते थे। तान्त्रिकों, वाममार्गियों और सहजियों को समाज अश्लील और घृणित समझकर पीछे छोड़ चुका था। निर्गुणी भक्त भी 'घूँघट के पट खोल' कहकर अपने भीतर ही भगवान् को देखने की चेष्टा कर रहे थे; बाहर के दृश्यमान समाज और राष्ट्र से कोई उनको मतलब नहीं था। इसलिए जीवन के पुनरुद्धार के लिए किसी दूसरे मार्ग की आवश्यकता थी। वह मार्ग 'ईशोपनिषद्' अथवा विकसित रूप में 'महाभारत' में गीता के समय से आया हुआ 'समुच्चयवाद' था, जिसका पुनर्संघटन मध्य युग में रामानुजाचार्य ने किया। उत्तर भारत में रामानन्द ने इसका सूत्र पकड़ा और तुलसीदास ने उसका पूर्ण संघटन और प्रचार किया। इस समुच्चय में भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय था। परन्तु यह कर्म 'कर्मकाण्ड' के अर्थ में नहीं, अपितु 'लोक-संग्रही कर्म' के अर्थ में हुआ। तुलसी के विष्णु अथवा राम का विग्रह इन्हीं तत्त्वों से बना था; उनका भगवान् का सगुण रूप मानव—व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि में ओत-प्रोत था; उन्हींमें वे भगवान् को देखना चाहते थे; वे ही उनकी साधना के माध्यम थे। इस भक्ति-आन्दोलन ने युग-वाणी, युग-पुरुष और युग-धर्म जनता को दिया। इसके प्रभाव से जनता में आत्मचेतना और आत्मविश्वास आया और कई पुनरुत्थानमूलक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन प्रवर्तित हुए।

परन्तु सगुण-भक्ति से जहाँ ईश्वर का लोक-संग्रही और मर्यादावादी ऐश्वर्य जनता पर प्रकट हुआ वहाँ उसका माधुर्य भी लोगों तक पहुँचा। जो अधिक भावुक और कोमल स्वभाव वाले थे उनको कठोरव्रती धनुर्धर राम के बदले भागवत के लीलाप्रिय, गोपीजनवल्लभ, 'पुन्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां' कृष्ण का रूप अधिक पसन्द आया। अतः कृष्ण-भक्ति में इस रूप और मधुर भाव की उपासना की प्रधानता है। इसके लिए भी प्रेरणा पूर्व-मध्ययुगीन साहित्य से मिली थी। 'भागवत पुराण' इसका निर्झर था और जयदेव आदि कवि इसके उद्गाता। यह मधुर भाव और उससे प्रेरित साहित्य जहाँ सामन्तवादी और विलासी समाज से मिला वहाँ उसने रीति-काव्य और नायिका-भेद का रूप ग्रहण कर लिया। गोपीभाव तन्मयता और अनन्यता के बदले मानवी-विलासों और वासनाओं का माध्यम बन गया। इसका बहाव आधुनिक युग की सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्तियों से ही रुक सका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर रामरतन भटनागर

छायावादी काव्य-दृष्टि

छायावादी काव्य-दृष्टि को समझने के लिए हमारे पास तीन स्रोत हैं—स्वयं कवियों का अपनी काव्य-कला के सम्बन्ध में वक्तव्य; छायावाद के मान्य समीक्षकों की धारणाएँ तथा स्वतः काव्य। इन तीनों स्रोतों को परस्पर पूरक मानकर ही हम छायावादी काव्य-दृष्टि को सम्पूर्णता दे सकते हैं।

छायावादी कवियों में से 'प्रसाद', माखनलाल, पन्त, 'निराला', महादेवी और 'दिनकर' ने अपनी काव्य-प्रक्रिया और अपने काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विशदता से लिखा है। 'पल्लव' (१९२८) और 'परिमल' (१९३०) की भूमिकाओं से हमें पता चलता है कि छायावाद के आदि-प्रवर्त्तक किस प्रकार नई काव्य-भूमि की ओर उन्मुख हुए और वह किस सीमा तक प्राचीन काव्य-भूमियों के प्रति विद्रोह लेकर चले। छायावाद के कवि का सबसे बड़ा विद्रोह काव्यानुशासनों के प्रति था, जो कवि के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त भाव-प्रवाह में बाधक होते थे। उस समय तक काव्य ही साहित्य का प्रतीक था। इसीसे निराला की यह उक्ति कि 'साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में दीख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है।'[1] बहुत सार्थक उक्ति थी। निराला के लिए काव्य की मुक्ति का अर्थ था छन्दों के अनुशासन से मुक्ति, और उनका मुक्त-काव्य इस मुक्ति का ही विजयी उद्घोष था। पिछले किसी भी युग में काव्य की ऐसी निर्बन्ध कल्पना सम्भव नहीं थी, जो कवि-चित्त की उन्मुक्तता को इतना बड़ा श्रेय देती। इसीलिए निराला का काव्य नये युग की विद्रोही काव्य-धारा का केन्द्र-बिन्दु है।

'पल्लव' की भूमिका में हमें नये (छायावादी) कवि का विद्रोह कुछ अधिक मुखर दिखलाई देता है। वह भक्ति-काव्य और रीति-काव्य के अन्तर्बाह्य के प्रति पूर्णरूपेण विद्रोही है। पन्त ने स्पष्ट कहा कि 'उस व्रज के वन में झाड़-झंकाड़, करील-बबूर भी बहुत हैं।'···'अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हींकी संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे रह गए; कुछ उसी में बह गए।'[2] रीति-काव्य के शृङ्गार-भाव में नये कवियों ने वासना की स्थूलता देखी और उन्होंने उसे देश के नैतिक स्वास्थ्य एवं कलात्मक अथवा भावात्मक विकास के लिए बाधा माना।[3] यही नहीं, रीतिकाल का कला पक्ष भी अपनी कृत्रिमता के कारण नये कवि को अमाननीय था।[4]

---

१. 'परिमल' की भूमिका, पृष्ठ १७।
२. वही, पृष्ठ १४; ७।
३. वही, पृष्ठ ९।
४. वही, पृष्ठ १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी काव्य-दृष्टि भक्ति-काव्य की स्थूल आध्यात्मिकता और रीति-काव्य की नायिका-भेद-विजड़ित रूप-सृष्टि का विरोध लेकर क्षेत्र में आई और काव्य के बाहिरंगों के विषय में वह एक स्वतन्त्र वृत्ति लेकर चली। भाव, भाषा और छन्दों के विषय में गतानुगत प्रयोग उसे अक्षम्य लगे। परवर्ती रीति-काव्य की अति-आलंकारिकता उसे स्पष्ट ही अग्राह्य थी। नये काव्य का आरम्भ एक नई भाषा (खड़ी बोली) को लेकर हो चुका था, परन्तु पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका समाप्त करते हुए ठीक ही कहा कि 'हम खड़ी बोली से अपरिचित है, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा; उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए। वे केवल नाम-मात्र हैं, उनमें हमें रूप-रस-गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन सेहमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला।'[1] इसमें सन्देह नहीं कि यद्यपि पन्त और निराला ने श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध के काव्य को अपना पथ-प्रदर्शक माना है, वे द्विवेदी युग के काव्य को काव्य-विकास के मार्ग में अवरोधक मानते थे। उनके लिए नया काव्य द्विवेदी युग के काव्य का ही विकास था—परन्तु द्विवेदीयुगीन काव्य की त्रुटियों से वे परिचित थे। उसमें कवि की आत्मा का आवेग नहीं था और रीतियुगीन परम्पराओं के विरोध में उसने शुष्क और नीरस गद्यात्मकता को ही काव्य मान लिया था। नई काव्य-दृष्टि ने इस विषम स्थिति को परखा और उसने एक बार फिर काव्य की रसात्मकता प्रतिष्ठापित करनी चाही, परन्तु उसका कहना था कि यह रसात्मकता भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की प्रथित भूमि पर न होकर नये युग की भाव-भूमि पर पल्लवित हो—नया काव्य नये युग के प्रतीकों पर आधारित हो और उसमें नये युग की सौन्दर्य-निष्ठा तथा स्वच्छन्दता प्रस्फुटित हो।

यह तो हुई विरोध और विध्वंस की बात। परन्तु छायावादी काव्य-दृष्टि में निर्माण के तत्त्व और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में केवल विध्वंस किसी काव्य-धारा को श्रेय नहीं देता, नये काव्य-तत्त्वों और नई काव्य-भूमियों की खोज ही नई काव्य-धाराओं को महत्त्व देती है।

छायावादी काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज कवि या कलाकार के स्वतन्त्र निजी व्यक्तित्व की खोज थी। समस्त प्राचीन काव्य निर्वैयक्तिक था, छायावाद नया भावोन्मेष लाया और इसके साथ ही उसने कवि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भी घोषणा की। कवि ने प्रथम बार "'मैं' शैली अपनाई।" उसने बहिर्जगत् को अपने रंग में रँगकर देखा और अपने अन्तर्जगत् की अन्यतम भावनाओं को वाणी दी। सभी छायावादी कवियों में व्यक्तित्व पर आग्रह मिलता है। प्रसाद की 'आँसू', पन्त की 'आँसू' और 'उच्छ्वास' और निराला की बीसियों कविताएँ कवि के व्यक्तित्व का विस्फोट-मात्र हैं। राष्ट्रीय कवियों के काव्य में उनकी राष्ट्रीय आत्मा ही काव्य के रूप में ढल गई है। बच्चन के काव्य में व्यक्ति के सुख-दुःख, उसकी आशा-निराशा, उसके उपचेतन के द्वन्द्व इतनी सूक्ष्मता से आलेखित हैं कि उनका कुछ भी पाठक से छिपा नहीं रह जाता। इसी प्रकार महादेवी का रहस्यवादी काव्य उनके अन्तरंग के रंगों में और भी चमत्कारक हो उठा है। कवि के व्यक्तित्व की यह अन्यतम स्वीकृति छायावाद की विशेषता है। माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा) के शब्दों में—'काग़ज़ों, दीवारों और पत्थरों पर तो सपने उतर आए हैं, उनकी आकृतियों और आकर्षणों ने वहाँ जन्म नहीं लिया। उनके जन्म-स्थल को यशोदा की

---

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ ४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोद तो है,—हमारी कसमसाहट का बोझ सँभालने वाली वह दृढ़ता, जिसकी सुलग से अनन्त जीवनों की एकत्र चिनगारियाँ एकान्त में उतर पड़ती हैं; और लोहे से या बालों से बनी कलम को हिला देने पर किसी जाति का उल्लास, विलास, वेदना और बलिदान बनकर वह कागज़, पत्थर या दीवारों पर उतर आती है।[1]" इस विज्ञप्ति में कवि या कलाकार के व्यक्तित्व को उसकी सृष्टि से अभिन्न माना गया है। कवि जीवन के प्रकटीकरण की भूख का अनुभव करता है—उसकी "निकम्मी घड़ियाँ कला के अस्तित्व का श्वासोच्छ्वास हैं।"[2] कदाचित् कवि-कलाकार के व्यक्तित्व की उससे ऊँची स्थापना नहीं हो सकती जितनी माखनलाल जी के इन शब्दों में कि कलाकार "अपने युग की स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान् की प्राणवान्, प्रेरक और कल्पक कूँची है।"[3]

यह दृष्टि काव्य को क्या समझती है, यह भी देखना आवश्यक है। यह सम्भव नहीं है कि सभी कवियों की काव्य-सम्बन्धी भावना एक-जैसी हो। अतः हमें विभिन्न कवियों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए सम्भाव्य समीकरण की ओर बढ़ना होगा। प्रसाद का कहना है कि "कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न!"[4] इस प्रकार कविता में संगीत और चित्र-कला की सीमाएँ मिल जाती हैं, यह उसका बाह्यांग है। उसका अन्तरंग इससे महत्त्वपूर्ण है। कविता बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् का सम्बन्ध कराती है। उसीके द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य आत्मनिष्ठ होकर पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि कविता की भूमि मुख्यतः आध्यात्मिक है। वह चेतना का विषय है। वह आत्मा की दीप्ति है। प्रसाद के अनुसार मनन-शक्ति, वाक्-शक्ति और मनन का सम्बन्ध वाक् से जोड़ने वाली सजीवता (प्राण-शक्ति) आत्मा की तीन मौलिक क्रियाएँ हैं। काव्य तीनों को सिमेटकर चलता है। मन के संकल्प और विकल्प दो रूप हैं। विकल्प द्वारा वह तर्क-वितर्क करता है। काव्य का मूल संकल्प है, विकल्प नहीं। वह तर्कवाद पर आश्रित नहीं है। एक जानना विकल्प द्वारा होता है और एक जानना संकल्प द्वारा। वैज्ञानिक विकल्प (विश्लेषण, तर्क और परीक्षा) द्वारा जानता है। कवि का जानना प्रत्यक्ष जानना है। इसीसे उसे द्रष्टा अथवा ऋषि कहा गया है। इस प्रकार काव्य प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। उसका आधार है मन की संकल्पात्मक अनुभूति। जिस कवि में यह संकल्पात्मक अनुभूति जितनी अधिक होगी उतना ही बड़ा कवि वह होगा।

आगे चलकर प्रसाद यह भी बताते हैं कि अभिव्यक्ति और अनुभूति काव्य के दो पक्ष हैं, परन्तु अभिव्यक्ति अनुभूति से एकदम अलग नहीं है। "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है, क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होता है।"[5] "जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने पूर्ण रूप में सफल हो सकी है।" इस

१. 'साहित्य देवता' (अंगुलियों की गिनती की पीढ़ी), पृष्ठ २०।
२. वही, पृष्ठ २३।
३. वही, पृष्ठ २६।
४. 'स्कन्द गुप्त' नाटक में मातृगुप्त, १, ३।
५. काव्य, कला और अन्य निबन्ध, पृष्ठ १६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार प्रसाद काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता मानते हैं। वे कौशलमय आकारों या प्रयोगों के समर्थक नहीं हैं। इस प्रकार छन्द, भाषा, शैली और अलंकार काव्य-शरीर बन जाते हैं और कवि की आत्मानुभूति उसकी आत्मा। संक्षेप में, प्रसाद कविता के स्वरूप को आध्यात्मिक मानते हैं। वे उसे बुद्धिवाद से किसी भी प्रकार सम्बन्धित करने के लिए तैयार नहीं हैं। वह अनुभूतिमयी कवि-प्रतिभा का परिणाम है। कवि अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को लेकर काव्य-वस्तु से साक्षात्कार करता है।

पन्त के अनुसार "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता है; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत में ही होता है।"[1] यह परिपूर्ण क्षण वे हैं जब कवि की भावुक प्रतिभा और कल्पना पूर्णोन्मेष पर होते हैं। इसीलिए कवि कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता है और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश समझता है।

निराला की 'कविता', 'कवि', 'स्मृति-चुम्बन', 'बनबेला'-जैसी कविताओं और अनेक गीतों में कविता-सम्बन्धी उनकी भावना विजड़ित है। उनका कवि जहाँ एक ओर निर्मम संसार के सहस्रों वार झेलता हुआ, अपने सुख से मुख मोड़कर अपने आत्म-दान से विश्व को उपकृत करता है, वहाँ दूसरी ओर वह कल्पना के अतीन्द्रिय लोक में विहार करने वाला और प्रकृति के महोल्लास का भावुक द्रष्टा है।

रामकुमार वर्मा के मत में "आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक में प्रकाशित हो उठना ही कविता है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है।"[2] वे छायावाद को हृदय की एक अनुभूति मानते हैं, जो भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश करके अनन्त जीवन के तत्त्व ग्रहण करती है। प्रसाद की भाँति रामकुमार भी छायावाद को आध्यात्मिक मानते हुए जीवन में दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब खोजते हैं।

माखनलाल काव्य को कवि के व्यक्तित्व का ही प्रसार मानते हैं। कवि-कर्म में कवि का व्यक्तित्व अनजाने ही उभर आता है। इस दृष्टिकोण से काव्य और कवि दो विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। स्वच्छन्दतावादी काव्य की यह बड़ी विशेषता है कि कवि और काव्य उसमें एकाकार हो जाते हैं। "कवि विषय का मोल-तोल नहीं कूतता, वह उसी समय लेखनी उठाता है जब अपनी वेदना को लिखने का भार उससे नहीं सँभलता।" इस प्रकार माखनलाल जी काव्य में भावुकता को प्रधानता देते हैं। वह छायावाद को भंगिमा-मात्र नहीं समझते। वह वेदान्त से भिन्न, उससे बड़ी वस्तु है।[3]

महादेवी ने छायावाद पर शास्त्रीय ढंग से विस्तारपूर्वक विचार किया है। वह कविता को परिभाषा में बाँधने में असमर्थता दिखाती हैं। परन्तु छायावाद के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ सुस्पष्ट हैं। वे उसे नये छन्द-बन्धों में सूक्ष्म-सौन्दर्यानुभूति का प्रकाशन मानती हैं। उनके अनुसार

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ १४।
२. 'आधुनिक कवि', पृष्ठ ५।
३. 'साहित्य देवता', पृष्ठ १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ, इसीलिए उसने इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये। छायावाद ने रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर हमें जागरूक किया। वह मध्य वर्ग का काव्य था, अतः उसकी सामाजिक कुण्ठाओं के कारण उसके भाव-जगत् में निराशा को भी स्थान मिला। महादेवी छायावाद को संश्लिष्ट आन्दोलन मानती हैं, जिसके अन्तर्गत अनेक 'वाद' (दृष्टिकोण)[१] हैं। छायावाद के अन्तर्गत दुःखवादी दृष्टिकोण की उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है।[२] उनका विचार है कि छायावाद का जन्म बहिर्गत सामाजिक असन्तोष के अन्तर्गत रूप में हुआ और इस विद्रोह के कारण उसे सामाजिकता का अधिकार ही नहीं मिल सका। फलतः उसने आकाश, तारे, फूल, निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ा और उसी सम्बन्ध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न किया।[३]

दिनकर का आलोचनात्मक दृष्टिकोण उस समय की चीज है जब वह 'छायावाद' से 'प्रगतिवाद' की ओर बढ़ चुके थे। इसीलिए वह सुन्दर को काव्य का प्रेय मानते हैं और उपयोगिता को उसका श्रेय, एवं दोनों के ग्रन्थि-बन्धन को सत्काव्य के लिए आवश्यक समझते हैं। फिर भी अन्य छायावादियों की तरह वह कवि-प्रतिभा को एक अनिर्वचनीय और ईश्वरीय विलक्षण तत्त्व कहते हैं, जिसका सन्तोषप्रद विश्लेषण अब तक नहीं हो सका।[४]

बच्चन कवि को विश्वजनीन शाश्वत भावों का चितेरा मानते हैं। उनके शब्दों में—"कवि का हृदय केवल कवि का हृदय नहीं है। उसकी हृदय-गोद में त्रिकाल और त्रिभुवन सोते रहते हैं, सृष्टि दुधमुँही बच्ची के समान क्रीड़ा करती है और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाता है। उसका हृदयांगण गगन के गान, समीरण के हास और सागर के रोदन से प्रतिध्वनित हुआ करता है। उसके हृदय-मन्दिर में जन्म-जीवन-मरण अविरल गति से नृत्य किया करते हैं।"[५]

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि सभी छायावादी कवि काव्य को एक असाधारण, लोकोत्तर एवं आध्यात्मिक सर्जन-प्रक्रिया के रूप में देखते हैं और उनके लिए कवि एक विशेष प्राणी है। कवि का अन्तरतम उनके लिए रहस्यमय है और काव्य-प्रक्रिया को वह अनिर्वचनीय मानकर मनुष्य के शेष कार्य-व्यापारों से उसे एकदम भिन्न मानते हैं। काव्य की यह आध्यात्मिक, लोकोत्तर, रहस्यमय व्याख्या कवि के व्यक्तित्व को देवत्व प्रदान कर देती है और इसीलिए काव्य-कौशल मात्र या सचेतन कार्य-व्यापार न रहकर अलौकिकता-मण्डित बन जाता है।

छायावाद के मान्य समीक्षकों में सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, गंगाप्रसाद पांडेय, शम्भूनाथसिंह, डॉ० सुधीन्द्र और डॉ० रामविलास शर्मा अग्रगण्य हैं। इलाचन्द्र जोशी एवं डॉ० देवराज प्रभृति अनेक विद्वानों ने भी इस काव्य-धारा के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा है। उनकी मान्यताओं पर भी हमें विचार करना होगा। ये मान्यताएँ बहुत बाद में आई हैं और महादेवी जी की यह शिकायत ठीक ही है कि छायावाद को तो शैशव

१. 'आधुनिक कवि', (भाग १) पृष्ठ १०, १४, १५, १६, १८ से।
२. 'रश्मि' की भूमिका।
३. 'दीप शिखा' भूमिका पृष्ठ १६।
४. 'मिट्टी की ओर', पृष्ठ १२५, १४७।
५. 'मधुशाला' (सम्बोधन) पृष्ठ १४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कोई सहृदय आलोचक ही नहीं मिल सका।

इन समीक्षकों में वाजपेयी जी पंडित रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता का विरोध करते हुए कहते हैं—"छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काल से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।"[1] डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी इस काव्य में परिपाटी-विहित और परम्परा-मुक्त रस-दृष्टि के स्थान पर कवि की आत्मानुभूत आवेग धारा और कल्पना का प्राधान्य देखते हैं। "कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग—ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक-दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं।"[2] शान्तिप्रिय द्विवेदी छायावाद में कवियों की बाह्य चेतना और अन्तश्चेतना का एकीकरण देखते हैं। यद्यपि उनका यह भी कहना है कि छायावाद के प्रमुख कवियों ने "बाह्य चेतना को तो गौण रूप में ग्रहण किया, अन्तश्चेतना को प्रमुख रूप में।"[3] वह छायावाद को हिन्दी-काव्य-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र उसमें स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह और नवजीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं का अन्तर्मुखी और वायवी सम्मिश्रण ढूँढते हैं और प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा भावोन्मेष की अभिव्यंजना को उसका कला पक्ष स्थिर करते हैं।[4] डॉ० रामविलास शर्मा का उनके इस दृष्टिकोण से मतभेद है। वे इस काव्य को चेतन मन की भूमि पर ही देखना चाहते हैं और उनके मत में उसमें जीवन की कुण्ठा नहीं, भविष्य की मंगलाशा ही अधिक पल्लवित हुई है।[5] डॉ० देवराज छायावाद के कड़े समीक्षक हैं और उनकी 'छायावाद का पतन' पुस्तक में हम उनके इसी रूप से परिचित होते हैं, परन्तु अन्य स्थानों पर उन्होंने इस काव्य की एकांगिता का ही अधिक विरोध किया है। उसमें उन्हें जीवन के केवल वैयक्तिक पक्षों की ही विवृत्ति मिलती है; सामाजिक, नैतिक और मानवीय सम्बन्धों की विवृत्ति शिथिल है। फलतः काव्य-भूमि का प्रसार अधिक नहीं है।[6]

यह स्पष्ट है कि छायावाद के सम्बन्ध में कवियों की भाँति आलोचकों की भी स्थापना एक नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस काव्य-धारा को उसके ऐतिहासिक परिपार्श्व में देखें और उसे अखण्डित इकाई न मानकर अनेक भाव-संवेदनाओं और काव्य-प्रक्रियाओं की संश्लिष्टि समझें। छायावादी काव्य का अन्तरंग प्राचीन काव्य-धारा की अपेक्षा अधिक व्यापक और सप्राण है। बहिरंग भी अन्तरंग में रँगकर नई वर्णच्छटाओं से विभूषित हो गया है। कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से बहिर्जगत् अन्तर्जगत् से समीकृत हो सका है और इसलिए यह सारा काव्य विषयी-प्रधान है। कवि के अपने चेतन-अचेतन, सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, हास-

१. 'जयशंकर प्रसाद' (१९४०)—भूमिका, पृष्ठ १२
२. 'रोमाण्टिक साहित्य' (देवराज उपाध्याय) की भूमिका, में पृष्ठ १
३. 'संचारिणी' (छायावाद का उत्कर्ष) पृष्ठ १७८, १७९
४. काव्य-चिन्तन, पृष्ठ ५३–५९
५. 'महादेवी वर्मा', (सं० शचीरानी गुर्टू,) पृष्ठ ३०१–३०५
६. 'साहित्य-चिन्ता' (छायावादी कवियों का कृतित्व), पृष्ठ १३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अश्रु ही कहीं अभिधा द्वारा, कहीं प्रतीक-भाषा द्वारा, कहीं लक्षणा द्वारा काव्य की रंग-रेखाओं में बँध गए हैं। निराला और बच्चन के काव्य में छायावादी काव्य की यह व्यक्ति-निष्ठा सबसे प्रमुख रूप में सामने आती है। परन्तु यहाँ हमें व्यक्तित्व के बहिरंग ही मिलते हैं। व्यक्तित्व की अन्तरंग-सृष्टि पन्त और महादेवी के काव्य में परिपूर्ण रूप से मिलती है।

यह काव्य स्थूल आध्यात्मिकता, वासनात्मक शृङ्गार और इतिवृत्तात्मक सुधार-भावना का विरोध करता है और पूर्ववर्ती काव्य की निर्वैयक्तिकता के समकक्ष कवि के व्यक्तित्व को उभार-कर रखता है। कवि का अन्तर्जगत् उसके बहिर्जगत् को भी नाना छवियों में रंग डालता है और हमें जो रूप-सृष्टि मिलती है, वह प्राकृतिक रूप-सृष्टि से भिन्न और विशिष्ट है। काव्य के अन्तरंग में बड़ा परिवर्तन हो गया है। मनुष्य की महान् महिमा का उद्घोष पहले-पहल इसी काव्य में हुआ है और मानवतावाद से प्रभावित होकर कवि ने दुःखों-उत्पीड़नों के विरोध में अपनी वाणी का उपयोग किया है। कवि का मानस बहिर्जगत् के द्वन्द्वों से समझौता नहीं करता और उसका उद्वेग अनेकानेक भाव-तरंगों और कल्प-विधानों में इतनी शक्ति से प्रवाहित होता है कि पाठक उस प्रवाह में बह जाता है। चित की यह उन्मुक्तता और कवि की यह संवेदनशीलता ही नये काव्य (छायावाद) को विशिष्ट रूप दे सकी है। प्रकृति, मानव, परोक्ष, अन्तस् का छाया-लोक, स्वप्न-कल्प और राष्ट्र-भाव कवि के मन में जिन सूक्ष्म संकल्प-विकल्प और भाव-समष्टियों का निर्माण कर सके हैं, वे ही छायावादी काव्य में निःप्रयास आलेखित हैं। छन्द, भाषा-शैली और अलंकार-विधान के क्षेत्र में कवि ने अपनी भावना के अनुरूप परिवर्तन किये हैं। जिस भावो-न्मुक्ति को उसने अपने काव्य के अन्तरंग में प्रतिष्ठित किया है, वही छन्दों में अतुकान्त, मुक्त-काव्य, विषम चरण-बन्ध आदि में नियोजित हुई है। भाषा-शैली के क्षेत्र में सभी कवि एक ही प्रकार से सजग नहीं हैं—एक ओर पन्त की तत्सम्बन्धी जागरूकता और सौन्दर्य-निष्ठा हमें मिलती है, तो दूसरी ओर माखनलाल और दिनकर की स्वच्छन्दता और कभी-कभी अराजकता भी मिलती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि अपनी भाव-सृष्टि के अनुरूप भाषा खोजने में लगा है और सब कहीं वह सफल ही हुआ है। अंग्रेजी रोमांटिक काव्य में भी वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स और स्विनबर्न में हम भाषा-शैली की यही विविधता देखते हैं। यही बात अलंकार-विधान के क्षेत्र में है। छायावादी कवियों ने निरालंकृत, भाव-संवलित मुक्त छन्द से लेकर अत्यन्त कला-त्मक, अलंकरण-प्रधान गीत-सृष्टि तक एक बड़ी काव्य-राशि हमें दी है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि के लिए अब काव्य वचन-भंगिमा या कौशल-मात्र नहीं है। वह अलंकारों में बँधना नहीं चाहता। उसकी कल्पना अलंकारों के इन्द्र-जाल को बेधकर मुक्त भाव-गगन में स्वच्छन्द विहार करती है। पन्त के सूक्ष्म भाव-कल्प से लेकर निराला के सुशृङ्खलित मूर्ति-विधान तक कल्पना का व्यापक विस्तार हमें छायावाद में मिलता है। संक्षेप में, छायावादी काव्य-दृष्टि व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, अनुशासन-विद्रोही, कल्पनाप्रिय और मूर्तचित्र-प्रधान है। परन्तु सम्पूर्णतः मानववादी होते हुए भी वह सामाजिक प्रक्रिया का स्पष्ट बोध न होने के कारण अस्पष्ट और रहस्यमयी ही रह गई है। फिर भी उसने अन्तस् के अजस्र स्रोतों को उन्मुक्त किया है और आधुनिक हिन्दी-काव्य को नई दिशाएँ दी हैं।

छायावादी काव्य-दृष्टि और उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी रोमांटिसिज़्म में मूल स्रोतों और उपादानों की विभिन्नता होते हुए भी बहुत बड़ा साम्य है। छायावाद की भाँति रोमांटि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिज़्म की व्याख्या भी अनेक प्रकार से हुई है। उसे बुद्धि के प्रति भावना का विद्रोह (आर्नल्ड), रुग्ण साहित्य (गेटे), अपरिकल्पित रूप से असन्तुलित (ह्यूगो), मध्य युग की पुनरावृत्ति (हेन), सौन्दर्य में अद्भुत का संयोग (वाल्टर पेटर), साहित्यिक अहं (ब्रुनेतेयर), बाह्यानुभूति से हटकर अनुभूति के आभ्यन्तरिक पक्ष पर बल देने वाला साहित्य (लेसेल एवर्क्राम्बी) कहा गया है। प्रो० लवज्वॉय ने यह स्पष्ट कहा है कि वास्तव में रोमांटिसिज़्म को एक निश्चित इकाई या अखण्डनीय वस्तु मानना एक गलत दृष्टिकोण है—यह शब्द ही भ्रामक है और इसमें अनेक काव्य-दृष्टियाँ समाहित हैं।[1] छायावाद के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण के अनुसार दोनों काव्य-धाराओं में समान रूप से कवि के अवचेतन मानस का चेतन मन के प्रति विद्रोह स्पष्ट रूप से आभासित है। इन धाराओं के कवि अपने मूर्त्त-विधान के लिए चेतन की अपेक्षा अवचेतन के ही अधिक आश्रित रहते हैं और वे वस्तु-जगत् से सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ होकर अन्ततः प्रकृति, कल्पनानिष्ठ सौन्दर्य, आदर्श राजतन्त्र आदि विषयों की ओर संक्रमित होते हैं।[2] यह एक प्रकार का पलायन ही है। साहित्य में यह भावस्थिति अधिक दिनों तक नहीं टिक पाती और वस्तु-जगत् के आग्रह से कवि एक बार फिर अतीन्द्रिय भाव-लोक से नीचे उतरकर जीवन के दैनन्दिक समतल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। उपचेतन का विस्फोट समाप्त हो जाता है और काव्य चेतन-मानस की बौद्धिक प्रक्रिया से समाविष्ट होकर नया रूप ग्रहण कर लेता है। समसामयिक प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य में यही बौद्धिक प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण हो उठी है।

१. A. O. Lovejoy—Essays in the History of Ideas (1948), P. 146.
२. F. L. Lucas—Literature & Psychology P. 99-100

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवराज उपाध्याय

उपन्यास-कला का आभ्यन्तरिक प्रयाण

यूरोप तथा अमरीका के औपन्यासिकों ने आधुनिक युग में अपनी रचनाओं में मानव-मन तथा मानव-जीवन में अनुरूपता लाने के लिए, कथा को भाषा में मनुष्य को समूर्त ला उपस्थित कर देने के लिए, उपन्यास को मनुष्य के आभ्यन्तरिक जगत् के सच्चे प्रतिनिधित्व की योग्यता तथा क्षमता से समन्वित करने के लिए भाँति-भाँति के प्रयोग किये हैं। उनकी प्रतिभा तथा रचना-कौशल के प्रभाव से उपन्यास का एक प्रकार से काया-कल्प ही हो गया है। उसकी वेश-भूषा, साज-सज्जा तथा बाह्य परिधान में ऐसा आमूल परिवर्तन हो गया है कि यदि १७वीं या १८वीं शताब्दी के उपन्यास का पाठक रिपवान विन्किल की भाँति सजग होकर आज के उपन्यासों के क्षेत्र में पदार्पण करे तो वह आश्चर्य-चकित-सा अपनी आँखें मलता रह जाय। आधुनिक काल के ऐसे अनेक औपन्यासिक हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। फ्रांस में आन्द्रे जीद एवं प्रुस्ट, इंगलिस्तान में जेम्स ज्वायस, विरजिनिया वुल्फ, जर्मनी में टोमस मैन तथा अमरीका में फॉकनर इत्यादि। इन लोगों को औपन्यासिकों का उपन्यासकार (novelist's novelist) कहा जाता है। कारण कि इनमें से अनेक ने अपने उपन्यासों के मध्य में अनेक ऐसे अवसर ढूँढ़ निकाले हैं जहाँ उन्हें अपनी कला का विवेचन करना पड़ता है और उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए यह बतलाना पड़ता है कि उपन्यासकारों के लिए किस मार्ग का अवलम्बन समीचीन होगा तथा पूर्व के उपन्यासकारों की कला में उनकी दृष्टि से क्या दोष थे? पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के द्वारा मानव-जीवन का समुचित प्रतिनिधित्व क्यों सम्भव नहीं हो सका है?

आधुनिक युग विशृङ्खलता तथा बिखराहट का है। कहीं भी कोई ऐसी विशिष्टता दृष्टि में नहीं आती जिस पर अँगुली रखकर निश्चय पूर्वक यह कहा जा सके कि यही वस्तु है जो सर्व-साधारण रूप में प्राप्त होती है, यही गुण है जो अपनी सर्वव्यापकता के कारण इसे अन्य युगों से पृथक् कर देता है। उपन्यासों के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। मालूम होता है कि इस युग की अराजकता, व्याकुलता और छितराहट को प्रतिनिधित्व में विश्वास नहीं। उसे अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार किसी को देना स्वीकरणीय नहीं। पर साथ ही यह भी उतना ही ठीक है कि इस अस्त-व्यस्तता और अनियमितता की तह में एक शृङ्खला है। अतः उपन्यास-साहित्य की इन तीन शताब्दियों की गति-विधि को समझने के लिए तथा भूत, वर्तमान तथा भविष्य की स्पष्ट झाँकी लेने के लिए भी एक प्रकार का श्रेणी-विन्यासीकरण, एक व्यापक सिद्धान्त का पृथक्करण, दूसरे शब्दों में सामान्यीकरण (generalisation) नितान्त आवश्यक है।

ऐसी अवस्था में यूरोपीय उपन्यासों के लगभग तीन शताब्दियों के इतिहास को तथा हिन्दी-साहित्य की एक शताब्दी के उपन्यास की गति-विधि को देखकर हम एक ही व्यापक तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वसाधारण तथ्य निकाल सकते हैं, जिसके सम्बन्ध में न्यूनातिन्यून मतभेद की सम्भावना हो सकती है। वह यह है कि कथा साहित्य की प्रवृत्ति सदा बाहर से भीतर की ओर पैठने की रही है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर रही है। इसका इतिहास बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने का इतिहास है। यूरोपीय कथा की बात ही छोड़ दीजिए। वहाँ तो कथा-साहित्य के मानव-मनोभूम्यन्तर्गत प्रयाण की प्रवृत्ति अतिचरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है और इसके कारण उपन्यासों में कल्पनातीत परिवर्तन हो गए हैं; वैसे परिवर्तन, जिनको देखकर चिन्तनशील आलोचक उसके भविष्य के बारे में सशंक हो उठे हैं। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का साधारण से साधारण पाठक भी इस बात से अपरिचित नहीं कि अब उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर केंद्रित नहीं कि उनके पात्र क्या करते हैं। वे इससे आगे बढ़कर इस बात को अपना लक्ष्य बना रहे हैं कि उनकी विचार-प्रक्रिया क्या है, वे क्या सोचते हैं और कैसे सोचते हैं। उनकी सूक्ष्म मूल प्रेरणा क्या है। यही एक राज-मार्ग है, अर्थात् मनोभूम्यन्तर्गभित्व का मार्ग; जिस पर उपन्यास नियमित रूप से प्रगति करता आया है। उपन्यास में उसके प्रचलित नियमों में, कन्वेंशन में, कथा सौष्ठव के निरन्तर ह्रास में, भाषा के लचीलेपन में, उपन्यासों की व्याख्यात्मकता में जो-कुछ भी परिवर्तन हो गया हो, इन सबका मूल कारण है उपन्यासों में निरन्तर प्रगतिशील आन्तरिकता की प्रवृत्ति। अंग्रेजी उपन्यास-साहित्य के सिंहावलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस आभ्यन्तर-प्रयाण-यात्रा में उसे तीन या चार युगों को पार करना पड़ा है। अर्थात् इस आन्तरिक प्रवृत्ति की माँग के कारण, इसके जबरदस्त तकाजे की वजह से उसे (उपन्यास-कला को) चार रूप धारण करने पड़े हैं।

प्रथम युग उन उपन्यासों का है, जिन्हें अंग्रेजी में 'पिकारेस्क' (picaresque) और 'ऐपीसोडिक' (episodic) उपन्यास कहते हैं। इनमें किसी व्यक्ति की साहसिकता से पूर्ण आश्चर्य-चकित कर देने वाली कथाओं की माला गुँथी हुई रहती है। ये कथाएँ एक प्रकार से अपने में स्वतन्त्र हैं, यदि इन्हें स्वतन्त्र रूप में भी देखा जाय तो इनके स्वरूप की हानि नहीं होगी। यदि इनमें थोड़ी सम्बद्धता का आभास मिलता है तो केवल इतना भर ही कि नायक को इन घटनाओं के मध्य से होकर गुजरना पड़ता है। उसके जीवन में वे घटनाएँ ही घटित हुई हैं, जिनसे उसका कुछ सम्बन्ध है। एलिजाबेथन युग के कथाकार टामस नाशे (१५६७-१६०१) तथा डिलोनी (१५४३-१६०७) के उपन्यास तथा १८वीं शताब्दी के डीफो और स्मौलेट इत्यादि इसी श्रेणी के उपन्यासों के निर्माता की श्रेणी में आयँगे। इन उपन्यासों में पात्रों में चरित्र-चित्रण का अभाव-सा है, उनमें उनकी मात्र बाह्य रूप-रेखा ही देखने में आती है। मानो वे ऐसे नर-कंकाल-मात्र हों जिनमें प्राणों का स्पन्दन नहीं। उनके क्रिया-कलापों का वर्णय अवश्य है, पर उस अनुचिन्तन के प्रति औपन्यासिक सर्वथा उदासीन है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए ये रूप धारण करते हैं। औपन्यासिकों की दृष्टि इस बाह्यात्मकता में इस प्रकार उलझी हुई है कि उन्हें अन्दर झाँकने की न तो चिन्ता ही है और न शक्ति ही। प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व तक हिन्दी में भी कुछ इसी से मिलती-जुलती अवस्था थी।

दूसरा युग 'प्लाट-नाबेल्स' (plot novels) का है अर्थात् ऐसे उपन्यासों का, जिनका कथा-भाग सुन्दर और सुसंगठित होने के साथ-साथ एक विशेष विचार और अनुभूति से प्रभावित हो। इनमें भी पात्रों की बाह्य क्रियाओं का उल्लेख अवश्य होता है, इनके पात्र भी संसार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगमंच पर अभिनय निरत अवश्य दिखलाये जाते हैं। पर अब औपन्यासिकों के दृष्टिकोण में एक परिवर्तन अवश्य परिलक्षित होने लगा है। वे बाह्य क्रिया-कलापों के साथ उनकी मूल अन्त-प्रेरणाओं को भी देखने लगे हैं। वे अब इतनी-सी बात कहकर ही सन्तोष नहीं कर लेते कि पात्रों ने 'क्या' किया, पर आगे बढ़कर यह भी बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि 'कैसे' किया और 'क्यों' किया। यदि मनोविज्ञान की शब्दावली में हम अपने विचार प्रकट करें तो हम यों कह सकते हैं कि 'प्लाट-नावेलिस्ट' का सम्बन्ध 'किम्' तक ही सीमित नहीं रहता, वह इतना ही बतलाकर रुक नहीं जाता कि पात्रों ने 'क्या' किया, पर 'कैसे' और 'क्यों' को भी बतलाता है अर्थात् यह बतलाता है कि बाह्य क्रियाएँ 'किस प्रकार' सम्पादित हुईं और 'क्यों' हुईं। इन उपन्यासकारों को हम मनोवैज्ञानिकों के रूप में देखने की कल्पना करें तो इतना ही कह सकते हैं कि प्रथम युग के उपन्यासकार रचनावादी (structuralist) हैं और दूसरे युग के उपन्यासकार प्रक्रियावादी (functionalist) हैं। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९वीं शताब्दी के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में इन तीनों को अपनी सीमा में समाहित करने वाले उपन्यासों की रचना हुई। यह रिचार्ड्सन और फिल्डिंग का युग था। इन लोगों की प्रतिभा के स्पर्श से 'प्लाट-नावेल' का रूप निखरकर सामने आया। जहाँ तक रूप-विन्यास, बाह्य संगठन और गृह-निर्माण का प्रश्न है इन उपन्यासों पर नाटकों का ऋण अधिक है और प्रथम श्रेणी के उपन्यासों पर महा प्रबन्ध-काव्य (Epic) का। रिचार्ड्सन ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'क्लारिसा' को नाटकीय वर्णन कहा है। हिन्दी में उपन्यास-कला के इस रूप का प्रतिनिधित्व प्रेमचन्द के उपन्यास में पाया जाता है।

इसके पश्चात् अंग्रेजी उपन्यास-कला का तीसरा चरण उठता है। इसमें द्वितीय युग के प्लाट-प्रधान उपन्यासों ने बाह्य क्रिया-कलापों को आन्तरिक कारणों से सम्बद्ध करके देखा है और इस प्रकार उनमें मानव-मानसिकता का अंश अधिक आ सका है; पर फिर भी उनमें आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व का दर्शन नहीं हो सका। प्रथम युग के पात्र व्यक्ति न होकर जाति (type) होकर ही रह गए। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का कुछ अंश आया अवश्य। द्वितीय युग के उपन्यासों को अवश्य चरित्र-प्रधान उपन्यास कहा जा सकता है, पर इसी सीमित अर्थ में कि इस वैविध्यपूर्ण मानव की अनेकरूपता में से कुछेक विशेषताओं को चुनकर पात्रों के व्यक्तित्व में उन्हींकी क्रियाएँ दिखलाई जाती थीं और उनसे विपरीत पड़ने वाले जितने गुण थे उनको निर्ममतापूर्वक उखाड़कर फेंक दिया जाता था। इन उपन्यासों में पात्रों के जो नाम दिये गए हैं—जैसे मिस्टर अल्वर्दी (Alworthy), मिसेज आनर (Mrs. Honour)—वे ही इस बात का प्रमाण हैं कि उनका व्यक्तित्व अभी पूर्ण रूप से उभर नहीं सका है। पात्रों को पेचकश से दबाकर उन्हें एक साँचे में ढाल दिया जाता था, उनका जीवन-प्रवाह एक बँधी-बँधाई प्रणाली से प्रवाहित होता रहता था। कहीं भी किसी भी प्रकार की विषमता तथा असंगति खोजने पर नहीं मिलती थी। वे चट्टान की भाँति दृढ़ स्वभाव, उन्नत-चरित्र और महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न होते थे। दूसरे शब्दों में वे समतल (flat) होते थे, गोल (round) नहीं। उनमें किसी भी प्रकार के विकास का अवसर नहीं था। वे जो थे सदा वैसे ही बने रहते थे। इससे इतना लाभ अवश्य हुआ कि उपन्यासों ने एक सौष्ठवपूर्ण सुगठित रूप पाया, पर वह एक ऊपर से बाहर से चिपकाई हुई वस्तु ही रही, अन्दर से विकसित होने वाली नहीं। बाह्य दृष्टि से पूरी मुक्ति हो नहीं सकी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उपन्यासों के पात्र का व्यवहार किसी बाहरी उत्तेजना (stimulus) के प्रति आचरणवादी प्रतिक्रिया (behaviouristic response) के रूप में होता था। अतः इनके पात्रों में बुद्धि का विलास, विवेक, ज्ञान, बौद्धिकता का दर्शन तो हो गया था पर उन शक्तियों का पता नहीं चलता था जो मानवात्मा के किसी रहःस्थल से रहस्यात्मक रूप से निकलकर हमारे बुद्धि-विवेक पर छा जाती हैं, उन्हें अभिभूत करके, उसकी गति को अप्रत्याशित ढंग से मोड़ देती हैं, एक अपरिकल्पनीय पथ का पथिक होने के लिए विवशता उत्पन्न कर देती हैं। पर इन असंगतियों तथा मनुष्य की रहस्यमयी शक्तियों की ओर उपन्यासकारों का ध्यान जाने लगा और उपन्यास-कला के तृतीय युग का प्रारम्भ हुआ।

इस तृतीय युग की मुख्य प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मेरिडिथ और हेनरी जेम्स के उपन्यासों में प्राप्त होता है। प्रथम युग में बाह्य क्रिया-कलापों की प्रधानता थी, द्वितीय युग में क्रियाओं के साथ आन्तरिक प्रेरणाएँ भी साथ लग आईं। समय के साथ मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती गई और एक वह भी समय आ गया कि उपन्यास-कला, जो कुछ शेष बाह्यात्मकता थी उससे भी मुक्त होकर, अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप (subjective aspect of experience) के आधार पर ही अपने स्वरूप का विस्तार करने लगी। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि मनुष्य के अन्तर्जगत् में अनेक परस्पर-विरोधी आलोड़न-प्रतिलोड़न, घूर्णन प्रतिघूर्णन, तनाव, कस-मकस, संघर्ष की रस्साकसी चला करती है और हमारी बाह्य क्रियाएँ इन्हीं क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं के परिणाम हैं। उपन्यास-कला अपने विकास-क्रम में बाह्य क्रियाओं के साथ ही आन्तरिक संघर्ष और तनाव तक पहुँच गई थी। अब बाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्त होकर आन्तरिक रहस्यमयी प्रवृत्तियों को ही अपनाकर वहीं जमकर बैठ जाना बड़ी ही सहज क्रिया थी और उसने यही किया भी। उसने एक पद उठाया नहीं कि बाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्ति पाकर शुद्ध मानसिक जगत् की सीमा में आ पहुँची और वह मनुष्य के अचेतन प्रदेश में प्रवेश करने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रवृद्धमान विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों की विद्युज्ज्योति उसके हाथ में थी और उसीके आलोक में वह मानवात्मा के अन्तरतम प्रदेश में बैठती ही चली गई, और वहाँ की कड़ाह की भाँति उबलती हुई भावनाओं को उसने अपने यहाँ स्थान दिया।

परन्तु अपने चतुर्थ युग में, आधुनिकतम युग में उपन्यास-कला की अन्तर्प्रयाण-प्रवृत्ति, जिसने १८वीं शताब्दी में उसे यात्रा के लिए प्रेरणा दी थी, आज उसे और भी आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। फ्रायड, एडलर, जुग, वर्गसाँ तथा आइन्स्टाइन इत्यादि विभूतियों ने मानवात्मा के अन्तर्प्रदेश में भी न जाने कितने स्तरों का आविष्कार किया है और कर रहे हैं। उपन्यास-कला(कदाचित् चल-चित्रों के अतिरिक्त) अपने क्षेत्र में सबसे नूतन है ? उसमें यौवन का उद्दाम वेग है और वह अपनी उमंग में आकर किसी भी संकट, विपत्ति या भय का सामना करने के लिए तत्पर है। एक विचारक के शब्दों में "हम उपन्यास-लेखकों, थोड़ा बढ़कर कहिये तो जीवन-लेखकों, के लिए कितने सौभाग्य की बात है कि किसी ऐसे आधुनिक अरस्तू ने अवतार नहीं लिया जो दृश्य-काव्य के प्राचीन लेखकों की भाँति उपन्यासों की भी गति को कार्य, समय और स्थान के समक-त्रय के जकड़कर रख दे। अतः किसी अरस्तू के 'सिर' पर नहीं रहने के कारण उपन्यास-कला को 'परम स्वतन्त्रता' रही, उसे विद्वत्ता और पाण्डित्य के लौह-कारागार को तोड़ने में शक्ति का अपव्यय नहीं करना पड़ा। अतः उसे भाँति-भाँति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहसिकतापूर्ण प्रयोगों, नई-नई रूढ़ियों और टेकनीकों को आजमाने तथा उनकी सम्भावनाओं के अनुसन्धान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।"

तृतीय युग में हेनरी जेम्स की उपन्यास-कला ने मानव के अचेतन प्रदेश की भावनाओं की अभिव्यक्ति को अपना लक्ष्य अवश्य बनाया था, पर फिर भी वहाँ की जो प्रतीकात्मक अनुभूतियाँ थीं वे ऐसी थीं कि जिन्हें शब्दों के जाल में, भाषा के बन्धन में लाकर मूर्त किया जा सकता था, उन्हें प्रेषणीय बनाया जा सकता था, उनके स्वरूप का कुछ आभास दिया जा सकता था, चाहे इस प्रयत्न में इन 'नाति परिचित' भावों का आनुरूप्य प्राप्त करने की साधना में भाषा को अपने अन्तिम बूँद तक ही क्यों न निचुड़ जाना पड़े। परन्तु मानवात्मा को आन्तरिक गहराई में प्रतीकात्मक अनुभूतियों की लहरें उठती हैं, उनके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे शाब्दिक ही हों, ऐसी हों कि शब्दों के साँचे में ढाली जा सकें अथवा वाणी के सहारे अपनी अभिव्यक्ति को मूर्त कर सकें। नहीं, वे स्पर्श-संवेद्य, घ्राण-संवेद्य, रसना-संवेद्य भी हो सकती हैं। उनके सूक्ष्म जीवन की एक वह अवस्था भी हो सकती है, जिसमें वे देश, काल और गति से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता में अवस्थित हों। आज के मनोवैज्ञानिक तथा उनसे संकेत पाने वाले औपन्यासिक इसी मानसिक क्षितिज की अचल तथा जीवन की समीपतम रेखा को पकड़ने के प्रयत्न में हैं, जिन्हें पकड़ पाने के सारे प्रयत्न फीके पड़ते रहे हैं। हेनरी जेम्स के साथ उपन्यास-कला जीवन की कितनी गहराई में क्यों न प्रवेश कर गई हो, पर चेतन मस्तिष्क की आधिश्रयणिक (focal) किरणों की एक पतली रेखा वहाँ भी पहुँचती थी, विवेक का हल्का स्पर्श वहाँ भी पड़ता ही था। पर आज का औपन्यासिक आगे बढ़कर उस दिवा-स्वप्न देखने वाले मस्तिष्क की पारिपार्श्विक दृष्टि (marginal vision) को ही साथ में रखेगा। उसकी धारणा में वर्गसाँ की फिलासफी के कारण महान् क्रान्ति हो गई है।

वर्गसाँ का आधारभूत सिद्धान्त है कि सत्ता निरन्तर परिवर्तनशील है। वह आगे बढ़ती रहती है। पर यह परिवर्तनशीलता मूल जड़ गति नहीं, पर चिर सृजनशील, स्वतः स्फूर्त जीवनोत्प्लव (elan vital) है। सत्ता की वह परिवर्तनशीलता उसकी सृजनशील प्रक्रिया की अविराम नैरन्तर्य स्वानुभूति के द्वारा ही जानी जाती है, बुद्धि के कारण नहीं। संसार के पदार्थों का ज्ञान सापेक्षिक होता है, हम एक वस्तु को अनेक वस्तुओं की अपेक्षा में ही जानते हैं। अन्य वस्तुओं का हमारा ज्ञान ऊपरी और बहिरंग-स्पर्शी होता है; पर स्वानुभूति के द्वारा हम इस काल के चिरन्तन प्रवाह में अपने 'स्व' के बारे में आभ्यन्तर और प्रगाढ़ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धि सत्ता की गति को अनेक बिन्दुओं में विभक्त कर देती है और समझती है कि वह इन्हें जोड़कर गति को बना लेगी; पर यह भ्रान्त धारणा है। जीवन एक तरल इकाई (fluid whole) है, जिसका प्रत्येक क्षण भूत में प्रलम्बित तथा भविष्य में प्रोक्षेपित है। किसी वस्तु के ज्ञान तथा उसकी अभिव्यक्ति में सदा पृथक्त्व रहता है। इन सिद्धान्तों ने हमारे दृष्टिकोण में एक क्रान्ति पैदा कर दी है। इनको लेकर चलने वाले उपन्यासों में तो काया-कल्प का ही वातावरण उपस्थित हो गया है। आजकल के उपन्यासों का प्रमाण-वाक्य यह है, जीवन व्यवस्थित रूप से सजाई गई दीप-मालिका नहीं है वह तो ऐसा ज्योति-मण्डल है, जो हमारी चेतना को आद्यन्त अपने झीने और अर्द्ध-पारदर्शक आवरण से आच्छादित किये रहता है। क्या औपन्यासिकों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे इस परिवर्तनशील, अज्ञेय तथा स्वच्छन्द जीवनोच्छ्वास को विशुद्ध रूप में यथासम्भव बिना किसी विदेशी और बाहरी वस्तु के मिश्रण के पकड़ें,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे प्रेषणीय बनायें; चाहे उसमें कितनी ही असंगतियों या जटिलताओं का समावेश क्यों न हो। भीतर झाँककर देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन एतादृक् (like them) से बहुत दूर की चीज़ है। किसी दिन के किसी भी एक क्षण को ध्यानपूर्वक देखो, मस्तिष्क पर असंख्य संस्कारों की छाप पड़ती रहती है, कुछ क्षुद्र, असंगत, क्षणिक और बोधातीत और कुछ इतनी स्पष्ट कि मानो इस्पात की सुई की नोक से खोदी हुई हों। मस्तिष्क के इसी चिर लघु, पर साथ ही चिरंजीवी क्षण को अपने कला के जाल में, भाषा के जाल में पकड़कर उसकी गतिशीलता को अभिव्यक्त करना आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की साधना के लिए उपन्यास-कला को कितने नाच नाचने पड़े हैं, उसे कितने रूप धारण करने पड़े हैं, यह श्रीमती विर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, मार्शल प्रुस्ट और आन्द्रे जीद के उपन्यासों को पढ़ने से पता चलता है।

उपन्यास-कला की मानव-मनोक्षेत्रान्तर-प्रयाण की प्रगतिशील यात्रा की चर्चा हमने ऊपर की पंक्तियों में की है। इस यात्रा के कारण उपन्यास में क्या परिवर्तन हुए इस दृष्टि से विचार करते समय सर्व प्रथम हमारा ध्यान उनकी रचना की ओर जाता है। यहाँ रचना शब्द का प्रयोग हमने उस अर्थ में किया है, जिसके लिए अंग्रेज़ी में texture शब्द का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक यह भी कर्तव्य है कि वह आधुनिक युग के प्रभाव के कारण जटिल से-जटिलतर होते जाने वाले पात्रों तथा साथ ही पाठकों का साथ दे सकें। उनके साथ न्याय कर सकें, उनके समानधर्मी हो सकें। दूसरे शब्दों में वह इस रूप में पाठकों के सामने न उपस्थित हों कि वे उसको असमान-धर्मी, विदेशी तथा अन्य लोक का प्राणी समझकर उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखें। इसी समान-धर्मत्व के कारण अरस्तू ने 'समक-त्रय' वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यूरोप के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के सिद्धान्तों के साथ-साथ इस समक-सिद्धान्त के पालन का आग्रह बढ़ता सा गया है। और यह बात उस समय से स्पष्ट होती गई है जिस समय में द्वितीय युग रहा है। मनोवैज्ञानिकता का प्रवेश तो रिचार्ड्सन और फिल्डिंग के समय से ही हो गया था, मनुष्य को सप्राण, सजीव और सहृदय प्राणी के रूप में देखने की प्रवृत्ति तो उनके साथ ही प्रारम्भ हो गई थी। परन्तु उनकी कथा इतनी विस्तृत होती थी कि उनकी रचना (texture) में घनत्व, प्रगाढ़त्व के लिए अवसर ही नहीं हो सकता था, उनके चित्र में घनत्व नहीं हो सकता था, उनके बन्ध में कसावट हो ही नहीं सकती थी। हाँ, उनके गठन (structure) में संपुटित गाढ़त्व भले ही हो और वह होता भी था। हेनरी फ़िल्डिंग के उपन्यासों से बढ़कर कथा-भाग के सौष्ठव में अधिक चमत्कार देखने को कहाँ मिल सकता है। पर साथ ही रचना (texture) का विरलत्व, झीनापन, छिद्रता (यदि इस शब्द के प्रयोग की अनुमति मिले तो) भी इनसे अधिक कहाँ मिल सकती है। यदि एक छोटे-से उपन्यास की सीमा में एक पूरे युग का अथवा एक मनुष्य के पचास-साठ वर्षों के लम्बे जीवन का चित्रण करना उद्देश्य हो तो उपन्यासकार बहुत-सी मानसिक या शारीरिक घटनाओं का परित्याग करके कुछ मुख्य-मुख्य घटनाओं को ही स्थान देने के लिए बाध्य है, विवश है। पर दूसरी ओर उन उपन्यासों को लीजिए जिनमें कथा की अवधि बहुत ही छोटी है। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं के निर्वाचन में उतनी स्वतन्त्रता से काम नहीं लिया जा सकता, इनमें छोटी-छोटी-सी घटनाओं की भी विस्तृत विवृति की विवशता और लाचारी उसी रूप में आती है जितनी कि प्रथम वर्ग के उपन्यासों में उन्हें परित्याग करने की। प्रथम वर्ग के उपन्यास पाठक में गाढ़ बन्धत्व, बुनाई के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाढ़ेपन, प्रतिभा की सूक्ष्मदर्शिता के भाव नहीं जगा सकेंगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासों की श्रेणी में जेम्स ज्वायस, विर्जिनिया वुल्फ इत्यादि के उपन्यास आयँगे। जेम्स ज्वायस के 'युलिसिस' नामक बृहद्काय उपन्यास में केवल एक व्यक्ति की २४ घण्टे की कथा है, विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास 'मिसेज डाली वाई' में केवल तीन घण्टे की कथा है; और तो और फिलिप टायनवी के 'टी विद मिसेज गुड मैन' (Tea with Mrs. Good Man) में केवल एक घण्टे की ही हद हो गई कि हेरिस मेक्काय के उपन्यास 'दे शूट हार्सेज़ डोंट दे' (They shoot Horses, Don't they ?) में तो दो-तीन मिनट की ही कथा है, एक आदमी को दो-तीन मिनट बाद ही प्राण-दण्ड की सजा सुनाई जाने वाली है, इसी बीच में जो स्मृतियों की आँधी उठी है उसे यहाँ बाँधने का प्रयत्न किया गया है। आँधी को बाँधने की कल्पना भी कम रोचक नहीं। इस श्रेणी के औपन्यासिकों को बुद्धिपूर्वक, सावधानी से, सतर्क होकर अपनी कला के सौन्दर्य के अनुरोध से कथा की अवधि को और उसकी तीव्र गति को सीमित करना ही पड़ता है, जिससे कि वास्तविक जीवन के विचारों और भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति में अधिकतम सामीप्य और अनुरूपता आ सके।

परन्तु औपन्यासिक को इस परिस्थिति में ही संकटपूर्ण समस्या का सामना करना पड़ता है। उपन्यास अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कथा की माँग करता है, कला की अन्तर्प्रयाणिनी प्रवृत्ति बाह्य क्रिया-कलापों के उच्च शिखरों की दृढ़ता को सन्देह की दृष्टि से देखकर मूल प्रवृत्तियों की तरलता को ही अपनाना चाहती है और तिस पर पाठक है, जो उपन्यास के प्रति अपने सन्देह को सहज ही में स्थगित करने के लिए तैयार नहीं। उपन्यास के सुरम्य स्थलों में विचरण करते हुए हरित शाद्वलों का रसोपभोग वह अवश्य करता है। पर सतर्कतापूर्वक उसके कान भी खड़े रहते हैं, जहाँ कहीं भी कुछ खटका हुआ नहीं कि वह भागा। दो स्वामी की ही सेवा कठिन कही जाती है। यहाँ औपन्यासिक को तीन स्वामियों की सेवा करके उन्हें संतुष्ट रखना पड़ता है। "अहो भारो महान् कवेः" अतः उसने अपने में इस भार-वहन की योग्यता लाने के लिए परिस्थितियों और उत्तरदायित्व के अनुरूप लचीलापन लाने के लिए टेकनीक, शिल्प-विधि आविष्कार कर लिए हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—पूर्वदीप्ति (flash-back), चेतन-प्रवाह (stream of consciousness), काल विपर्यय (Time shift).

पूर्व-दीप्ति (flash back) में भी पात्र के जीवन की घटनाओं का वर्णन रहता है। परन्तु अन्य पुरुष वाले उपन्यासों के एक सर्वज्ञ और सर्व-समर्थ उपन्यासकार दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न संजय की तरह 'महाभारत' के रण-क्षेत्र के दृश्यों के क्रमिक उल्लेख की ऋजु, और सीधी रेखा न खींचते हुए यह उपन्यासकार पात्रों के मस्तिष्क में उठी हुई स्मृति-तरंगों के रूप में उपस्थित करेगा। महा प्रबन्धकाव्य (epic) के नियमों का अनुवर्तन करने वाली १८ वीं शताब्दी की घटना वैचित्र्यपूर्ण कथाएँ हों अथवा नाटकों की तरह कार्य के आदि-मध्य-अवसान के संकेत पर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने वाले १९ वीं शताब्दी के सुसंगठित प्लाट-नावेल (plot novel) हों, सबमें प्रगति की एक सीधी प्रणाली होती थी। यदि इन उपन्यासों को एक माला के रूप में देखें तो ऐसा मालूम होगा कि ये दाने-ही-दाने दिखलाई पड़ रहे हैं। सूत का पता ही नहीं है। ऐसा नहीं लगता कि सुमेरु के हृदय से रस का स्रोत बह चला हो। पर पूर्व-दीप्ति (flash back) पद्धति में उपन्यास वर्तमान से सम्बद्ध या उसे सार्थकता प्रदान करने वाली घटनाओं को पात्रों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मृति-खण्ड के रूप में बिखेरता चलता है। ऐसे उपन्यासों में कथा की अवधि छोटी अवश्य होती है, पर किसी-न-किसी रूप में जीवन के बृहदंश की घटनाएँ वहाँ स्थान पाती ही हैं। परन्तु अपनी ऐतिहासिकता का परित्याग करके, अतीत का चोला उतारकर, वर्तमान का बाना धारण करके सामने आने के कारण उनकी वह खुरदराहट, जो पाठक को खटकती थी, बहुत अंशों में दूर हो जाती है। ये घटनाएँ इस पद्धति से उपस्थित किये जाने के कारण मुख्य कथा भाग से अलग पड़ी हुई वस्तु न रहकर उसीके प्राणों की एक साँस बन जाती हैं, उसकी अपनी हो जाती हैं, सजातीय और सवर्णी। वास्तव में देखा जाय तो घटनाओं को इस प्रकार से सुसज्जित कर देने से उनमें मानवीयता, या कहिए मनोविज्ञान का सन्निवेश अधिक हो जाता है, उसमें एक वर्तमानता आ जाती है, जो केवल वर्तमान ही नहीं रहती पर उससे अधिकतर समृद्ध, पुष्ट, और चमत्कृत वर्तमानता होती है। वर्तमान क्षण तो अपने में अति क्षुद्र, अल्प और क्षणिक होता है पर यदि वह अतीत को अनुप्राणित करके, अर्थात् अपनी साँस उसमें फूँककर, उसे सप्राण करके उसके कन्धे पर बैठ सके तो बहुत ही भव्य और विशालाकृति का दृश्य खड़ा कर सकता है। हमने देवदत्त को देखा और हमें ज्ञान हुआ कि "अयं देवदत्तः" बाद में दस वर्षों के पश्चात् फिर उसे बनारस में देखा और हमें ज्ञान हुआ "सोऽयं देवदत्तः" अरे यह वही देवदत्त है। यह ज्ञान, जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है, पूर्व वाले ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। परिचित वस्तु के पुनः दर्शन के समय अतीतान्वित वैशिष्ट्य सहित जो प्रतीति होती है वही प्रत्यभिज्ञा है; कहना नहीं होगा कि यह प्रतीति उस प्रतीति से कहीं भव्यतर है, उच्चतर है जो अतीत की तात्कालिकता में हुई होगी। अतः आज की उपन्यास-कला अपनी प्रधान पर लघु और सीमित कथा को इस प्रत्यभिज्ञा-समन्वित अतिरिक्तापेक्षत्व को भी साथ-साथ दिखलाकर उद्दीप्त कर देने की योजना करती है और मानो कहती है कि मैं या मेरी कथा "गर्द राह" या तिनका भले ही हो पर आँधी के साथ जो है, इसमें झंझा के मत्त झकोरों का उन्माद मिला हुआ जो है। इस दृष्टि से 'शेखर' में भी कथा है इसे कौन अस्वीकार करेगा, पर आप कल्पना करें कि यह कथा एक रात के घनीभूत विजन के रूप में देखी न जाकर और प्रत्यभिज्ञा-पद्धति पर कही न जाकर उसी एक सीधी लकीर पर चलने वाली पद्धति पर कही जाती तो वह कितना न कुछ खो देती। इस पद्धति को आज का औपन्यासिक जाने या अनजाने रूप से अपनाता चला जा रहा है। अंग्रेजी में हेनरी जेम्स तथा मेरिडिथ इत्यादि की रचनाओं को इस पद्धति का पूर्ण अवलम्ब मिला है। जो हो, आज का उपन्यास, समय के उत्पीड़न, यथेच्छाचार, अत्याचार (tyranny) के निगड रज्जु-पाश से आज बहुत-कुछ मुक्त है, जिसने उसके प्राणों को निकालकर सुन्दर जापानी मुनुआ बना डाला था। हिन्दी के एक उपन्यासकार हैं नरोतमप्रसाद नागर, उन्होंने अपने उपन्यास में 'दिन के तारे' (यही उपन्यास का नाम है) उगा दिए हैं। इसमें भी यद्यपि उपन्यास के प्रधान कथा भाग की अवधि का उल्लेख नहीं किया गया है। पर यह अवश्य है कि यहाँ पर भी उपन्यास का कलेवर इस पूर्व-दीप्ति (flash back) द्वारा पुष्ट हुआ है। शशि, शान्ति या आशा की कथा सीधी न प्राप्त होकर, अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा न करती हुई मुख्य कथा की गोद में ही फलती-फूलती दिखलाई गई है, अतः खटकती नहीं। उसी प्रकार जिस प्रकार कि माँ की गोद में चिपके बालक का पार्थक्य बहुत-कुछ माँ के साथ घुलकर तदाकार-सा ही दीख पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नूतन ढंग के उपन्यासों में भी अतीत की घटनाओं का महत्त्व नहीं है। कथा की अवधि भले ही छोटी हो, एक घण्टे की या एक दिन की। पर इस छोटी-सी अवधि का भी महत्त्व इसी-में है कि वह अपने भूतपूर्व इतिहास की सृष्टि है, उसके वर्तमान रूप के निर्माण में इतने बड़े विशाल अतीत का हाथ है। पात्र का वर्तमान रूप, उसके मनोभाव, प्रतिक्रिया, विचार, इच्छा, अनुभूति सब अतीत से सम्बद्ध हैं, अतः उनसे कोई औपन्यासिक अपना पिण्ड छुड़ा नहीं सकता, उनको स्थान देना ही होगा। हाँ, ऐसे उपन्यासों में वे अतीत की घटनाएँ पहले के उपन्यासों की भाँति तिथिवार पुरावृत की तरह सजाकर नहीं रखी जायँगी, वे पात्रों के मन से छनकर आयँगी, पात्रों की वर्तमान स्मृति-तरंग की लहरों पर तैरती हुई आयँगी। अर्थात् वे वर्तमान होकर आयँगी, उनका अतीतत्व दूर हो जायगा। वे बाहर से चिपकाई चीज न होकर वर्तमान का अंग बन जायँगी। और इस ढंग से उपस्थित किये जाने के कारण, अर्थात् पात्र जो गत घटनाओं पर जीने वाला न रहकर एक परिवर्तित द्रष्टा हो गया है, एक उसकी प्रत्यभिज्ञा या मानसिक प्रतिक्रिया में निमज्जित होकर आने के कारण "काक पिक" होकर "बक मराल" हो गया है। अतीत वर्तमान से होकर वर्तमान के आलोक में पीछे मुड़कर देखा गया है, अतीत को अतीत बनाए रखकर उसके अधिकार को अक्षुण्ण रखकर आगे की ओर नहीं देखा गया है। जैसा कि प्राचीन औपन्यासिक करते आ रहे थे। वास्तव में देखा जाय तो उपन्यास-कला की प्रगतिशील मनोवैज्ञानिकता और आत्मनिष्ठता ने घटनाओं को घटनाओं के रूप में नहीं रहने दिया है। वे तो अब पात्र के मनोवैज्ञानिक चित्र के आधार-मात्र रह गई हैं। जो हो, इतना अवश्य है कि जिन उपन्यासकारों ने थोड़ी भी उपन्यास-कला की आत्मनिष्ठता, अन्तर्प्रयाण (inward march) की गति को पहचाना है, उनकी वर्तमानता की छोटी लौ को अतीत के क्षेत्र में ले जाकर उद्भासित करते रहने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है।

यद्यपि इस पद्धति से उपन्यास-कला को बहुत सहायता मिली है पर आगे बढ़ने पर, इसकी शक्ति की परीक्षा होने पर इसकी सीमाएँ भी सामने आईं। यह पता चलने लगा कि जहाँ इस प्रयोग से अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो सकीं, वहाँ उसकी ऐसी त्रुटियाँ भी दीखने लगीं, जिनका परिमार्जन आवश्यक था। इस पद्धति से उपन्यास की समग्रता में आनुपातिकता और सन्तुलन की स्वरूप-हानि होती थी। दूसरी बात यह है कि इनके द्वारा पाठकों के अन्दर अभिनयशील साक्षात् और तात्कालिकता के भाव की भ्रमोत्पत्ति में बाधा होती थी। कारण कि कथा के एक बृहदंश का चित्रण इस ढंग से होता था, मानो वे हो गएँ हों, वे भूत हों, निष्ठा प्रत्यय (क्त, क्तवतु) का विषय हों, परन्तु प्रधान कथा के होते हुए वर्तमान में 'भवन्' रूप में 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्ययों के विषयीभूत में उपस्थित किया जाता था। इस तरह कथा को दो क्षेत्रों में पाँव रखने के कारण उसमें थोड़ा असंतुलन आ जाना स्वभाविक था।

इस दोष का कुछ-कुछ परिमार्जन चेतना-प्रवाह-पद्धति के द्वारा हुआ। पहले हमने जिसे पूर्व-दीप्ति (flash back) पद्धति कहा है उसमें यद्यपि घटनाओं को वहाँ से उठाकर मानसिक स्तर पर लाया जा सका, उसमें तीन वस्तुओं, सत्ता, इदन्ता के साथ उनके सम्बन्ध ज्ञान या स्मृति के पुट से मानव की अनुचिन्तनशीलता, भाव-प्रवण-रूपता (contemplativeness) अवश्य आई, पर अभी तक उसके भाव-प्रवण या अनुचिन्तनशील रूप के साथ उसका सक्रिय, बाह्य क्रियात्मक रूप अर्थात् वह रूप, जिसे बाहरी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के माध्यम से ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकट होने की प्रवृति होती है, जो उपन्यासों के प्लाट के चौराहे पर आकर सरे बाजार अपने स्थूल प्रदर्शन का इच्छुक होता है, साथ लगा ही रहा। अरस्तू ने प्लाट को कार्य की अनुकृति कहा था, बाह्य घटनाओं का विन्यास(imitation of action · contexture of incidents) कहा था, परन्तु इस नई पद्धति के द्वारा सारी घटनाओं को बाह्य संसार से हटाकर मानसिक संसार में बैठा दिया गया। इस कारण उनमें अधिक सूक्ष्मता आई, वे अधिक प्रभावपूर्ण हो उठीं। इसमें मानवीय चेतना की विवृति, उसकी तरलता, अनुरूपता, किसी रूप-रेखा को अपने प्रवेग से मटिया-मेट कर देने वाली आन्तरिकता, प्राणवत्ता के स्वरूप को खड़ा करना औपन्यासिक का ध्येय होता है। यही कारण है कि इस ध्येय को लेकर अग्रसर होने वाले उपन्यासों में प्लाट का बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाता है, कारण-कार्य की शृङ्खला से यह नियन्त्रित नहीं होता, आदि-मध्य-अवसान के नियमों का प्रतिबन्ध इस पर नहीं लगता, ये सब नियम और प्रतिबन्ध हैं और इनका महत्त्व भी कम नहीं हैं। पर इनका प्रभाव-क्षेत्र बाह्य जगत् है, आन्तरिक या चेतना-जगत् नहीं। जीवन को, उसके चैतन्य-प्रवाह को टुकड़ों में विभक्त करके उसे किसी व्यवस्था या प्रणाली में बाँधा नहीं जा सकता। ऐसा करना उन्हें झुठलाना है, उन के स्वरूप को नष्ट कर देना है। चेतना-प्रवाह में आदि-मध्य-अवसान-बिन्दु नहीं हो सकते। क्रिया सान्त होती है, उसका अन्त निश्चित होता है। एक बार हुई वह समाप्त हो गई, चाहे उसके प्रमाण दीर्घ-व्यापी क्यों न हों। उस पर समय का बन्धन होता है। चूँकि उसका अन्त निश्चित है उसका आदि-मध्य का भी निश्चय है, परन्तु हमारे अन्तर्जीवन की चेतना, अनुभूति, भाव, और आत्मनिष्ठ जीवन और उसके सम्बन्ध-साहचर्य (association) के प्रवाह की समाप्ति कहीं नहीं है। ऐसा नहीं होता कि उनकी अनुभूति हुई और समाप्त हो गई, तरंग उठी, बुलबुले उठे और विलीन हो गए। किसी बाहरी रूप-विधान की वश्यता उन्हें स्वीकार नहीं। यदि उन पर किसी बाहरी रूप-रेखा का बन्धन है तो यह आपका दिया हुआ है, आपने अपनी सुविधा के लिए एक ऐसा रूप-प्रदान किया है जो उसका अपना नहीं है। प्लाट तो प्लाट, उन्हें शब्दों का माध्यम भी स्वीकार नहीं, वे शब्दों के बन्धन को भी स्वीकार नहीं करता। वे अनुभूतियाँ और भाव शाब्दिक नहीं, वे शब्दों के बन्धन को भी स्वीकार नहीं करते वे अनुभूतियाँ और भाव शाब्दिक नहीं, वे शाब्दिकेतर (non-verbal) भी हो सकते हैं, वे ऐसे भी हो सकते हैं कि मात्र स्पर्शनीय ही हों।

इस चेतना-प्रवाह (stream of consciousness) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विलियम जेम्स ने किया था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकालोजी' (१८६०) में उसने लिखा था : "मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवाहित होने वाले जल-प्रवाह के रंग में डूबी रहती है। इस मूर्ति को सार्थकता और महत्त्व प्रदान करने वाली वस्तु यही ज्योतिर्वलय या कह लीजिये छायावेष्टित ज्योति है, जो संरक्षक भाव से सदा उसे घेरे रहती है.......चेतना अपने समस्त छोटे-छोटे टुकड़ों में कट-कर उपस्थित नहीं होती.......इसमें कहीं जोड़ नहीं, यह प्रवहामय होती है। इसे चेतना के विचार का या आत्मनिष्ठ जीवन का प्रवाह ही कहना चाहिए।" आलोचना के क्षेत्र में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मिस डारिथी, रिचार्ड्सन के उपन्यास 'द पाइण्टेड रूफ़' (The Pointed Roof) १९१५ की चर्चा करते समय मिस सिनक्लेयर ने किया था। इस उपन्यास की नायिका मेरियम हडसन हैं। कथाकार की ओर से कहीं भी विश्लेषण करने, टीका-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणी करने या व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं हुआ है। मेरियम की चेतना के क्षण एक-एक करके अथवा परस्पर सम्मिलित होते हुए बहते चले जा रहे हैं। चेतना के क्षणों को खींचकर इतना बढ़ाया गया है कि वे टूटने पर आ गए हैं, भावों से प्रकंपित हो रहे हैं......कोई ड्रामा ? नहीं, किसी परिस्थिति का चित्रण नहीं, किसी दृश्य का वर्णन नहीं। वहाँ कोई घटना घटती ही नहीं। बस जीवन है, जो बहता ही चला गया है। मेरियम का चेतना-प्रवाह बस आगे प्रवाहित होता गया है। आगे चलकर जेम्स ज्वायस और विर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों में इस पद्धति के चरम स्वरूप का दर्शन होता है।

इन लोगों के उपन्यासों में जीवन के मानसिक आन्तरिक, जीवन-प्रवाह के संवेदक इन्द्रिय-वेदना-संस्कार के विशुद्ध रूप के चित्रण का प्रयत्न हुआ है, उन्हें किसी साम्य कल्पनात्मक बौद्धिक साँचे में, मोल्ड (mould) में, पैटर्न (pattern) में बिठाकर देखने का प्रयत्न नहीं है। स्नायु के विशुद्ध प्रकम्पन को ही पाठक के स्नायु की तरंगों में मिला देना वस्तु के उस विशुद्ध रूप को उपस्थित करना है, जिसमें वह कुछ दूसरी न बनकर अपने विशुद्ध सत्तात्मक रूप में अवस्थित रहती है। परिणाम यह होता है कि कोई समाहारक तत्त्व रह नहीं जाता, कोई अवधान केन्द्र का प्रतिबन्ध नहीं रहता, कोई व्यापक तत्त्व नहीं रहता, सबको घेर रखने वाला विजन दूर हो जाता है। अतः पहले की निरादृत, छोटी-छोटी दुबकी पड़ी रहने वाली वे उपान्त भावनाएँ प्रमुख हो उठती हैं, जिन्हें हम पहले असंगतियाँ कहकर टाल देते थे, चित्र में पड़ी हुई बेकार, फ़ालतू और निरर्थक ध्येय समझकर छूते भी नहीं थे। वे ही अब प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती हैं। यदि आप किसी सूत में छोटी ठोकरी बाँधकर अपनी उँगली से नचाएँ तो केन्द्र की केन्द्रानुगामी शक्ति उसे सदा अपनी ओर आकर्षित करती रहेगी और वह ठीकरी वृत्त बनाती हुई घूमती रहेगी। उसके अन्दर एक-सीध में भाग-भाग जाने की (to fly at a tangent) की प्रेरणा तो बार-बार उठती है, पर इस पर केन्द्र का नियन्त्रण रहता है और वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट न होकर वृत्ताकार रूप धारण करती है, जो उसका वास्तविक रूप न होकर विकृत रूप ही है। आज के उपन्यास में इस विकृताकृति की नहीं, प्रत्युत विशुद्धाकृति की माँग बढ़ रही है और इसी माँग को पूरा करने के लिए उपन्यासों ने चेतना-प्रवाह को अपनाया। हृदय की धड़कन ने, भाव-घनत्व के लययुक्त उत्थान और पतन ने, तार के प्रकंपन ने, उपन्यास-कला में स्थान पाया। उपन्यास को देखने से एक ऐसे तार की कल्पना हो आती है, जिसे छेड़ दिया गया हो और उसी की प्रकम्पन-लहरों के इर्द-गिर्द बालू के कण कुछ अव्यवस्थित रूप से एक हो गए हों। मैंने कहा अव्यवस्थित, पर यह नाप-जोखकर चलने वाली बौद्धिक दृष्टि से ही। नहीं तो उनमें अपनी आन्तरिक व्यवस्था तो है ही, चाहे वह हमारी आँखों में भले ही खटके। इस तरह की प्रवृत्ति को मनोविज्ञान का ही नहीं, आधुनिक भौतिक विज्ञान का भी समर्थन और प्रोत्साहन मिल रहा है। पूर्व का विज्ञान भौतिक विज्ञान के द्रव्यों के परमाणुओं को एक ठोस एवं साकार वस्तु समझता था, पर अब उन्हें लहरों की गति के रूप में देखता है। पहले का द्रव्य अब कुछ विद्युत्तरंग एलेक्ट्रोन और प्रोटोन का वात्याचक्र बनकर रह गया है। यही विचारधारा है जो आज की उपन्यास-कला को चेतना-प्रवाह में निमग्न हो जाने के लिए पीठ ठोक रही है। टी० डब्ल्यू० बीच (T. W. Beach) महोदय ने अपनी पुस्तक 'ट्वेन्टिय सेन्चुरी नावेल' (Twentieth Century Novel) में बड़े ही गम्भीर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वत्तापूर्ण ढंग से यह प्रतिपादित किया है कि ज्यों-ज्यों उपन्यास-कला का विकास होता गया त्यों-त्यों उपन्यासकार की छाया उपन्यासों से दूर होती गई। पहले उपन्यासकार पद-पद पर किसी-न-किसी बहाने, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए, घटनाओं की शृङ्खला जोड़ने के लिए, किसी रहस्य के उद्घाटन करने के लिए उपन्यास के रंग-मंच पर आता-जाता रहता था। पर ज्यों-ज्यों उपन्यास-कला में प्रौढ़ता आती गई, उसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आती गई, वह उसकी अंगुली छोड़कर बाहर आती गई और स्वयं बोलना प्रारम्भ किया। आज फिर उपन्यास-कला अनेक प्रयोगों के बाद वही कर रही है। आज का उपन्यासकार भी, विशेषतः नूतन पद्धतियों (जिनकी चर्चा हो रही है) के पालन करने वाले प्रतिशोध के साथ अपने उपन्यास में प्रवेश करता है। इतना ही नहीं, परन्तु वह हस्तक्षेप प्रवेश उसकी कला का संश्लिष्ट अंश हो गया है। आज का जागरूक औपन्यासिक अपने उपन्यास का अंश-मात्र ही नहीं, प्रत्युत् वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है। पर सबसे आश्चर्य की बात है कि इन नये उपन्यासकारों का हस्तक्षेप, बार-बार सामने आता ही नहीं, परन्तु धरना देकर उपन्यास में बैठे रहना विशेष खटकता नहीं। इसका कारण क्या है?

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य का तात्त्विक, वास्तविक स्वरूप क्या है? वह क्या है? उसके स्वरूप की सीमा क्या है? क्या वह स्वतन्त्र सत्ता के रूप में देखा जा सकता है? बाहर से, शेष संसार की अनेक वस्तुओं के सम्पर्क से उसमें जो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, उसकी चेतना पर जो आघात होते रहते हैं, उससे अलग करके उसे देखा जा सकता है। वह स्वयं है या अपने सम्पर्क में आये हुए अनेक मनुष्यों के सहयोग से, उनके व्यक्तित्व के टुकड़ों से निर्मित, अतः उनको भी अपने अन्दर समाहित करके उनको भी ढोते चलने वाला व्यक्ति है? जेम्स ज्वायस, वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यासों के स्वरूप को देखने से तथा यत्र-तत्र उनके द्वारा प्रकटित विचारों को पढ़ने से उनका स्पष्ट उत्तर मिलता है कि मनुष्य का कोई भी क्षण उसके अतीत और उसकी अनुभूतियों का पुंजीभूत रूप है। मनुष्य का प्रत्येक क्षण मानो व्यक्ति से कहता है:

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इन औपन्यासिकों के ऐसे सैकड़ों नहीं, हजारों वचन उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे इस मत का समर्थन होता है।

अन्त में चलकर यह दृष्टिकोण इस विशुद्ध आत्मनिष्ठता (pure subjectivity) का रूप धारण कर लेता है कि संसार में सब-कुछ मनसपरक (Subjective) है अर्थात् वैसा ही है जैसा हम अनुभव करते हैं। हमारी अनुभूतियों से पृथक् वह है ही नहीं। ऐसे दृष्टिकोण के कारण उपन्यास के एक पात्र को दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो दूसरे को जो दीख रहा है उससे अलग है ही नहीं। द्रष्टा से दृश्य पृथक् कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, इसी सूत्र को पकड़कर आगे चलने पर आप पाएँगे कि उपन्यासकार से भी पात्रों को अलग करना सम्भव नहीं। उपन्यास जो कुछ है, उसकी छाया है, प्रतिबिम्ब है। भला उपन्यासकार अपनी छाया को किस तरह लाँघ सकता है? पहले के उपन्यासों में दो दुनिया साथ-साथ लगी चलती थीं—एक उपन्यास की, दूसरी उपन्यासकार की। उपन्यासकार अलग खड़ा रहता था; आँखें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोलकर बुद्धिपूर्वक उपन्यास में प्रवाहित जीवन-लीला को दूर से देखा करता था, सारे व्यापार एक विशिष्ट रूप धारण करके दीख पड़ते थे, मनुष्य के आचरण में एक मर्यादा होती थी, जो सारी घटनाओं के कारण और कार्य की शृङ्खला में बँधी दीख पड़ती थी। उपन्यासकार कभी-कभी अपनी मनसपरक दुनिया से उपन्यास की वस्तुपरक दुनिया में आता-जाता रहता था। उसका यह आवागमन आँखों को खटकता था। एक देश का प्राणी अगर दूसरे देश में मन-माने रूप में प्रवेश करे तो वह खटकने वाली बात थी भी। परन्तु उपन्यास-कला अब मानव की गहराई में पैठ गई है, चेतना-प्रवाह पद्धति ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों के अन्तर को मिटा दिया है। उपन्यासकार अब दूसरे संसार का प्राणी नहीं रह गया है। यह उसका अपना संसार है। यदि वह वहाँ बराबर परिभ्रमण करता रहता है तो यह उसका अधिकार ही है। इस प्रसंग में दो आलोचकों के कुछ भाव इतने प्रमुख रूप में संगत हैं कि यहाँ की उल्लिखित बातों के मर्म को स्पष्टतापूर्वक हृदयंगम करने के लिए उन्हें उद्धृत करना ही होगा :

"मैं निवेदन कर ही चुका हूँ कि आत्मनिष्ठता आधुनिक कथा-साहित्य की विशिष्टताओं में से एक है। आज का युग संकुलता और बिखराहट का है और ऐसी अवस्था में उसी तटस्थता और यथार्थता की वस्तुनिष्ठ पक्की पकड़ दिन-दिन कठिन होती गई है। कलाकार को बाध्य होकर अपनी चेतना की गूढ़ता और रहस्यमयता की ओर झुकना पड़ता है। यही एक वास्तविकता रह जाती है, जिसके बारे में वह थोड़ा निश्चित और आश्वस्त हो सकता है नहीं तो बाहर सभी चीज़ें अस्त-व्यस्त हैं, छिन्न-भिन्न हैं,...उनके बारे में कलाकार आश्वस्त होकर कहे ही क्या ? एक ही चीज़ के बारे में वह आश्वस्त है—अपनी अनुभूति का संसार और उसका ही निर्माण करेगा।"

इसी तरह के विचार एक दूसरे आलोचक ने वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास के बारे में प्रकट किये हैं। वह कहते हैं : **"वर्जिनिया वुल्फ के पात्रों के सम्बन्ध-सूत्र अपने स्रष्टा के साथ स्पष्ट हैं। पात्र उसी की वाणी में बोलते हैं, उसी के ढंग पर सोचते हैं। लेखिका के रूप में जहाँ वह अपने उपन्यास में प्रवेश करती है तो अनधिकार चेष्टा-सी नहीं मालूम पड़ती। वहाँ रहने का उसे अधिकार है। उसके उपन्यास ऐसे हैं जिनमें लेखक भी शामिल रहता है। वह बार-बार यह प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई पड़ती है कि उसका प्रत्येक पात्र उसे दूसरे देखने वाले पात्रों का प्रक्षेपण-मात्र है। जहाँ लेखिका ही देखने वाली भी हो वहाँ उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि सदा पाठकों के सामने अपने अस्तित्व का प्रमाण देती रहे ताकि जब वे पात्रों का मूल्यांकन करें तो उसका भी ध्यान रखें।"**

यह चेतना-प्रवाह-पद्धति का ही प्रभाव है कि आज के उपन्यासों में स्वगतोक्तिपूर्ण हृदयोद्गारों का प्राबल्य हो गया है, जिसे Interior Monologue कहते हैं। मनुष्य की आन्तरिक भाव-पद्धतियाँ बड़ी ही असंगत होती हैं, क्रमहीन होती हैं और किसी व्यावहारिक आचरण के नियन्त्रण के अभाव में वे यहाँ-वहाँ, इधर-उधर मुड़-मुड़ जाने वाली, बह-बह पड़ने वाली होती हैं। इस मानसिक प्रक्रिया को उपन्यास के ताने-बाने में बुन देने के लिए यह स्वगतोक्ति बहुत उपयोगी होती है। एक भाव या विचार अनेक असम्बद्ध और असंगत भाव-साहचर्य को उपस्थित करता है। एक विचार-प्रवाह की धारा के आगे-पीछे, अगल-बगल, ऊपर-नीचे अनेक धाराएँ न जाने कब, कहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से निकल पड़ेंगी और मानव-बुद्धि को चुनौती दे जायँगी। उनको देखकर बालकों की आतिशबाजी के खेल वाली उस छोटी-सी डिबिया की याद आ जाती है जो देखने में तो होती है छोटी ही, पर दीपशलाका का स्पर्श पाते ही मानो उसके गर्भ से न जाने कितनी ज्वालमालाएँ उफन पड़ती हैं। आजकल के उपन्यास भी वैसे ही हैं। उनकी मानसिक धारा कब किधर मुड़ जायगी, पता नहीं। उदाहरण के लिए वर्जिनिया वुल्फ़ के 'जैकब्स रूम' नामक उपन्यास की बात है। जैकब्स फ्लैंडर किसी गिरजे की सम्मिलित प्रार्थना में भाग ले रहे हैं। उन्हें वातायन में जड़े काँच के टुकड़े दिखलाई पड़े, उन्हें एक लालटेन की याद आई। उन्हें याद आया कि वे अपने बचपन में लालटेन के सामने किस तरह कीड़ों को पकड़ा करते थे और उसके बाद तो स्मृतियों और कल्पनाओं का ज्वार ही आ गया। इन साहचर्यपूर्ण स्मृतियों में तो फिर भी कुछ संगति है। जेम्स ज्वायस आदि के उपन्यासों में तो वैसी आश्चर्यजनक साहचर्य-स्मृतियाँ मिलेंगी कि यह भय होने लगता है कि कहीं हम उस युग में तो नहीं लौट रहे हैं जिसमें कथाकार (Open Sesame) के सहारे कुछ भी करके दिखा सकता था। उस युग का उपन्यासकार डिक्टेटर था। आज के भी अति-आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार भी डिक्टेटर ही हैं, पर बाहरी जगत् के नहीं, मानसिक जगत् के। उनकी राजधानी और सिंहासन बाहर नहीं, आन्तरिक गहराई में हैं। अतः उनकी डिक्टेटरी का निर्वाह हो जाता है।

चेतना-प्रवाह वाले उपन्यासों में एक और विशेषता दिखलाई पड़ती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कला का ध्येय यदि एक शब्द में कहा जाय तो वह है बाह्य वस्तुनिष्ठ संसार के स्थान पर मनोजगत् की प्रतिष्ठा करना। यहाँ तक कि बाह्य जगत् की स्थिति को ही अस्वीकार कर देना। पर शायद यह असम्भव है। कहा जा सकता है कि चाहे आप घटनिष्ठ ज्ञातता को मानें या देवदत्तनिष्ठ अनुव्यवसाय को, हर हालत में 'अयं घटः' इस ज्ञान में घट अर्थात् बाह्य वस्तु की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक चेतना-प्रवाह वाले उपन्यासों के अध्ययन से पता चलता है कि वे मानो इस प्रश्न का उत्तर यों देते हों : 'माना कि वस्तु से हमारा पिण्ड नहीं छूट सकता। पर एक बात तो हो सकती है ? क्या आवश्यकता है कि मानसिक जगत् में प्रतिक्रिया की अनन्त और अति सशक्त लहर उठा देने के लिए बाह्य वस्तु में भी उतना ही गौरव, उतनी ही गुरुता और महत्ता हो। क्या आवश्यकता है कि बाह्य उद्दीपन (Stimulus) और आन्तरिक प्रतिक्रिया (Response) में सानुपातिक अनुबन्ध हो ही। सम्भव है कि बाहर की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना हमारे मस्तिष्क की ऊपरी सतह को थोड़ा सा सहलाकर ही रह जाय। पर महज एक छोटी-सी घटना हृदय के शान्त सरोवर में वैसी लहरें उठा सकती है जिसकी ध्वनि और प्रतिध्वनि जीवन-पर्यन्त गूँजती रहे। वर्जिनिया वुल्फ़ के 'वेव्स' (Waves) नामक उपन्यास में और कुछ नहीं केवल छः पात्रों की निर्जनोक्तियों तथा हृदयोद्गारों का प्रवाह ही है।

चेतना-प्रवाह वाले उपन्यास में पात्रों के अन्तर्जगत् के जिस रूप के चित्रण का प्रयत्न होता है उसकी अभिव्यक्ति के लिए साधारण भाषा उपयोगी नहीं हो सकती। रूढ़ि या परम्परा के संकेत पर प्रचलित तथा 'अमर कोष' के अर्थ को ढोने वाली भाषा हमारे दैनिक व्यवहार के लिए भले ही उपयोगी हो, मस्तिष्क के सामाजिक स्तर की विवृति के लिए काम की हो, क्योंकि उस स्तर के सारे व्यापार और हलचल शाब्दिक होते हैं, शब्द जाने-पहचाने होते हैं, रूढ़ होते हैं, सांकेतिक होते हैं। ये शब्द मानव-मस्तिष्क के वैयक्तिक स्तर के वर्णन में सक्षम कैसे हो सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जिसकी गहराई में भावों की निर्झरिणी की निर्बाध और शब्दातीत धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। अतः ऐसे उपन्यासों की भाषा भी दूसरी ही होनी चाहिए। एक विचारक के शब्दों में—"शेक्सपियर के सब साहित्य को एकत्र करने पर भी शब्दों की संख्या उतनी नहीं हो सकेगी कि मनुष्य के एक घण्टे की अनुभूतियों के महज्ज एक लघु क्षण को अभिव्यक्त कर सके।" यही कारण है कि इन उपन्यासों की भाषा में साधारण शब्द-समूह से काम नहीं चलता, भाषा बाईं से दाहिनी ओर एक सीध में नहीं चलती, नये अभिव्यंजक ध्वनि-अनुकरणात्मक शब्दों का निर्माण किया जाता है, शब्दों को जहाँ से चाहें तोड़ दिया जाता है, एक शब्द के एक अंश को दूसरे शब्द के अंश के साथ जोड़कर विचित्र मलहम तैयार किया जाता है। कभी-कभी शब्दों को विकृत तो नहीं किया जाता पर वाक्यों से, पेराग्राफ से अथवा अध्याय से मिला दिया जाता है जिसमें कोई बौद्धिक साहचर्य तो नहीं मालूम पड़ता पर हमारे भावोन्माद की अवस्था में जो एक सूक्ष्म साहचर्य-सूत्र होता है उसे पकड़ने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए जेम्स ज्वायस की 'वर्क इन प्रोग्रेस' (Work in Progress) नामक पुस्तक से उस वाक्य की ओर संकेत किया जा सकता है जहाँ एक पात्र के सुरा के प्रभाव में आकर बातचीत करने के ढंग को यह कहकर अभिव्यक्त किया गया है कि He was talking alcohorently। यह alcohorently शब्दकोश में नहीं पाया जा सकता। परन्तु यह alcohol और coherent इन दोनों शब्दों के अंशों का सम्मिश्रण है जो तत्स्थानीय और तात्कालिक परिस्थिति को अधिक सजीव रूप में अभिव्यक्त करने वाली अभीष्ट-सिद्धि, को ध्यान में रखकर गढ़ लिया गया है। उसी पुस्तक में एक स्थान पर मक्खियों की भिनभिनाहट का वर्णन करते हुए कहा गया है कि Flies go Rotandrinking round his Scarf। इस वाक्य में Rotandrinking शब्द में कुछ भी स्पष्टता नहीं। हाँ, इसके पढ़ने से मदोन्मत्त मक्खियों का ढुल-मुल चित्र उपस्थित अवश्य हो जाता है। पर ज्वायस का उद्देश्य इतना ही भर नहीं है। वह अपने पात्र की अन्तर्चेतना में प्रवेश करके वहाँ की स्थानीय स्मृतियों (Local memories) का भी चित्रण करना चाहता है। बात यह है कि वर्णित पात्र डबलिन का रहने वाला था और जिस अश्व-प्रतियोगिता का वर्णन हो रहा है उसका मैदान Ratanda नामक स्थान में था। अतः एक डबलिन-निवासी के लिए अपने परिचित स्थान के साथ बड़ी ही मधुर स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं, इन स्थानों के नामोच्चार में ही उसके लिए एक मधुर संगीत है, पात्र के अचेतन में चिपटी हुई इसी भावना को ज्वायस आपके सामने मूर्तिमान् करना चाहता है, मानो एक मनोविश्लेषक अपनी उपयुक्त सूचनाओं द्वारा अचेतन गुत्थियों को चेतन क्षेत्र में लाने का प्रयत्न कर रहा हो।

इस तरह की भाषा का प्रयोग उपन्यास की नवीन वस्तु है और यह है चेतना-प्रवाह का प्रसाद। उस चेतना-प्रवाह को तो युलिसिस के अन्तिम भाग में देखिये, जहाँ के ४२ पृष्ठों में एक ही वाक्य है, बिना किसी तरह विराम या अर्ध-विराम के, मानो कोई बरसाती नदी बड़े-बड़े पर्वतों और जंगलों को रौंदती हुई बह गई हो। यह स्वप्नों की भाषा है—वे स्वप्न, जो किसी तरह का बन्धन स्वीकार नहीं करते, मुख्यतः सांकेतिक होते हैं। हिन्दी में किसी ने चेतना-प्रवाह में अपने को इस तरह बहने नहीं दिया है और यही कारण है कि हिन्दी-उपन्यासों में भाषा इस तरह तोड़ी-मरोड़ी नहीं गई है। हाँ, जैनेन्द्र के उपन्यासों में कहीं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं पर पूरे नाम नहीं दिये गए हैं,..........अथवा ! ! अथवा..........ऐसे-ऐसे चिह्नों का प्रयोग अवश्य किया गया है। कभी-कभी उन्होंने समन्दर-मन्दर, इन्ने-विन्ने, ऐसे-ऐसे व्याकरण-विरुद्ध शब्दों का भी प्रयोग किया है। पर जेम्स ज्वायस के ऊँट को निगल जाने वाला पाठक जैनेन्द्र के मच्छर से घबराने वाला थोड़े ही है ? ए० ए० मेंडिलो (A. A. Mendilow) ने लिखा है : "ये भाषा के ढाँचे को छिन्न-भिन्न करके उसमें सुधार करते हैं। उनकी भाषा में आवृत्तियाँ होती हैं, वह वक्रगति से चलती है अनेक शब्दों के अंशों को जोड़कर एक नूतन शब्द गढ़ लिया जाता है, नये सिक्के प्रचलित किये जाते हैं, अपूर्ण प्रसंगों की ओर संकेत-मात्र कर दिया जाता है, भाव-प्रवण शब्दों और उत्तेजक चित्रों की भरमार रहती है, चाहे समाजीकृत और लोकग्राह्य शब्द-प्रतीकों के प्रयोग से प्रेषणीयता लाने में जो एक सुविधा होती है उसका कुछ अंश में बलिदान ही क्यों न करना पड़े।" मैं इसे उपन्यासों के क्षेत्र में व्यक्ति की, उसकी आत्म-निष्ठा की, उसके मनोविज्ञान की, विजय ही कहूँगा।

तीसरी पद्धति को समय-विपर्यय (Time Shift) कहा जाता है। इसी को कथा क्रमोच्छेदक पद्धति (Chronological loop-holing method) कहा जाता है। कारण कि इसमें कथा के विकास के स्वाभाविक क्रम अथवा पात्रों के चरित्र-विकास की सीधी गति को उलट-पुलटकर उपस्थित किया जाता है। पात्रों के कार्य, उनके विचार तथा उनकी भावनाओं को उस रूप में प्रकट नहीं किया जाता जिससे कि यह पता चले कि वे एक स्थान पर आकर अपने विकास-क्रम की एक मंजिल पार कर चुके, अब इतनी दूरी तय करनी रह गई है, शेष को वे पीछे छोड़ आये। उनके उपन्यास की अन्तिम पंक्ति तक पाठक यह निश्चित रूप से कहकर संतोष की साँस नहीं ले सकता कि कहानी अब इस बिन्दु तक पहुँच गई। जिस तरह सड़कों पर मील के पत्थरों से यात्री तय की हुई यात्रा की दूरी का पता पाकर आश्वस्त होता हुआ चलता है (जैसा कि पहले के उपन्यासों में होता था।) उस तरह की भावना इन उपन्यासों के पढ़ने पर नहीं होती। इस पद्धति के प्रयोग का सर्वोत्तम और स्पष्ट उदाहरण कोनार्ड के दो उपन्यासों 'लार्ड जिम' (Lord Jim) और 'चांस' (Chance) में पाया जाता है।

'लार्ड जिम' नामक उपन्यास की कथा संक्षेप में यों है : "जिम एक जहाज पर काम करने वाला नौसेना का बहादुर और कर्त्तव्यनिष्ठ सैनिक है। परिस्थितियों की विवशता में आकर उसे अपने अधिकारियों के संघर्ष में आ जाना पड़ता है। उसे विद्रोही कहकर पकड़ लिया जाता है और एक अपराधी के रूप में उसे न्यायालय की कार्यवाहियों का सामना करना पड़ता है। वह पदच्युत कर दिया जाता है, उसे अनेक प्रकार से अपमान का भाजन होना पड़ता है, पर अन्त में उसकी कर्मठता, परिश्रम और दृढ़ता सब पर विजय पाती है और वह अपनी खोई हुई पद-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।" यही कथा है, पर इसे प्रकट करने में कोनार्ड ने ऐसे कौशलों से काम लिया है जिनका यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं। हम उसी की चर्चा करेंगे जिसका सम्बन्ध उससे है, जिसे हमने Chronological loop-holing अर्थात् 'कथा-क्रम का तोड़-मरोड़' कहा है। जिसके विद्रोही और अपराधी प्रमाणित हो जाने पर उसे कहाँ-कहाँ और किन-किन अवस्थाओं में काम करना पड़ता है, इसके वर्णन से उपन्यास आरम्भ होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके बाद कथा मुड़ जाती है और विद्रोह के पूर्व की जिम की जीवनी की कथा कहने लगती है। चौथे अध्याय में हम न्यायालय का दृश्य देखते हैं जहाँ पर विद्रोह के मामले की जाँच हो रही है। यहीं पर मारलो नामक एक व्यक्ति से पाठकों का परिचय होता है। उसके बाद मारलो के मुख से हम विद्रोहियों की उस समय की बाह्य मुखाकृति का वर्णन पढ़ते हैं जिस समय वे सर्व प्रथम विचारार्थ न्यायालय के सामने उपस्थित हुए थे। साथ-ही-साथ एक जर्मन पोताध्यक्ष से उस झड़प का वर्णन है जो नौ-यात्रा के प्रारम्भ होने के पूर्व हो गई थी। बाद में हम न्यायालय के सामने उपस्थित होते हैं और न्यायाध्यक्ष की आत्महत्या की ओर उत्सुकता से देखने लगते हैं। तब एकाधिक अध्यायों में जिम मारलो से पोत-विद्रोह की कथा कहता है। यहीं पर उस फ्रांसीसी लेफ्टीनेण्ट के वार्तालाप की कथा है जो उसके और मारलो के बीच हुई थी···। आगे की रूप-रेखा देने की आवश्यकता नहीं। यदि कोनार्ड के अन्य दो उपन्यास 'चान्स' और 'नास्ट्रमो' को देखा जाय तो उनकी कथा का विकास इसी गड्डम-गड्ड रूप में उपस्थित होगा। इसी तरह का एक और उपन्यास अभी हाल में एस्टेफेन हडसन ने लिखा है, जिसका नाम है Saga of Richard.

इस तरह के उपन्यासों में अतीत की अपरिवर्तनीय दृष्टि, स्थिर और निर्जीव सत्ता स्वीकार नहीं की जाती, समय के प्रवाह से अलग कटे पड़े हुए पत्थर के रूप में अतीत को नहीं देखा जाता। अतीत है ही नहीं। जो-कुछ है वह प्रवृद्धमान वर्तमान है, जो पूर्वापर सब जगह, सब ओर छाया हुआ है। इसमें घटनाओं को इस रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं जो वर्तमान और अतीत की पार्थक्य-भावना को दृढ़ करता रहे। ऊपर हमने वर्तमान के ताने-बाने पर अतीत के सूत के बुनने वाले उपन्यासकारों की चर्चा की है। यद्यपि उन्होंने प्रयत्न किया कि दोनों का पार्थक्य मिटे, पर उन्हें सफलता मिली ही नहीं थी। उनमें भूत और वर्तमान का सम्मेलन जनकाष्ठ न्याय की याद दिलाता था, एक वृन्तगत फलैक्य न्याय की भावना नहीं जाग्रत करता था जैसा कि कोनार्ड के ये उपन्यास करते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जीवन के जिस सत् की सिद्धि के लिए जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया बुल्फ इत्यादि औपन्यासिकों ने सतह के नीचे जाकर एकान्त साधना की, उसी अभीष्ट की उपलब्धि में कोनार्ड ने भी अपनी औपन्यासिक चित्तवृति को नियोजित किया है, पर इसके लिए उन्होंने पाताल में जाने की आवश्यकता नहीं समझी। उनके पैर इस बाह्य रण-क्षेत्र में ही जमे रहे। उन्होंने बाह्यनिष्ठता, वस्तुपरकता को ही इस तरह प्रेरित किया, इतना खींचा कि वह आत्मनिष्ठता, मनसपरकता की सीमा से आ लगी। वस्तु(आब्जैक्टिव) मनस (सब्जैक्टिव) हो गई। जेम्स ज्वायस की पद्धति दूसरी थी। वे सब्जेक्टिव को ही आब्जेक्टिव बनाकर पेश करना चाहते थे। कोनार्ड के उपन्यासों में जिस तरह कथा का स्वरूप टेढ़े-मेढ़े मार्गों से चलकर उपस्थित होता है उसे पढ़कर चित्र-निर्माण-निरत एक चित्रकार की कल्पना जाग्रत हो जाती है। कोनार्ड एक चित्रकार है। वह एक कथा-चित्र की सृष्टि कर रहा है। पाठक उसकी निर्मित क्रिया को देख रहा है। कैन्वास पर रंग की तूलिका कभी यहाँ चल जाती है, कभी वहाँ, कभी इधर, कभी उधर। उस पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं। उस पर इसका प्रतिबन्ध नहीं कि पहले सिर बने, बाद में पीठ, तब पैर। नहीं, कभी भी कोई अंग बन जा सकता है। यदि उस पर प्रतिबन्ध है तो अपनी मधुर इच्छा और प्रेरणा का। इसी तरह सारा चित्र तैयार हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदुपति सहाय

अंग्रेजी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी

कहा जाता है कि आलोचनात्मक और सृजनात्मक क्रियाएँ परस्पर विरोधी हैं, परन्तु इसके विरुद्ध अंग्रेजी साहित्य के महान् युग, महान् आलोचनात्मक क्रियाशीलता के युग भी रहे हैं। वस्तुतः दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं का साहचर्य किसी भी युगान्तरकारी और मौलिक साहित्य के लिए स्वाभाविक ही है। सभी प्रकार के प्रयोगों, परम्पराओं के विस्फोट, कवि-संसार के पुनर्नियोजन के प्रयासों के पीछे एक सीमा तक सचेत जागरूकता होती है। यह सचेत जागरूकता वास्तविक सृजनात्मक साहित्य में अंशतः ही प्रवेश कर पाती है और उसका विस्तृत और पूर्ण प्रकाश आलोचनात्मक कृतियों में ही हो सकता है। घोषणा-पत्रों और भूमिकाओं द्वारा यह काम सीधे-सीधे होता है, परन्तु आलोचना के दूसरे स्वरूपों द्वारा भी उन मान्यताओं, मानसिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक विश्वासों की व्याख्या आवश्यक है, जिन्होंने नई रचना को प्रेरणा दी है। चाहे आलोचक सौन्दर्य की नई अभिव्यक्तियों का अभिज्ञान करे, अथवा उनके स्वागत में पाँवड़े बिछाये, जहाँ कहीं भी महान् साहित्य का जन्म हो रहा हो, आस-पास उसका होना आवश्यक है।

वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि किसी युग की विशिष्ट एवं पृथक् प्रकृति को समझने के लिए हमें उसकी सृजनात्मक कृतियों से अधिक आलोचनात्मक उपलब्धियों के पास ही जाना चाहिए। अपनी प्रमुख सृजनात्मक सिद्धियों में, प्रत्येक युग अपने व्यक्तित्व को सार्वभौमिक मानवता, मनुष्य के सपनों, अरमानों, उल्लासों और विषादों के साथ घुला-मिला देने में प्रवृत्त होता है, किन्तु आलोचक के भीतर युग सबसे अधिक सचेत रूप से अपने को पहचानता है। और जैसे-जैसे मानवता अधिकतर आत्म-जागृति की ओर बढ़ती गई है, आलोचनात्मक प्रक्रिया ने सृजनात्मक प्रक्रिया के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया है। यहाँ तक कि पहले जहाँ कहा जाता था कि आलोचक को कवि होना चाहिए, आज अनुभव किया जाने लगा है कि कवि को आलोचक होना चाहिए। हमारी वर्तमान विचार-धारा के अनुसार सच पूछिए तो आज आलोचना और सर्जना के बीच, विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक प्रक्रियाओं से अधिक का अन्तर नहीं है, जब कि पहले यह भेद कल्पना और तर्क अथवा दिव्यानुभूति और ज्ञान का-सा था। आज के युग का लेखक अपने परिज्ञान के लिए एक क्रम, या अपनी अनुभूतियों के लिए मान्यताओं की खोज करता है और उस सीमा तक एक प्रकार से वह आलोचक ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी की हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण देन यही थी; और इसका सबसे निश्चित रूप आलोचना के क्षेत्र में है। उन्नीसवीं शताब्दी की आलोचना की दो मुख्य समस्याएँ हैं ज्ञान का विस्तार और पारस्परिक क्रम तथा मान्यताओं की स्थापना। आलोचना को कोलरिज (Coleridge) की देन असामान्य और विविध है और उसके सूक्ष्म वक्तव्यों के पुञ्ज से पाठक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदा ही चमत्कृत और हताश होते रहेंगे। परन्तु सबसे अधिक उसने नई आलोचना की अगवानी इस रूप में की कि उसने साहित्य की सीमा-रेखाओं को तोड़ डाला। उसने दर्शन की उस शाखा के, जो सौन्दर्य-शास्त्र के नाम से फलती-फूलती रही है और साहित्यिक समीक्षा के बीच सम्बन्ध को व्यक्त किया और आलोचना को ललित कलाओं के सामान्य अध्ययन का एक विभाग बनाकर स्थापित किया। अंग्रेजी समीक्षा आज जर्मन आदर्शवाद और उस समय के अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों से आगे बढ़ चुकी है, लेकिन कोलरिज ने जो सीमाओं के विस्तार का चक्र प्रारम्भ किया उसे अभी तक सफलतापूर्वक उल्टा नहीं जा सका है।

उस विस्तार की प्रकृति को मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) ने संत-ब्यूव (Sainte-Beuve) के प्रभाव में आकर और भी आधुनिक रूप दिया; उसकी आलोचना में शुद्ध दार्शनिक और तात्त्विक सिद्धान्तों का स्थान ऐतिहासिक और समाज शास्त्रीय धारणाओं ने ले लिया। संत-ब्यूव के लिए साहित्य रचनाओं का समूह-मात्र नहीं है, जिससे आनन्द उठाया जाय, बल्कि वह इतिहास के परिवर्तन की प्रक्रिया और ऐतिहासिक अध्ययन का एक भाग है। यह धारणा कि साहित्यिक मान्यताएँ साहित्यिक युग-सापेक्ष्य हैं, अथवा किसी युग का साहित्य मूलतः युग का लक्षण और उसकी अभिव्यक्ति है, आज हम लोगों के लिए इतनी स्वाभाविक हो गई है कि हम लोग इसके बिना सोच भी नहीं सकते। हमारे लिए यह कल्पना करना कठिन है, कि जिस सीमा तक और जैसी आत्म-चेतना हमारे भीतर आ गई है, वह कभी नहीं भी थी। आर्नल्ड के जो विक्टोरियन पूर्वाग्रह थे वे हमें आज की शताब्दी में कुछ दाकियानूसी लग सकते हैं, किन्तु उसकी पद्धति स्थायी बन गई है। उसने आलोचना का जीवन, समाज और सभ्यता की उन विशाल समस्याओं के बीच, जो तब तक साहित्य की विशिष्ट समस्याओं के पीछे-पीछे थी, कुछ इस प्रकार लाकर खड़ा कर दिया कि अब हमारे लिए वापस लौटना असम्भव है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में कला को कला के लिए सीमित करने की प्रतिक्रिया हुई, परन्तु वह साहित्य और आलोचना के भीतर नैतिक और सामाजिक जागरूकता की बाढ़ को न रोक सकी। फिर उस प्रतिक्रिया ने साहित्य में रूप-विधान और विषय-वस्तु के बीच फिर से सन्तुलन स्थापित करने का कुछ काम तो किया ही। विक्टोरियन लेखकों ने विषय-वस्तु के महत्त्व पर जोर देने में शैली और कलारूप की ओर बहुत कम ध्यान दिया। अतः वाइल्ड (Wilde) के इस विस्फोट में दूसरी पराकाष्ठा अनिवार्य ही थी—**"पुस्तकें न नैतिक होती हैं, न अनैतिक; वे या तो उत्कृष्ट रचनाएँ होती हैं या निकृष्ट।"** इस प्रतिक्रिया के पीछे वस्तुतः टेकनीक के महत्त्व की ओर लौट चलने की भावना उतनी नहीं थी जितनी एक प्रकार की मानसिक थकान, शून्यवादिता अथवा अकर्मण्यता; जिसे 'शताब्दी का अन्त' (fin-de-siecle) कहकर बयान किया जाता है। वह राष्ट्रीय चेतना के पतन की अभिव्यक्ति थी। आशावाद और उत्साह का स्थान छिछलेपन, हताशा एवं भाव-निरपेक्षता ने ले लिया। आलोचना के इतिहास के दृष्टिकोण से, यह सौन्दर्यवादी आन्दोलन सिद्धान्त न होकर एक मनस्थिति-मात्र था। कम-से-कम इंग्लैण्ड में उसे फ्रान्स जैसी कोई शक्ति या सत्ता नहीं प्राप्त हुई। फिर भी पेटर (Pater) का प्रभाव आलोचना में कुछ अधिक स्थायी है। परन्तु उसकी स्थिति वाइल्ड और अन्य व्यक्तियों से भिन्न है, यद्यपि उन्हें अक्सर एक ही भाव से तोला गया है। पेटर रूप-विधान को नहीं, बल्कि रूप-विधान और विषय-वस्तु के सम्पूर्ण तादात्म्य को श्रेष्ठ साहित्य का विशिष्ट लक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानता है, जिसे वह 'वाणी और आन्तरिक आलोक का परिष्कृत संयोजन' अथवा 'पूरी ईमानदारी के साथ कलाकार के निकटतम सत्य का परिग्रह' कहता है। उसकी पुकार ईमानदारी के लिए है और ईमानदारी वाइल्ड और दूसरों का शक्तिशाली गुण नहीं है। पेटर के सिद्धान्त की मुख्य बात यही है कि लेखक का उद्देश्य 'न जगत्, न मात्र यथार्थ, बल्कि जैसा यह सब उसे लगे' वैसा व्यक्त करना है। स्पष्ट है कि यह विद्रोह विक्टोरियन उपदेशवाद के विरुद्ध उतना नहीं है जितना यथार्थवाद और प्रकृतवाद के विकासों के विरुद्ध। यह एक प्रभाववादी विचार-धारा है, जो भाग्य के उलट-फेर के बीच होती हुई आलोचना में अब तक प्रवहमान है।

बीसवीं शताब्दी के परिवर्तित युग, उसकी नई दृष्टियों और आवश्यकताओं के साथ, आर्नल्ड के प्रभाव में भी एक अनिवार्य अन्तर आ गया है। इलियट (Eliot) का कहना है कि कोई भी पीढ़ी कला में ठीक उसी प्रकार रुचि नहीं रखती जिस प्रकार अन्य पीढ़ियों ने रखी। हर काल और हर कलाकार के लिए एक ऐसा मिश्रण आवश्यक होता है; जो जीवन की धातु को कला में ढाल सके, और प्रत्येक पीढ़ी दूसरों की अपेक्षा अपने ही मिश्रण को अधिक पसन्द करती है। अतः हर युग का काम अपनी अलग आलोचना से ही चलेगा। परन्तु आलोचना सदा कुछ ध्रुवान्तों के बीच चक्कर काटती रही है : जैसे व्याख्या और मूल्यांकन, रूप और विषय, वस्तुपरकता और आत्मनिष्ठता और फिर सबसे विस्तृत और मूलभूत द्वन्द्व तो साहित्य और जीवन के बीच ही रहा है। रिनेसाँ (Renaissance) कालीन आलोचना में इसका स्वरूप मनोरंजन बनाम शिक्षण का है और निओ-क्लासिकल (Neo-classical) युग में कौशल बनाम स्वभाव का; रोमांटिकों (Romantics) ने इस खाई को द्रष्टा और दृश्य अथवा स्वप्न और सत्य के सम्मिलन द्वारा पाटने का प्रयास किया। परन्तु जैसे-जैसे रोमांटिक लहर उतरती गई, यह द्वन्द्व फिर आ खड़ा हुआ और आर्नल्ड तथा पेटर के दृष्टिकोणों में मूर्त हो गया।

ये दोनों दृष्टिकोण, कि साहित्य को साहित्य के अथवा किसी अन्य वस्तु के रूप में बरता जाय, कुछ परिवर्तनों के साथ, जो नये सौन्दर्य-सिद्धान्तों, मनोविज्ञान या इधर की समाज-शास्त्रीय प्रवृत्तियों के कारण आवश्यक हो गए थे, बीसवीं शताब्दी की आलोचना में परिलक्षित होते हैं। परन्तु इस शताब्दी के तृतीय दशक के आस-पास तक, इनकी पुनरावृत्ति के पूर्व, अंग्रेजी समालोचना की कोई निश्चित दिशा नहीं जान पड़ती। इस शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजी कविता की तरह आलोचना की भी दशा है, जिसमें प्रखरता या किसी प्रबल अन्तर्वेग अथवा दृढ़ धारणा का अभाव है। शताब्दी के प्रारम्भ में न किसी समालोचक, न किसी आलोचना-निकाय को ही प्रबल कहा जा सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड और पेटर दोनों ही के प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों और विविध वेशों में काम करते दिखाई पड़ते हैं। आर्नल्ड की समालोचना में अन्तर्निहित नैतिक आग्रह के विरुद्ध 'कला कला के लिए' वाली प्रतिक्रिया का न तो विस्तार ही हुआ और न उसकी स्पष्ट रूपरेखा ही स्थापित हुई। साधारणतः समालोचकगण उदार, सुविधानुसार गुणदर्शी और सतह पर ही विचरने वाले रहे। सेन्ट्सबरी (Saintsbury) जैसे समालोचक को इस उदारतापूर्ण सिद्धान्तहीनता से अलग करना कठिन ही है। परन्तु इस समालोचना में एक अच्छी बात थी। उसके पास एक उत्साह, परिष्कृत रुचि और अत्यन्त विषम रचनाओं का भी आनन्द उठाने की क्षमता थी। इन आलोचकों की पद्धति कुछ तो प्रभाववादी और कुछ पांडित्यपूर्ण थी; किसी कृति या कृतिकार की समीक्षा में समालोचक की अपनी प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया का अच्छा-खासा वर्णन होता था; कुछ कृति के संघटन को प्रदर्शित करने का प्रयास; और कुछ कृतिकार के जीवन, अभ्यास और दृष्टिकोण के सम्बन्ध में सूचनाएँ हुआ करती थीं।

गम्भीर समालोचना के क्षेत्र में यह विद्वत्तावादी परम्परा ही सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। सेन्ट्सबरी की उदार वाचालता, एडमण्ड गॉस Edmund Goss) के छुट-पुट जीवन-चरित और प्रभाववादी बातचीत, एडवर्ड डाउडन (Edward Dowden) के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आविष्कार, सिडनी कालविन (Sydney Colvin) का जीवनी-समीक्षा एवं सम्पादन-सम्बन्धी कार्य, ए० सी० ब्रैडले (A. C. Bradley) का कोलरिज की शैली में चिन्तनपूर्ण अध्ययन, सी० एच० हरफ़र्ड (C. H. Herford) की स्पष्ट किन्तु अगूढ़ कृतियाँ, जे० डब्ल्यू० मैकेल (J. W. Mackail) की मननशील सौन्दर्यात्मकता, ऐण्ड्र् लैङ्ग (Andrew Lang) की मानव-शास्त्रीय और ऐतिहासिक समालोचना, ये सब शताब्दी के मोड़ पर अंग्रेजी समालोचना की सम्पन्नता और साथ ही विविधता की द्योतक हैं। अभी भी विद्वान् लोगों की धारणा थी कि आलोचक के रूप में उनका भी कुछ काम है। विद्वानों और समालोचकों के कार्यों का विशिष्टीकरण उस सीमा तक इंग्लैण्ड में कभी नहीं हुआ जहाँ तक अमरीका और जर्मनी में। सभी विद्वान् आलोचकों की रुचि की प्रवृत्ति रूढ़िवादी ही रही; उनका अधिक ध्यान उन्हीं रचनाओं की ओर था जो काल की कसौटी पर खरी उतर चुकी थीं और उनकी सूक्ष्म पैठ और उदारता का उतना अधिक प्रसाद समकालीन साहित्य को नहीं प्राप्त हुआ। आर्थर सिमन्स (Arthur Symons) को छोड़कर, जो सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के अतिवादियों में से अकेला ही बच रहा था, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के अध्येता आलोचक-गण आर्नल्ड और पेटर के सम्मिलित प्रभाव में ही काम करते रहे।

अमरीका के नव मानवतावादियों ने पेटर के विचारों को फिर से ढालकर, एक नये वेश और परोक्ष रूप में फिर से ला खड़ा किया। टी० एस० इलियट (T. S. Eliot) ने इरविंग बैबिट (Irving Babbit) से इस दृष्टिकोण को ग्रहण किया कि व्यक्तित्व-सम्बन्धी रोमाण्टिक सिद्धान्त में एक अनिवार्य उच्छृङ्खलता विद्यमान है। इस प्रकार प्रभाववाद, आत्मनिष्ठा और सम्पूर्ण व्यक्तिवादी परम्परा के विरुद्ध आधुनिक साहित्य की प्रतिक्रिया का अभियान प्रारम्भ हो गया। चक्र एक बार फिर घूमकर संयम, संस्कार और निर्वैयक्तिकता पर आ पहुँचा।

इलियट के समीक्षात्मक सिद्धान्तों के साधारण आधारों का वर्णन उनके "ट्रैडिशन एण्ड दी इण्डिविजुअल टेलेण्ट" (Tradition and the individual talent) नामक निबन्ध में हुआ है। इसमें वह "किसी कवि की प्रशंसा करते समय उसकी कृतियों के उन पहलुओं पर जोर देने की प्रवृत्ति" की निन्दा करता है "जिनमें वह औरों से कम-से-कम मेल खाता है। कृतियों के इन्हीं पहलुओं या अंशों में हम वे कुछ पाने की कल्पना करते हैं जो कलाकार के बिलकुल अपने हैं; जो उसके विशिष्ट तत्त्व हैं। बड़े सन्तोष के साथ हम पूर्वगामियों से कवि की भिन्नता की विवेचना करते हैं, विशेषतः निकट अतीत के अंग्रेजों से। हमारा प्रयास होता है कि कुछ ऐसा पा जायँ जिसका हम अलग करके रस ले सकें, जब कि यदि हम किसी कवि के पास बिना इस पूर्वाग्रह के जायँ तो हम पाएँगे कि उसकी रचना का सबसे सुन्दर ही नहीं, बल्कि सबसे व्यक्तिगत भाग वही है जिसमें विगत कवि, तथा पूर्वज अपनी अमरता को सबसे शक्तिशाली ढंग से प्रतिष्ठित करते हैं।" इसके आगे इलियट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता है कि "किसी कवि को अपने मन में केवल अपनी ही पीढ़ी को लेकर नहीं बल्कि इस भावना के साथ" सृजन करना चाहिए कि "होमर से लेकर आज तक यूरोप का सारा साहित्य, और उसके अपने देश का सम्पूर्ण साहित्य उसके साथ-साथ जी रहा है और साथ-ही-साथ उसका विन्यास-क्रम चलता जा रहा है...कलाकार की प्रगति एक निरन्तर आत्मोत्सर्ग है, व्यक्तित्व का अनवरत अवसान है।" अतः इलियट के निकट कवि की रोचकता उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों में नहीं है और न उनका परिशीलन ही उसका काम है। उसका कहना है कि "कविता भावना की उन्मुक्तता नहीं, बल्कि भावनाओं से पलायन है। वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से बचना है।"

यूरोपीय संस्कृति के सामूहिक बुद्धि-स्वास्थ्य और एकरूपता को फिर से प्रतिष्ठित करने के उद्यम में इलियट इस सिद्धान्त तक पहुँचा। उसका कहना है कि यूरोपीय मानस में एक व्याकृति उत्पन्न हो गई है। शेक्सपीयर (Shakespeare) और स्पेन्सर (Spencer) तक के काल में एकजातीयता तथा बौद्धिक एवं नैतिक चेतना की समन्विति परिलक्षित होती है। ड्राइडेन (Dryden) के काल से विघटन प्रारम्भ हो जाता है और कविता समूचे राष्ट्र-मानस की अभिव्यक्ति नहीं रह जाती है। रोमाण्टिकों के समय से एक व्यापक पतन होने लगता है, जो पूरी गति के साथ अब तक चला जा रहा है। इस अधोगति के उसने कई कारण सुझाए हैं। उसके अनुसार अन्ततोगत्वा यह पतन सम्भवतः अर्थ-व्यवस्था और यन्त्रों के उलझाव पर ही आधारित है। लेकिन उसका सबसे अधिक बल इस कारण अथवा लक्षण पर है कि कवि ने दर्शन और धर्म का कर्तव्य भी अपने ऊपर आरोपित कर लिया है। विशेषतः इसका अपराधी रोमाण्टिक युग रहा है कि व्यक्तिगत कवि-दृष्टि के आधार पर दर्शन खड़ा किया जाय। आज का सबसे बड़ा कुफ्र यही है। व्यक्तित्व के इस भ्रामक महत्त्व के निरोध का उपाय यही है कि यूरोपीय मानस की एकरूपता पुनः प्रतिष्ठित की जाय। इस उद्देश्य के अनुसार कवियों और लेखकों को अपने धर्म और दर्शन की व्याख्या करना छोड़ देना चाहिए।

इलियट की दृष्टि में विरोधाभास यही है कि कवि बात तो अपनी तरह करे, लेकिन अपनी तरह सोचे नहीं। इसी कारण अंग्रेजी कविता पर इलियट का प्रभाव कुछ यों पड़ा है कि एक अनुदार आत्मालोचना घर करती जा रही है; संशयों और संयमों द्वारा ठण्डे होते हुए उत्साह का एक दबाव विद्यमान है। एक विशेष तापमान के नीचे उतरकर प्रेरणा का जीवित रहना सम्भव नहीं है और इलियट ने कुछ ऐसा पाला मारा है कि उसकी और उसके अनुचरों की रचनाएँ बहुत कम हो गई हैं।

इलियट के इस अनोखे आत्म-विरोध का स्रोत टी० ई० हुल्म (T. E. Hulme) में है। हुल्म ने अपनी कृतियों की मात्रा और गूढ़ता की तुलना में कहीं अधिक प्रभाव समीक्षा की विचारधारा पर डाला है। उसने संयम, निर्वैयक्तिकता और कल्पना की तीखी शुष्कता का प्रतिपादन किया। उसने रूसो (Rousseau) की धारणा का खण्डन किया कि मनुष्य मूलतः सत्स्वभाव वाला है। उसकी प्रतिज्ञा है कि प्राथमिक पाप (original sin) में विश्वास किये बिना किसी महान् साहित्य का सृजन नहीं हो सकता। उसने प्रगति के विश्वास पर तथा समस्त आधुनिक 'प्राणवान्' कला पर चोट की और कहा कि बाइज़ेण्टाइन (Byzantine) की सूक्ष्म ज्यामितिक विशेषताएँ-मात्र ही अनुकरणीय हैं। उसने **'जीवन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण'** के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्ष में 'मानववादी दृष्टिकोण' को अस्वीकार कर दिया। ह्यूल्म के सामान्य दृष्टिकोण ने इलियट को काफी प्रभावित किया तथा उसके द्वारा प्रतिपादित शिल्प-नियमों एवं पशु, शुष्क और स्पष्ट बिम्बों के प्रति आग्रह ने बिम्बवादी कवियों और आलोचकों को।

इलियट की आलोचना में सबसे रोचक बात यह है कि उसने 'कविता की निष्ठा' को 'एक ऊँची कोटि के आनन्द-लाभ' के रूप में सिद्ध करने का साहसपूर्ण उद्योग किया है, जब कि उसका सारा दृष्टिकोण गहन धार्मिक है। वस्तुतः इलियट में एक प्रकार से आर्नल्ड के उस संकटमय विकल्प की पुनरावृत्ति हुई है कि कविता से धार्मिक आश्वासन की उपेक्षा की जाय। वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के विषय में लिखते समय आर्नल्ड ने कहा था : "**कविता ही सत्य है, दर्शन मरीचिका-मात्र !**" और उसके बाद उसने बढ़कर शेली को '**विषय-वस्तु के अभाव**' के कारण फटकारा भी। इलियट के सामने इतना स्पष्ट है कि कविता क्या नहीं है। वह कहता है, "**निस्सन्देह कविता नैतिक आचार का प्रतिपादन नहीं है और न राजनीति का निर्देश है, और न ही धर्म का कोई समवाय ही है।**" फिर कुछ हिचकते हुए, तर्कपूर्णता से अधिक ईमानदारी से प्रेरित होकर वह आगे जोड़ता है, "**साथ-ही-साथ कविता का कोई-न-कोई सम्बन्ध नैतिकता ही क्या, राजनीति से भी अवश्य है, यद्यपि हम कह नहीं सकते कि क्या है।**" यह वही दोनों हाथ लड्डू प्राप्त करने की विधि है जिसका आर्नल्ड को विशेष अभ्यास है। फिर भी, इलियट अपनी स्थिति आगे चलकर स्पष्ट करता है, "**अगर प्रश्न यह हो कि मुझे शेक्सपीयर की अपेक्षा दान्ते (Dante) की कविता क्यों रुचती है तो मैं कहूँगा कि उसमें जीवन-रहस्य के प्रति एक अधिक स्थिर प्रज्ञा का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।**" शेक्सपीयर हमारे सामने जीवन-रहस्य की समस्या का कोई समाधान नहीं रखता। वह जीवन की समस्या को उसके अत्यन्त आग्रहपूर्ण रूप में प्रस्तुत कर देता है और फिर हमें अपने अनुभवों के सहारे छोड़ देता है। इसके विपरीत दान्ते के पास अक्वीनास (Aquinas) की प्रणाली का सम्बल था, मध्य युग के सम्पूर्ण नियमित और स्थिर जगत् का सहारा था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थिर-बुद्धि और ऐक्य, विज्ञान-पूर्व युग की पूँजी थी और उसकी पुनर्प्राप्ति एक स्थिर परम्परा की अनुभूति द्वारा ही हो सकती है जिसकी जड़ें अतीत में जमी हों और जो आज की वास्तविकता से विच्छिन्न हो।

आलोचना की इस द्विविधा का एक अन्य प्रधान उदाहरण हमें आई० ए० रिचार्ड्स (I.A.Richards) में मिलता है। उसकी पद्धति तो वैज्ञानिक है परन्तु उसका साध्य एक प्रकार की आध्यात्मिक संस्कृति है, जिसके विनाश की आशंका विज्ञान से है। मनोविज्ञान और अर्थ-विज्ञान (Semantics) के प्रयोग द्वारा रिचार्ड्स ने साहित्यिक मूल्यांकन की अनिश्चयात्मकता को कम करने का प्रयास किया। अस्पष्ट प्रभाववाद के विरोध में उसने साहित्यालोचन को एक निश्चित विज्ञान बना डाला। उसने प्रत्येक शब्द के कार्य और साहित्यिक कृति में शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध, दोनों का अनुशीलन किया और समीक्षात्मक विश्लेषण का एक उपकरण प्रस्तुत किया। लेकिन इलियट की ही भाँति रिचार्ड्स भी कुछ उसी प्रकार के विरोधाभासों में उस समय फँस जाता है जब वह सन्तोषप्रद साहित्यिक मूल्यों का सिद्धान्त निर्धारित करने की चेष्टा करता है। रिचार्ड्स के अनुसार मूल्यों के एक सामान्य सिद्धान्त की स्थापना आवश्यक है, "**इसलिए कि आलोचक को प्रतिष्ठित किया जा सके, स्थापित मान्यताओं की टाल्स्टाय**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के-से आक्रमणों से रक्षा की जा सके, इन आदर्शों और जन-रुचि के बीच खाई को पाटा जा सके और शुद्धिवादियों और संस्कार-च्युत लोगों की परुष आचार-नीति से कलाओं को बचाया जा सके। एक ऐसे सामान्य मूल्यों के सिद्धान्त की आवश्यकता है जो इन वक्तव्यों को कि 'यह अच्छा है, वह बुरा है' अस्पष्ट या मनमाना बनाकर ही न छोड़ दे।" रिचार्ड्स ने मानस-वृत्ति के पक्ष में नैतिक आचार का परित्याग किया और कहा कि जो-कुछ भी हमारी स्वाभाविक एषणा (appetancy) अर्थात् एक प्रकार की अचेतन अभिलाषा को तृप्त करता है, वह मूल्यवान् है और जितनी अधिक स्वाभाविक एषणाओं की तृप्ति उसके द्वारा होगी, उतना ही वह अधिक मूल्यवान् होगा। प्रत्येक अनुभव अपने में शिव होता है और उसके अनुसरण के लिए किसी हेतु की आवश्यकता नहीं है। अतः अधिकतम शिव की उपलब्धि के लिए, नैतिकता का समस्त अमनोवैज्ञानिक कल्पनाओं से मुक्त किया जाना और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ बदलना आवश्यक है। रिचार्ड्स की इस दृष्टि को एक प्रकार की प्राकृतिक नैतिकता कहा जा सकता है, क्योंकि कोई भी बँधी-बँधाई आचार-परिपाटी ही आज या कल अवश्य ही हमारी आकांक्षाओं में व्याघात उत्पन्न कर देगी। धार्मिक अथवा नैतिक प्रमाणों को उखाड़ फेंकने के पश्चात् मूल्यों का यह समस्त सिद्धान्त-कुल इस प्रश्न पर ही केन्द्रित हो जाता है कि मानस की सर्वाधिक मूल्यवान् कौनसी वृत्तियाँ हैं। यहीं पर कविता का प्रवेश होता है, क्योंकि कलाकार ही एक ऐसा व्यक्ति है जिससे हमें मूल्यवान् अनुभूतियाँ प्राप्त होने की सबसे अधिक सम्भावना है; वह एक ऐसा बिन्दु है जहाँ मानस की परिपक्वता अपने को व्यक्त करती है। इसके अतिरिक्त कवि की अनुभूति उन आवेगों के समन्वय की अभिव्यक्ति है, जो दूसरों में अभी अस्पष्ट या द्वन्द्व-शील हैं। उसकी कला-कृति उस वस्तु का विन्यास है, जो औरों में अभी अव्यवस्थित अथवा संकुल है। वह उदाहरण है **"जीवन के उत्कृष्ट निर्वाह"** (Fine conduct of life) का, **जिसका स्रोत उन प्रतिक्रियाओं के लालित्यपूर्ण विन्यास में है जो इतनी सूक्ष्म हैं कि साधारण नैतिक सूक्तियाँ उन्हें छू नहीं सकतीं। रुचि-विचार अथवा असंस्कृत प्रतिक्रियाएँ किसी अन्यथा प्रशंसनीय व्यक्ति में, मात्र त्रुटियों के ही समान नहीं होतीं। वस्तुतः वे मौलिक दोष हैं जिनसे अन्य दुर्गुणों का जन्म होता है।"** इस प्रकार यह मूल्य-सिद्धान्त, कला को एक प्रकार का सौन्दर्यवादी धर्म बना देने का प्रयास है, जो बरबस पेटर की याद दिला देता है।

रिचार्ड्स की धारणा है कि केवल धर्म ही नहीं, सभी बँधी-बँधाई मान्यताएँ कविता की विरोधी हैं। उसके अनुसार समस्त काव्य ने यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण भावनाएँ बिना किसी विश्वास की मध्यस्थता के, जाग्रत और पुष्ट की जा सकती हैं। हमें ध्यान रखना है कि कवि जो कुछ कहता है, आवश्यक नहीं कि वह सत्य ही हो। **"उसकी वाणी भावना में फूटती है"** न कि तर्क अथवा दर्शन में। यह नहीं कि कवि की अर्ध-प्रतिज्ञा (Pseudo-statement) अनिवार्यतः झूठ ही हो। वह एक शब्द-विन्यास-मात्र है, जिसकी वैज्ञानिक सत्यता या असत्यता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी रिचार्ड्स शीघ्र ही इस परिणाम पर पहुँचती है कि विज्ञान हमें अपने और संसार के विषय में अधिक स्पष्ट ज्ञान देकर कविता को नष्ट करता जा रहा है। जब तक कवि एक शिशुवत् मुग्धता की स्थिति में पड़ा रह सकता था, वह अपनी कल्पना के ताने-बाने बुनने के लिए स्वतन्त्र था। लेकिन अब, जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके बहुत से वक्तव्यों और निश्चित यथार्थ में टकराहट पैदा होती जाती है, उसके लिए दो ही रास्ते रह गए हैं, या तो वह जादू की दुनिया में लौट जाय या मानसिक अनुर्वरता का शिकार बने। विज्ञान ने अतीत के उस समस्त प्रतीक-कोष को ही खतरे में डाल दिया है जिससे कविता की जाली बुनी जाती थी। विज्ञान हमारे ऊपर जगत् की एक यथार्थवादी दृष्टि लादता चला जा रहा है, जो रिचार्ड्स को अपनी समस्त वैज्ञानिक प्रणाली के बावजूद, अंगीकार्य नहीं है। वह एक प्रकार के अकेलेपन, अनिश्चय और अर्थहीनता की भावना की शिकायत करता है; और उस जीवनदायी रस के लिए तड़पता है जो उसे लगता है कि 'सहसा सूख गया है।' रिचार्ड्स की ये बातें एक धार्मिक तृषा और पुराने रहस्यवादी प्रमाणों और पूर्णताओं की स्पृहा की भाँति मालूम पड़ती हैं; उसी जीवनदायी विश्वास की भाँति, जिसकी प्यास इलियट को भी तड़पाती है।

जिस समय रिचार्ड्स मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाव में अपने 'प्रिन्सिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (Principles of Literary Criticism) का आयोजन कर रहा था, उक्त शास्त्र की प्रक्रिया राबर्ट ग्रेव्ज (Robert Graves) जैसे व्यक्तियों में कुछ अधिक अबाधित रूप में हो रही थी। 'काव्यात्मक निर्विवेक' (Poetic Unreason) जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा कविता और स्वप्न एवं अचेतन मन के बीच के अस्पष्ट और अनिश्चित क्षेत्र को पहले-पहल नापने का प्रयास किया गया। आलोचना का यह पहलू, जिसे हर्बर्ट रीड (Herbert Reed) ने और भी विकसित किया, अति यथार्थवाद में परिणत हुआ और समकालीन अंग्रेजी साहित्य तथा समालोचना पर उसने गम्भीर प्रभाव डाला है। फिर भी, फ्रायड के मनोविज्ञान की छाप साहित्यालोचन पर मूल्य-निर्देशन की दृष्टि से उतनी नहीं पड़ी जितनी उद्भव की दृष्टि से। इसकी चेष्टा की गई कि साहित्यिक कृतियों की व्याख्या उनके मनोवैज्ञानिक स्रोतों के संदर्भ में की जाय। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या और कृति के मूल्य में सम्बन्ध क्या है, इस पर साधारणतः प्रकाश नहीं डाला गया। वस्तुतः समालोचना का यह निकाय एक प्रकार की इतिहास-प्रणाली है, जो निर्णयात्मक नहीं है। इतिहास—अर्थात् किसी कृति को प्रेरित करने वाली परिस्थितियों की व्याख्या—के रूप में यह प्रणाली उस परम्परागत 'पृष्ठभूमि और प्रभाव' वाली शैली से केवल पद्धति में ही भिन्न है,(उद्देश्य में नहीं) जिसका प्रतिपादन उसी काल में वर्जिनिया वुल्फ (Virginia Wolf)-जैसे आलोचकों द्वारा हो रहा था। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने साहित्यालोचन के लिए एक ही साथ चुनौती और सहारे दोनों का काम किया। निस्सन्देह इस शास्त्र ने काव्य-सृजन के उन अँधेरे क्षेत्रों को प्रकाशित करने में सहायता दी जिसकी देहरी से आगे परम्परावादी आलोचक नहीं जा सके थे। लेकिन इस नये ज्ञान ने जिस दृश्य का उद्घाटन किया वह बहुत रुचिकर नहीं था। इसीलिए रिचार्ड्स ने इसके सम्बन्ध में कहा कि **"शास्त्रों और विज्ञानों में सबसे अधिक घातक शास्त्र का कार्य तो अब प्रारम्भ हो रहा है,"** यद्यपि स्वयं रिचार्ड्स की पद्धति का उद्गम इस शास्त्र में ही था। रिचार्ड्स की आशंका है कि हमारे विश्वासों पर मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव पड़ने से एक मानसिक उच्छृङ्खलता (Mental chaos) का जन्म होगा, क्योंकि मनोविश्लेषण के उपरान्त हमारी भावनाओं और वृत्तियों के समर्थन में मात्र शारीरिक न्याय के और कुछ रह नहीं जाता। बहरहाल,इस नये विज्ञान के मोहक इन्द्र-जाल से समालोचना की रक्षा इन आशंकाओं के कारण नहीं हुई। मूल कारण यह था कि आलोचना का सम्बन्ध सदैव कृति के प्रभाव से अधिक होता है, उसके उद्गम से कम; निर्णय से अधिक, व्याख्या से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम। मूल प्रश्न मूल्यांकन का ही है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव इस कारण भी व्यापक और स्थायी न हो सका कि उसी काल में, बराबर गहरे होते हुए राजनीतिक और आर्थिक संकट के दबाव में पड़कर, आलोचना व्यक्ति से हटकर विस्तृत सामाजिक दृष्टि की ओर बढ़ने लगी। यह विश्वास अधिक-से-अधिक बढ़ने लगा कि व्यक्ति और हमारी समूची संस्कृति का भाग्य आत्म-ज्ञान पर उतना निर्भर नहीं करता जितना सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं की दिशा पर। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव से शक्ति-लाभ करके, समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण ने आलोचना को एक नई दिशा और आग्रह प्रदान किया। रिकवार्ड (Rickward), एडवर्ड अपवार्ड (Edward Upward) तथा राल्फ़ फ़ाक्स (Ralph Fox) जैसे कई नवोदित आलोचकों ने सामाजिक स्रोतों द्वारा साहित्य की व्याख्या करते हुए निबन्ध लिखे। लेकिन फ्रायडवादी आलोचकों की ही भाँति इन्होंने भी उद्गम की व्याख्या एवं कला-कृति के मूल्य के बीच सम्बन्ध पर कोई प्रकाश नहीं डाला। यह बात काडवेल (Caudwell) के 'इल्यूयन एण्ड रियलिटी' (Illusion and Reality) के सम्बन्ध में भी, जो साहित्य के उद्गम पर सबसे अधिक प्रभावशाली मार्क्सवादी ग्रन्थ है, पूर्णतः सत्य है।

इस पुस्तक का मुख्य प्रकरण यह है : वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में सत्य पदार्थ-जगत् का एक अंश लेकर बैठ जाता है और उसकी गति और गुण का इस प्रकार वर्णन करता है जैसे यह अंश ही सम्पूर्ण पदार्थ-जगत् हो। यह वैज्ञानिक भ्रान्ति हुई। इसी प्रकार कवि भी यथार्थ बाह्य जगत् का एक टुकड़ा चुन लेता है और उसकी गति और गुण का वर्णन इस भाँति करता है जैसे वह सम्पूर्ण संसार ही, न केवल उसकी अपनी इच्छा और कल्पना का, बल्कि समस्त मनुष्यों की इच्छा और कल्पना का है। यह काव्यात्मक भ्रान्ति है। सत्य यह है कि अपने पदार्थ-अंश और सम्पूर्ण पदार्थ-जगत् की सापेक्षता के बीच वैज्ञानिक, अपनी आंशिक अनुभूति और इच्छा एवं कल्पना के सम्पूर्ण संसार की सापेक्षता के बीच कवि, ये दोनों ही प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष के दो ध्रुवान्त हैं, जिनकी सतत परिव्याप्ति से ही जीवन-क्रम बनता है। सत्य न केवल पदार्थ है और न केवल चेतना ही। सत्य दोनों के सक्रिय द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में निहित है। मनुष्य और प्रकृति, चेतना और पदार्थ के इस निरन्तर संयोग और वियोग के पल-पल परिवर्तित परिणाम का ही नाम सत्य है।

ज्ञान और अनुभव के इस मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर काडवेल अंग्रेजी काव्य के इतिहास को फिर से लिखता है, काव्य-तत्त्व का निराकरण करता है और भविष्य की ओर देखता है। उदाहरणत: उसके अनुसार शेक्सपीयर ने अपनी ट्रैजेडियों में उसी संघर्ष की अभिव्यंजना की है जिसे हमने आगे चलकर पूँजीवाद के लक्षण के रूप में जाना; जो स्वतन्त्रता के लिए व्यक्ति की अबाध्य लालसा और समकालीन आर्थिक संघटन की रूढ़िग्रस्त वर्जनाओं का संघर्ष है। एंगेल्स के अनुसार **"अनिवार्यता का परिज्ञान ही स्वतन्त्रता है"** और चूँकि रोमियो, जूलियट, मैकबेथ और ओथेलो के पास उक्त परिज्ञान नहीं था इसलिए उन्हें ट्रैजेडी का शिकार होना पड़ा।

काव्य के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, काडवेल की स्थापना है कि कविता की अवश्यम्भावना व्यक्ति अथवा प्राकृतिक और सामूहिक अथवा सभ्य मानव के बीच होने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष पर आधारित है। काव्य का सत्य उसके वक्तव्यों में नहीं, बल्कि उस सामूहिक भावावेग में है, जिसकी अभिव्यक्ति उसमें होती है। कविता के चित्र स्वप्न-चित्रों के ही समान होते हैं, परन्तु कवि अपनी चित्रावली से भावना की अभिव्यक्ति करता है और उसे न केवल व्यक्तिगत, बल्कि सामाजिक मूल्य प्रदान करता है।

एक पक्का कम्युनिस्ट होने के नाते, काडवेल का विचार है कि महान् कला का सृजन वर्गहीन समाज में होगा। इस बीच श्रमिक वर्ग अपनी अभिव्यक्ति मध्यवर्गीय शब्दों और धारणाओं के माध्यम से करने का प्रयास कर रहा है तथा मध्यवर्गीय लेखकगण अपनी धारणाओं को श्रमिकवर्गीय व्यवहार में उतारने की चेष्टा कर रहे हैं। परिणामस्वरूप हमारे सामने है संक्रान्तिकालीन कला की यह आत्म-चैतन्यता।

फ्रायडवाद की ही भाँति मार्क्सवाद को भी इंग्लैण्ड में शक्तिशाली समर्थक मिले। परन्तु इन दोनों ने आलोचनात्मक सिद्धान्त और व्यवहार की विशाल धारा में, जिसका मुख्य सम्बल आज भी परम्परा में ही है, कुछ विविधता भरने का योगदान किया है, यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं कि इन दोनों वादों ने साहित्यालोचन में दो ऐसे तत्त्वों को प्रविष्ट किया है जो हमारे युग के ज्ञान और जागरूकता का स्पष्ट और मूर्तिमान प्रतिनिधित्व करते हैं। यह सत्य है कि 'विशुद्ध काव्य' का इन्द्र-जाल लगभग छिन्न-भिन्न हो गया है, परन्तु यह भी सत्य है कि अधिकांश आलोचकों ने नये समाज-शास्त्र के तन्त्र को भी नहीं माना है। अभी भी, रेटसन (Rateson) के शब्दों में साहित्यिक संदर्भ की भावना (sense of literary context) ही आलोचना की वृत्ति है। अर्थात्, अभी भी आलोचना का प्रयास यही है कि नई सामाजिक चेतना के साहित्य को अपूर्व अनुभव के रूप में ग्रहण करने वाली मान्यता के साथ समन्वित किया जाय; मूल के ज्ञान और सौरभ के सुख के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाय। इलियट के बावजूद भी एबर क्राम्बी (Aber Crombie) और मिडलटन मरी (Middleton Murry) जैसे विशिष्ट आलोचकों में रोमाण्टिक परम्परा प्रवाहित रही। एबर क्राम्बी ने काव्य का समाहारात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसमें अधिकतर रोमाण्टिक प्रतिज्ञाएँ सम्मिलित हैं। मिडलटन मरी में रोमाण्टिक धारा की रहस्यवादी और तत्त्ववादी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। आलोचनात्मक परम्परावाद के अन्य स्रोत भी हैं। जी० के० चेस्टर्टन (G. K. Chesterton) के साहित्य-दर्शन पर उसकी भावुकतापूर्ण नैतिक इतिहास-दृष्टि का रंग है। एफ० एल० लूकास (F. L. Lucas) ने एक 'साधारण बुद्धिवादी आलोचक' (common sense critic) के रूप में हारे हुए रोमाण्टिक आदर्शवाद पर प्रहार किया। सी० एस० लीविस (C. S. Lewis) की दृष्टि में ऐंग्लिकन मध्यम मार्ग के साथ धार्मिक आग्रह है।

विद्वत्तावादी आचार्य-परम्परा का भी सेण्ट्सबरी के साथ अन्त नहीं हो गया। ओलिवर एलटन (Oliver Elton), क्विलर कूच (Quiller-Couch), एडमण्ड चैम्बर्स (Edmund Chambers) तथा हरबर्ट ग्रियर्सन (Herbert Grierson) आदि कुछ आलोचकों ने निस्सन्देह साहित्यालोचन के क्षेत्र में विद्वत्ता, गम्भीरता और व्यापक दृष्टि का उन्नयन किया है, जो अंग्रेजी आलोचना की विशेषता रही है।

इस लेख में समकालीन आलोचना के क्षेत्र में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के योग-दान का आकलन करना सम्भव नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समीक्षात्मक विचारधारा पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। नये-नये साहित्यिक निकायों के समर्थन में, अनेक पत्रों का प्रकाशन हुआ है और उनके विचारों के संघर्ष ने अधिकाधिक पाठकों को अन्वेषण और पुनर्मूल्यांकन के लिए विवश किया है। इन माध्यमों में व्यक्त आलोचना का विस्तार बहुत बड़ा है—गम्भीर विद्वत्तापूर्ण अध्ययन से लेकर मात्र साहित्यिक फतवे तक कि "इससे काम नहीं चलने का।" परन्तु पत्रिकाओं में प्रकाशित अधिकतर लेख मूल्यवान और पठनीय हैं और उनका उपयोग केवल तात्कालिक ही नहीं समझा जाना चाहिए। वस्तुतः गौरवपूर्ण ग्रन्थों की अपेक्षा इन पत्रिकाओं में ही बीसवीं शताब्दी के साहित्यालोचन को अपना स्वरूप प्राप्त हुआ है। इन्हीं पत्रिकाओं में रूढ़ियों के विरुद्ध कठिन संघर्ष हुआ है और नई आवश्यकताओं की स्पष्टतम अभिव्यक्ति हुई है। एक प्रमुख पत्रिका के शब्दों में "हमारी समझ में 'स्क्रूटिनी' का कार्य है, **और वस्तुओं के साथ एक प्रभावपूर्ण 'समकालीन भावग्राह्यता' के निर्माण में सहायता पहुँचाना।**" शिक्षा के प्रसार और यातायात के व्यापक साधनों के विकास के साथ, साहित्य के अध्ययन का महत्त्व बढ़ना अनिवार्य ही था। इस प्रकार न केवल साहित्यिक कृतियाँ ही, बल्कि समकालीन संस्कृति का ताना-बाना ही आज साहित्यालोचन का विषय बन गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

आई० ए० एक्स्ट्रॉस

वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन

समाज में आज एक गहरा परिवर्तन हो रहा है और इसके फलस्वरूप स्थापित मान्यताओं को एक आघात पहुँचा है। निर्विवाद रूप से मान्य धारणाएँ, जिन पर सभ्यता आधारित थी, आज तिरस्कार का विषय बन गई हैं। अक्षुण्ण माने जाने वाले सांस्कृतिक आधार तथा पवित्र माने जाने वाले मूल्यों का अस्तित्व आज खतरे में है। हम एक नई व्यवस्था के प्रसूति कष्ट को देख रहे हैं, और बहुत सतही दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति ही कह सकते हैं कि मात्र एक आर्थिक पुनर्संगठन से हमारी सारी समस्याएँ सुलझ जायँगी। जैसा हम स्वयं देखेंगे, यह वस्तुतः मानव का आध्यात्मिक संकट है, केवल भौतिक परिस्थितियों का असन्तुलन-मात्र नहीं।

पश्चिम इस क्रान्तिकारी संकट से होकर गुजर रहा है, किन्तु हम पूर्व वाले निश्चेष्ट होकर नहीं बैठे रह सकते। हम पश्चिम की अव्यवस्था को एक तटस्थ दर्शक के दृष्टिकोण से देखने का साहस नहीं कर सकते, क्योंकि हम स्वयं भी इससे अलग नहीं हैं। चीन और कोरिया, यहाँ तक कि अगम्य तिब्बत भी इस बात के प्रमाण हैं कि हम इतिहास से अपने-आपको विलग नहीं कर सकते।

संकट का उदय

इस आधुनिक घोर अव्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व यह देख लेना उचित होगा कि हम इस स्थिति में किस प्रकार पहुँच गए। यदि हम पिछली दो शताब्दियों को देखें तो हम उन तीन विभिन्न परन्तु घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध धाराओं को पहचान सकते हैं जिन्होंने सम्मिलित होकर मानवता को क्रान्ति के उमड़ते हुए प्रवाह में खींचा। यह नहीं कि मनुष्य बाह्य शक्तियों से अनुशासित एक असहाय कठपुतली-मात्र है, क्योंकि ये आत्म-विघटन की शक्तियाँ तो स्वयं उसीने जान-बूझकर बनाई हैं। ये तीन धाराएँ थीं औद्योगिक पूँजीवाद, विज्ञान और दर्शन, और इन्हीं तीनों को मनुष्य ने खुशी-खुशी अपने-आपको समर्पित कर दिया—इस आशा में कि ये उसे उसके आदर्श मनोराज्य तक पहुँचा देंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रिनेसाँ' के भावुकतापूर्ण बारूद का विस्फोट फ्रांसीसी क्रान्ति में हुआ और एक नये विश्वास को जन्म मिला—ऐसा विश्वास जो स्वतःचालित एवं स्वतःपूर्ण मनुष्य में था। नये मनुष्य के सामाजिक आदर्श 'स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व, समानता' के नारे में व्यक्त हुए। यह फ्रांसीसी क्रान्ति का सामाजिक घोषणा-पत्र था और यह मनुष्य में आस्था पर आधारित था। यह औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि है।

पश्चिम में औद्योगिक पूँजीवाद, जिस रूप में यह वस्तुतः विकसित हुआ, अपने प्राकृतिक विकास के लिए एक भौतिक दर्शन की अपेक्षा रखता था। आर्थिक लाभ इसका प्रमुख उद्देश्य था और मानवीय व्यक्तित्व का बलिदान मशीन तथा भौतिक वस्तुओं के लिए किया गया। लिबरल युग या औद्योगिक पूँजीवादी मानवीय उच्चता तथा स्वातन्त्र्य श्रेय तथा सौन्दर्य-जैसे मानव-मूल्यों की चिन्ता नहीं करता था; अर्थ और शक्ति, यही दो ऐसे मूल्य थे जो उसके निकट वस्तुतः आदरणीय थे और यही मूल्य अन्ततोगत्वा उसकी सभ्यता की स्वीकृत मान्यताएँ बन गए। वह व्यक्ति जो अपने कर्मचारियों को मनुष्य की भाँति देखता था और उनकी भलाई के लिए कुछ करना चाहता था, उस आदर्शवादी के रूप में व्यंग और उपहास का भागी होता था, जो व्यापार में भी भावुकता को अक्षुण्ण रखता है। इस प्रकार के मानवीय पूँजीवादी आत्मिकता से हीन 'मुक्त प्रतियोगिता' की स्थिति में किसी भी प्रकार अवशिष्ट न रह सके। १९वीं शती के पूँजीवादियों की आत्म-सन्तुष्ट निश्चेष्टता आज हमें चौंका देती है। यद्यपि उन्होंने क्रिश्चियन धर्म के उस मिलावटी रूप को (अर्थात् प्रोटेस्टेण्ट रूप को) अपनाने का ढोंग रचा था, फिर भी उनका व्यापार निश्चित रूप से भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर चलता था।

औद्योगिक पूँजीवाद को बूर्ज़्वा दार्शनिकों और वैज्ञानिकों से काफ़ी सहायता मिली और वे भौतिकवाद को एक आदरणीय रूप देने में सफल भी हुए। ये दार्शनिक कांट के बुद्धिवाद तथा हीगेल के आदर्शवाद को छोड़कर, जहाँ तक अतिभौतिक तत्त्वों तथा धर्म का सम्बन्ध है, नितान्त अनीश्वरवाद की स्थिति में पहुँचे।

फ्यूएरबैख ने अपनी दो पुस्तकों 'एसैन्स ऑफ़ क्रिश्चिएनिटी' तथा 'एसैन्स ऑफ़ रिलीजन' में धर्म के समस्त अतिप्राकृत तत्त्वों को नष्ट करने का प्रयत्न किया और उसका मनुष्य के उन्नयन का सिद्धान्त केवल इसीलिए आयोजित किया गया था।

विरोधी धारणाओं के बावजूद फ्यूएरबैख अधार्मिक व्यक्ति नहीं था; इसके विपरीत वह मनुष्य को मूलतः एक धार्मिक प्राणी मानता था। उसने केवल अनीश्वरवादियों का वह खतरनाक प्रयोग-भर किया था, जिसमें 'अनजाने ईश्वर' का स्थान मनुष्य को दिया जाता है।

फ्यूएरबैख का सिद्धान्त मार्क्स और एंगेल्स के समक्ष एक नई दृष्टि के रूप में आया, जब वे हीगेल की विचारधारा के आन्तरिक विरोधों को लेकर उलझे हुए थे। वे हीगेल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के प्रशंसक थे, परन्तु उसका 'परम भाव' (absolute idea) उनके लिए निरर्थक था। ऐसी स्थिति में फ्यूएरबैख ने उनका मार्ग-प्रदर्शन किया। जैसा एंगेल्स कहता है, "एक ही आघात में **उसने अन्तर्विरोध को चूर-चूर कर डाला और बिना किसी घुमाव-फिराव के उसने भौतिकवाद को फिर स्थानासीन कर दिया।**" इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ्यूएरबैख को एक भौतिकवादी के रूप में सिद्ध करना, दर्शन के विकास में मार्क्स की अपनी वैयक्तिक देन है। फिर भी यह बात महत्त्वपूर्ण है कि लेनिन ने जर्मन दर्शन, अंग्रेजी राजनीतिक 'अर्थशास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फ्रांसीसी समाजवाद को मार्क्सीय विचारधारा के तीन स्रोत तथा तीन अंग माना है। प्रोफेसर गिलसन के शब्दों में "अपनी पुस्तक, मैटीरियलिज़्म एंड एंपिरिको-क्रिटिसिज़्म' में चालीस बार से भी अधिक लेनिन अपने दर्शन में उस केन्द्रीय स्थिति को फिर-फिर स्वीकार करता है कि ह्यूम ने कांट को जन्म दिया, और फिर कांट ने मिल, मैख़, हक्सले, कोहेन, रिनौवियर, पोइनकेयर, ड्यूहेम, जेम्स और उस वाद के सारे प्रवर्त्तकों को जन्म दिया जिसे वह 'ह्यूमैन ऐगनौस्टिसिज़्म' कहकर अभिहित करता है।" १९वीं शती के बौद्धिक वातावरण में मार्क्सीय भौतिकवाद बहुत स्वच्छन्दतापूर्वक विकसित हुआ। इसका केवल यही अर्थ हो सकता है कि तत्कालीन वातावरण ही स्वयं एकदम भौतिकवादी था। दार्शनिक भौतिकवाद को विज्ञान की प्रगति से सहारा मिला और वर्तमान शताब्दी में विशुद्ध दर्शन का ह्रास जेम्स के 'बिहेवियरिज़्म', ड्यूई के 'प्रैगमैटिज़्म' तथा फ्रॉयड के 'डिटरमिनिज़्म' के साथ साथ एक नकली विज्ञान के रूप में हो गया है।

वैज्ञानिकों ने भी औद्योगिक पूँजीवाद को सहायता दी। उनके अनुसन्धानों के फलस्वरूप पूँजीवाद के लाभ में ही वृद्धि नहीं हुई, वरन् भविष्यवक्ताओं की हठवादिता के साथ उन्होंने विज्ञान के नाम पर भौतिकवाद तथा निश्चयवाद की भी स्थापना की। इन लोगों ने वैज्ञानिक मानववाद के सिद्धान्त का प्रचार किया। इनके वैज्ञानिक मानववाद का अभिप्राय मनुष्यों की उस नई जाति से था जो यूगैनिक्स विज्ञान के आधार पर पाली-पोसी गई हो, जिसको विकसित करने में हाईजीन के सिद्धान्तों का सहारा लिया गया हो, जिसका संगठन समाज-शास्त्र के नियमों के अनुसार हुआ हो, जिसकी परवरिश अर्थशास्त्र के नियमों के अनुसार हुई हो और जिसका मनोरंजन सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया हो। वैसे यह सब बहुत वैज्ञानिक था, परन्तु उसमें व्यक्ति की स्वतन्त्र आत्मा के लिए कोई स्थान न था। और जब मार्क्सवादियों ने इस वैज्ञानिक स्वर्ग को एक वास्तविकता के रूप में परिणत करना चाहा तो पाश्चात्य संसार इसकी अपनी धारणाओं के भयंकर परिणामों को सोचकर चकित हो गया।

यह निश्चित है कि पश्चिम में ऐसे बहुत से महान् विचारक तथा दार्शनिक थे, जिन्होंने भौतिकवाद को बुद्धि तथा मानवीय प्रकृति के निकृष्ट विश्वासघात के रूप में अमान्य ठहराया। इन महान् चिन्तकों में थे बर्गसाँ, क्लौडैल, मारिटेन, वर्ड्येव तथा अन्य बहुत से क्रिश्चियन मनीषी। पोप पद को ग्रहण करने वाले व्यक्तियों ने भी बार-बार पूँजीवाद तथा भौतिकवाद की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया; परन्तु उनको रहस्यात्मक तथा प्रक्रियावादी ठहराकर उनका तिरस्कार किया गया। फलतः हमारी शताब्दी ने एक ऐसी सभ्यता के आश्चर्यजनक अन्तर्विरोधों को देखा, जिसकी मौलिक धारणाएँ भौतिकवादी थीं, परन्तु जिसकी कामनाएँ वस्तुतः आध्यात्मिक थीं और जो इसलिए भौतिकवाद के प्रसंग में निरर्थक एवं अप्राप्य बनी रहीं। अन्तर्विरोध की इस स्थिति में ही आधुनिक संकट का उदय होता है।

अब हम बहुत संक्षेप में इस संकट से प्रभावित कुछ क्षेत्रों का निरीक्षण करेंगे। हम यह ऊपर कह चुके हैं कि यह एक सम्पूर्ण संकट है और इसने मानव-जीवन के उस प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है, जिसके कारण स्वयं मानव-जीवन को अपने मूल्य तथा मान्यताएँ मिलती हैं। क्योंकि अन्य सारे मूल्य अन्ततोगत्वा सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के मौलिक तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं, इसलिए हम अपना विवेचन इन्हीं तीनों तत्त्वों तक सीमित रखेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकटग्रस्त विज्ञान : सत्य का विघटन

मानस के एक उत्कृष्ट निबन्ध 'दी कंडीशन्स ऑफ़ फ्रीडम'[१] के अनुसार, "सबसे पहले भूतविज्ञानियों ने आधुनिक भौतिकवाद के अन्ध सिद्धान्तों को जन्म दिया था, जिसका कारण कदाचित् यह था कि अपने पेशे की आदतों के अनुसार वे ब्रह्माण्ड को एक विराट् मशीन समझते थे।" विज्ञान की प्रतिष्ठा और एक औद्योगिक सभ्यता के मानसिक वातावरण के कारण वैज्ञानिकों को भविष्य का द्रष्टा तथा निर्माता माना जाता था। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए आज का मनुष्य उन वैज्ञानिकों का मुँह देखता है, परन्तु उन्होंने उसको निराश कर दिया है।

विज्ञान, जो अपनी प्रकृति के अनुकूल ही, भौतिक पदार्थों के तत्त्वों और व्यवहारों के परीक्षण, गणन तथा व्यवस्थित करने तक ही सीमित है, स्वभावतः हो उन महान् सत्यों तक पहुँचने में असमर्थ है, जो मनुष्य से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, जैसे ईश्वर का अस्तित्व, मानव की प्रकृति तथा स्वातन्त्र्य, उसकी अत्यन्त गहरी महत्त्वाकांक्षाओं का अर्थ इत्यादि। परन्तु इससे भी वैज्ञानिक विचलित नहीं हुए। उन्होंने इन वस्तुतः महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को अनावश्यक कहकर एक ओर कर दिया और इनके स्थान पर वैज्ञानिक मानववाद को प्रश्रय दिया। जूलियन हक्सले, वेल्स, रसेल तथा और भी बहुतों ने इस विचारधारा का बहुत उत्साह के साथ प्रचार किया, जिस उत्साह को किसी और अच्छे काम में लगाया जा सकता था, और साधारण जनता ने विज्ञान के इन महन्तों की बात को सन्देह की दृष्टि से देखने का साहस भी नहीं किया। इन वैज्ञानिकों ने बताया कि विज्ञान ने ईश्वर की कपोल-कल्पित कथा को विनष्ट कर दिया है और साधारण जनता इस बात से प्रभावित हुई। उन्होंने यह भी कहा कि विज्ञान धर्म के विरुद्ध है, मनुष्य भौतिक तत्त्वों का एक उच्च कोटि का संघटन-मात्र है और केवल वास्तविक भौतिक पदार्थ ही है। यह सत्य का बड़ा विश्वासघात था, जिसे हमारी शताब्दी ने देखा।

पहली बार देखने पर लोगों को वैज्ञानिक मानववाद आकर्षक जान पड़ा, परन्तु शीघ्र ही उसका अमानवीय रूप उनके सम्मुख आया। इसने मनुष्य की महत्ता को नष्ट कर दिया। जैसा जूलियन हक्सले ने अपनी पुस्तक 'मैन स्टैंड्स अलोन' में स्वीकार भी किया है: **"डार्विन की विचारधारा के स्वाभाविक परिणामों का सामना किया गया, जिसके अनुसार मनुष्य भी और जानवरों के समान ही है। अतः उसके वे विचार जो मानवीय जीवन तथा मानवीय आदर्शों के गहरे अर्थों से सम्बद्ध हैं, शाश्वत (अथवा विकास) के प्रकाश में विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं रखते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे एक कीटाणु अथवा केंचुए की स्थिति उपेक्षणीय हो सकती है। अवशिष्ट रहना ही विकास में सफलता की एक-मात्र कसौटी है; अतः सारी जीवित वस्तुओं का महत्त्व एक समान है।"** यह एक दयनीय स्थिति है और इसीलिए मनुष्य वैज्ञानिक मानववाद से सन्तुष्ट नहीं हो सका। उसका विश्वास था कि वह विज्ञान के सम्मुख अपनी आत्मा का समर्पण करके सारे संसार का स्वामी हो सकेगा, परन्तु विज्ञान ने उसकी स्थिति को एक तुच्छ कीड़े की स्थिति से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना।

इसके अतिरिक्त विज्ञान ने मनुष्य की स्वतन्त्रता नष्ट कर दी, क्योंकि निश्चयात्मक परिस्थितियों में स्वतन्त्रता बेमानी हो जाती है। जैसा कि मार्क्स और कॉडवैल ने बार-बार कहा है, एक बूर्ज्वा भौतिकवादी के लिए स्वतन्त्रता कोरा भ्रम है; वह केवल **"आवश्यकता का अज्ञान**

१. थॉट, अक्टूबर १७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है जिसमें कि व्यक्ति को कार्य करना पड़ता है।" फ्रॉयड के अनुयायी निश्चयवादियों ने यह तय पाया कि मनुष्य के सारे कार्य भौतिक अथवा शारीरिक परिस्थितियों, वंशानुक्रम तथा वातावरण द्वारा निर्धारित होते हैं। वैज्ञानिक मानववाद के फलस्वरूप मनुष्य जिस दयनीय परिस्थिति को पहुँच गया है, उसका बहुत ही सशक्त वर्णन बर्ट्रेण्ड रसेल ने किया है : "मनुष्य का जीवन बहुत अल्प एवं असहाय है; उस पर और उसकी सारी जाति पर मृत्यु का धीमा परन्तु निश्चित, निर्दय और अँधेरा पंजा गिरता है। अच्छाई और बुराई को बिना देखे, तथा बिना ध्वंस की कोई चिन्ता किये हुए, सर्वशक्तिमान भौतिक तत्त्व बिना रुके हुए आगे बढ़ता रहता है। मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने मस्तिष्क को उस अपरिहार्य निर्दयता से मुक्त रखे, जो उसके बाह्य जीवन की नियामक है; और इसके साथ-ही-साथ वह उन अनिवार्य तत्त्वों का भी सामना करता रहे, जो एक क्षण के लिए उसके ज्ञान और उसकी भर्त्सना को सहन कर लेते हैं।"[1]

किसी पुराने धार्मिक गीतकार ने कहा था : "मनुष्य ऐसा क्या है जिसके लिए तू इतना चिन्तित है ? तूने तो उसे देवदूतों से ज़रा-सा ही कम बनाया है।" फिर भी यहाँ ऐसे आधुनिक हैं जिन्होंने विज्ञान (जिसका अर्थ विवेक होना चाहिए) के नाम पर मनुष्य को बुद्धि-हीन भौतिक तत्त्वों से भी नीचे गिरा दिया है। इआगो, द पिटी आफ़ इआगो ! मनुष्य के प्रति कितना विश्वासघात ! सचाई का कितना विकृत रूप !

विज्ञान के नाम पर मनुष्य की ऐसी गिरी हुई स्थिति के प्रसंग में, उसके क्रिया-कलापों के मूल्यों के सम्बन्ध में मार्क्सीय दृष्टिकोण वैसे काफ़ी सच नज़र आता है और यही नहीं, भौतिकवाद के सामान्य धरातल पर इसका बौद्धिक रूप से विरोध भी नहीं किया जा सकता। इसके बजाय कि जिन्दगी ऐसा कूड़ा हो जिस पर कीड़े एक-दूसरे को खा रहे हों, अच्छा है कि जिन्दगी एक नियमबद्ध मक्खी का छत्ता ही बनी रहे।

परन्तु अपने अन्धभक्तों के लिए वैज्ञानिक मानववाद के पास और भी विशेषताएँ थीं। यदि विज्ञान हमारे सम्मुख एक दयालु देवी के रूप में, मनुष्य की स्थिति को सुधारता हुआ और श्रम से बचाने वाले जरियों की संख्या बढ़ाता हुआ आता, तो कदाचित् यह पतन तथा परतन्त्रता किसी हद तक सह्य भी हो जाती और मनुष्य तब कदाचित् इस भ्रम को भी स्वीकार कर लेता कि विज्ञान के भौतिक सुखों के लिए आत्मा का हनन कोई बुरा सौदा नहीं है। परन्तु वैज्ञानिकों ने हमें अणु बम बना दिया है, इस वादे के साथ कि भविष्य में वे और भी बड़े तथा अच्छे बम दे सकेंगे; और इस प्रकार मनुष्य की दुनिया भय के विकराल सपनों से आक्रान्त हो गई है। दुराग्रही भौतिकवाद पर आधारित वैज्ञानिक मानववाद इतिहास का कदाचित् सबसे बड़ा धोखा सिद्ध हुआ है। वैज्ञानिक मानववादी के विरोध में मार्क्सवादी शाइलौक के इन शब्दों को अत्यन्त ही प्रासंगिक रूप में दुहरा सकता है : "जो दुष्टता तुम मुझे सिखा रहे हो, मैं उसे कार्यान्वित करूँगा; और तुम्हारे लिए यह और भी कठोरता के साथ होगा। हाँ, तुम्हारे निर्देशों का पालन मैं अधिक अच्छे ढंग से कर सकूँगा !"

यह हमें निष्पक्षता के साथ स्वीकार करना होगा कि वैज्ञानिकों ने अपनी भूल का अनुभव किया है, और ऊँचे दर्जे के वैज्ञानिकों ने तो जड़ भौतिकवाद की मान्यताओं को अस्वीकार भी कर

१. फ्री मैन्स वर्शिप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है; निश्चयवादी ब्रह्माण्ड में भी उनकी आस्था नहीं रही है। हेसनवर्ग द्वारा अनिश्चयवाद के सिद्धान्त के आश्चर्यजनक आविष्कार के बाद से वैज्ञानिकों में एक नई और स्फूर्तिदायक सौम्यता आ गई है और उन्होंने भौतिक विज्ञान की सीमाओं को भी स्वीकार किया है।

अपनी पुस्तक 'दी मिस्टीरियस यूनिवर्स' में सर जेम्स जीन्स कहते हैं : "तीस वर्ष पहले हमने यह सोचा था, या अनुमान किया था कि हम एक ऐसे अन्तिम सत्य की ओर बढ़ रहे हैं, जो अपनी प्रकृति में एकदम यान्त्रिक है। यह हठात् एकत्र हुए अणुओं का ढेर-सा लगता था, जो अन्धी और निरुद्देश्य शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ-साथ कुछ देर तक निरर्थक उछल-कूद करने को विवश था, और अन्ततोगत्वा इसे एक मृत संसार का भाग बनना पड़ता था...आज तो इस धारणा में सहमति का अंश अधिक है, जो विज्ञान के भौतिक स्तर पर प्रायः एकमत हो जाता है, कि ज्ञान की धारा एक अयान्त्रिक वास्तविकता की ओर बढ़ रही है; ब्रह्माण्ड आज एक महान् विचार के रूप में अधिक लगता है बनिस्बत एक बड़ी मशीन के। मस्तिष्क आज भौतिक जगत् में हठात् योंही घुस आने वाली कोई अवांछनीय सत्ता नहीं जान पड़ता; हमें तो अब ऐसा जान पड़ता है कि मस्तिष्क ही वस्तुतः भौतिक जगत् का निर्माता तथा नियामक है।" विज्ञान का इस प्रकार जड़ भौतिकवाद और उसकी प्रक्रियाओं से विलग होना, आज हमारे लिए अत्यन्त प्रसन्नता और उत्साह का विषय है।

संसार के प्रसिद्ध भूतिविज्ञानी रॉबर्ट ए० मिल्लिकन ने अन्वेषणों की एक महत्त्वपूर्ण माला की समीक्षा करते हुए, जिसके अन्तर्गत सापेक्षिकता का सिद्धान्त और हेसनबर्ग की अनिश्चयवादी सिद्धान्त भी अन्त में आते हैं, निष्कर्ष रूप में कहा था : "फल यह है कि जड़ भौतिकवाद मृत हो चुका है। यदि हम गेलीलियो और न्यूटन की भाँति बुद्धिमान रहे होते तो इसका जन्म ही न हुआ होता।"[1]

जूलियन हक्सले ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि आधुनिक जीव-विज्ञान में भौतिक विकासवादियों के इस सिद्धान्त को प्रारंभिक तथा अवैज्ञानिक कहकर अमान्य कर दिया गया है कि मनुष्य केवल एक अत्यन्त विकसित पशु-मात्र है।[2]

हार्वर्ड के जेम्स बी० कोनेन्ट अपनी पुस्तक 'मॉडर्न साइन्स एण्ड मॉडर्न मैन' में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वैज्ञानिक का सारा अत्याचार अब समाप्त हो चुका है और विज्ञान अब दर्शन तथा विश्वास को अपने से अलग नहीं करता, क्योंकि वैज्ञानिक अब यह बात समझ चुके हैं कि "स्वर्ग और पृथ्वी में बहुत सी ऐसी चीजें हैं जो आसानी से दृष्टिगोचर नहीं होतीं।"

इस परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए कॉडवैल की 'क्राइसिस इन फ़िजिक्स' लगभग ३० वर्ष की देर के बाद ही प्रकाशित हुई। वह केवल एक मरे हुए घोड़े को चाबुक मार रहा था, यद्यपि चाबुक मारने में उसकी अपनी कुशलता थी।

विज्ञान के क्षेत्र में एक और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह है कि वैज्ञानिकों ने अपना उत्तरदायित्व मनुष्यों के रूप में अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है। अभी तक वैज्ञानिक का आदर्श एक भावनाहीन, बेजिम्मेदार अन्वेषण-यंत्र ही था। अनुसन्धान के क्षेत्र में वह अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा करता था, परन्तु उसके परिणामों के लिए वह अपने-आपको जिम्मेदार नहीं समझता था।

१. 'टाइम', मैटर, वैल्यूज़।
२. मैन स्टैंड्स अलोन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके निकट अनुसन्धान के मानवीय तथा नैतिक पक्षों का कोई मूल्य नहीं था। निश्चय ही अनुबंधित विज्ञान से समस्या का कोई हल नहीं हो सकता। जैसा कि वैज्ञानिकों की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में डी॰ दे रूजमैन ने बताया था कि रूस में राजकीय दखल के कारण विज्ञान की प्रगति को काफ़ी धक्का पहुँचा है—"वैज्ञानिकों को लाइसैन्को के अनुसार जीव-विज्ञान पढ़ाना पड़ता था, भाषा-विज्ञान का आदर्श स्तालिन था, और इतिहास का अध्यापन उन्हें बेरिया की होने वाली आत्मस्वीकृतियों को ध्यान में रखकर करना पड़ता था।" इस कांग्रेस के अवसर पर सभी वैज्ञानिक अपने गम्भीर उत्तरदायित्व के संबंध में एकमत थे। यदि एक बार भी मानवीय तत्त्व को प्रवेश मिल सका तो विज्ञान को एक नई दिशा मिल सकेगी, ऐसी आशा है। बुद्धि और आस्था की सेवा में निरत विज्ञान समाज के सुख में वृद्धि कर सकता है। परन्तु जब विज्ञान ही दर्शन का काम करने लगता है, और आध्यात्मिक तथा नैतिक समस्याओं के संबंध में अपने निर्णय देने लगता है, तो वह स्वयं को भी नष्ट करेगा और समाज को भी।

संकटग्रस्त कला : सौंदर्य का विघटन

जब सत्य पर आघात पहुँचता है तो सौन्दर्य और शिव भी प्रभावित नहीं रह सकते। जो भी व्यक्ति आधुनिक शिल्पकला, मूर्तिकला, संगीत, चित्रकला और साहित्य के सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं, वे इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि आज कला के क्षेत्र में एक संकट की स्थिति है। लेनार्डो और पिकासो, माइकेल ऐन्जेलो और ऐपस्टीन, तथा तुलसीदास और सार्त्र के पारस्परिक अंतर को समझने के लिए हमारा कलासमीक्षक होना आवश्यक नहीं। प्रस्तुत निबन्ध आधुनिक कला पर नहीं है, वरन् इसमें उक्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के कारणों को जानने का प्रयत्न-भर किया गया है।

सौंदर्य को पाने की मनुष्य में नैसर्गिक प्रवृत्ति है, और उसके प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदर-मिश्रित भय, आश्चर्य, श्रद्धा और आनन्द के रूप में प्रकट होती है। वह एक ऐसी उपस्थिति का अनुभव करता है जो उससे अधिक गम्भीर और ऊँची है। कलाकार अपने प्रातिभ-ज्ञान तथा दृष्टि के सहारे सामान्य धरातल के नीचे के स्तरों को भी देखता है। चाहे वह ब्रह्मांड हो या मानवीय नाटक, जिसे वह देख रहा है, वह जानता है कि "साधारण रूप से दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुओं की अपेक्षा और भी गहरी चीजें हैं, जो छिपी हुई हैं।" सत्य की भांति ही सौन्दर्य भी आध्यात्मिक जगत् से सम्बद्ध है; और सौंदर्य के मानों में अभिव्यक्त आध्यात्मिक मूल्यों के अतिरिक्त, कला और अंततोगत्वा है भी क्या? इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि महान् कला-कृतियाँ, चाहे वे पूर्व की हों अथवा पश्चिम की, सदैव धर्म से प्रेरित रही हैं। चाहे प्लेटो के अनुसरण में लोगों ने सोचा हो कि भौतिक जगत् वस्तुतः शाश्वत तथा स्थायी रूपों की छाया-मात्र है, और चाहे उन्होंने उपनिषदों के द्रष्टाओं के साथ परमतत्त्व को 'वास्तविक से भी वास्तविक' माना हो और चाहे क्रिश्चियनों की परम्परा में उन्होंने विश्व को निर्माता के तेज से अवाक्, अभिभूत देखा हो, प्रत्येक स्थिति में उन्होंने ब्रह्मांड को ईश्वर के मुख पर लिपटा हुआ एक झीना, पारदर्शक आवरण-मात्र माना है, जो अदृष्ट का बाह्य रूप है। उनके ब्रह्माण्ड के दिव्य तथा शाश्वत आयामों ने आश्चर्य तथा आदरमिश्रित भय को सम्भव ही नहीं, वरन् अपरिहार्य भी बना दिया है। अपने रूमानी कथनों में वे कदाचित् कुछ सीधे तथा मुग्ध-से लगते हैं, परन्तु उनसे प्रसूत कला उनकी आध्यात्मिक स्थिति की गहराई का भली-भांति परिचय देती है। उनके लिए ब्रह्मांड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कुरूपता, भद्दापन तथा अकिंचनता को दिव्य शक्तियाँ ही दूर करके, उसे सौंदर्य से आवेष्टित करती हैं। अपने जड़ भौतिकवाद के साथ वैज्ञानिक मानववादियों ने अपने-आपको एक ऐसे तीन आयामों से युक्त ब्रह्मांड में बंदी पाया है, जिसमें से दिव्य तत्त्व को अलग कर दिया गया है, जिस में कोई आन्तरिक गहराई नहीं है, और जिसमें से कुरूपताएँ और बुराइयाँ न तो बहिष्कृत की जा सकी हैं, और न जिनका बहिष्कृत किया जाना सम्भव ही है। भौतिकवाद स्पष्ट ही सौंदर्य का निषेध है, क्योंकि वह मनुष्य की दृष्टि को इस ब्रह्मांड के तत्त्वों और यांत्रिक स्थिति में ही सीमित कर देता है। भौतिकवादी व्यक्ति एक कारीगर हो सकता है, कलाकार नहीं!

उद्योगवाद द्वारा प्रसूत सभ्यता सचमुच एक कुरूप वस्तु है। क्या एक औद्योगिक नगर से भी घृण्य कोई चीज हो सकती है, जिसमें लाखों श्रमिक टूटी-फूटी और घनी बसी हुई कोठरियों में रहते हैं, जिसकी चिमनियाँ धुआँ उगलकर वायु को दूषित करती रहती हैं, और जिसके शोरो-गुल का कोई अंत नहीं होता? वह औद्योगिक कुशलता को प्राप्त करने के लिए भले ही यत्न कर ले, परन्तु वह मनुष्यों को सौंदर्य से विहीन जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर देता है। इससे यह संभव हो सकता है कि अस्तित्व स्थिर रखने की कठोर प्रतियोगिता से दबे हुए, ये लाखों पिसते हुए व्यक्ति एक मूक भाग्यवाद के साथ इन भद्दी और कुरूप जिन्दगियों के सामने अपने घुटने टेक दें, परन्तु वे कलाकार जिनमें अलौकिक प्रतिभा है इस भौतिकवादी जगत् के गंदे और अमानवीय नरक के सामने आत्म-समर्पण नहीं कर सकते। इसीलिए बहुतेरे सिन्क्लेयर लुइस और आल्डेस हक्सले उस सभ्यता की अमानवीयता की भर्त्सना कर रहे हैं, जो बैबिट और मेन स्ट्रीट की स्थिति के लिए जिम्मेदार है। हाँ, उनमें हमें डिकेन्स की वह अकृत्रिम करुणा और सहानुभूति नहीं मिलती, क्योंकि उनमें डिकेन्स जैसी आस्था नहीं है।

सैवैरिनी के शब्दों में, **"प्रत्येक कला-कृति विश्व के प्रति एक दृष्टिकोण को प्रकट करती है, और इसीलिए वह ज्ञान तथा चिंतन के एक ढंग की, या संक्षेप में एक दर्शन की, भी परिचायक होती है।"** जैसा हम स्वयं ऊपर देख चुके हैं, भौतिकवाद दर्शन के प्रति विश्वास-घात है, और इसीलिए वह कला तथा सौंदर्य के प्रति भी विश्वासघात है। मार्क्सीय कला के कड़े यद्यपि सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन में, सैवैरिनी ने इस तथ्य को प्रकट किया है कि मार्क्सीय भौतिकवाद तथा सोवियत अनुबन्धन ने रूस की रचनात्मक कला को नष्टप्राय कर दिया है। उन्होंने उसे शासकों के प्रचार, विज्ञापन तथा प्रशंसा का माध्यम बना रखा है। रूसी कला की दयनीय स्थिति पर आन्द्रे जीद ने भी आश्चर्य प्रकट किया है। मार्क्सवादी कम-से-कम अपरि-वर्तनीय अवश्य हैं; एक भौतिक जगत में गणित तथा मशीन से गहरी महत्ता किसी की नहीं हो सकती। वे बूर्ज्वा कलाकार जिनकी आलोचना कॉडवेल ने अपनी 'स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर' में की है, सचमुच ही दयनीय व्यक्ति हैं। वे उन कारणों से दयनीय नहीं हैं जिनका उल्लेख कॉडवेल ने किया है, वरन् वे दयनीय इसलिए हैं क्योंकि उनके दृष्टिकोण में स्पष्टता नहीं है।

पिकासो, सैवैरिनी, दफी, प्रभाववादियों तथा अति यथार्थवादियों जैसे महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य कलाकारों के कृतित्व में एक संघर्ष तथा तनाव की स्थिति मिलती है। ये कलाकार दो तत्त्वों से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं, जो वर्तमान संसार में अत्यन्त ही सामान्य कोटि के हैं। प्रथम तो आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में देखी गई प्रकृति, रोमांटिकवादियों की दयालु देवी नहीं रही है। प्रकृति निर्दय और भयंकर है, विकर्षक फिर भी आकर्षक। सौंदर्य उसमें है, और होना भी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फलतः ये कलाकार प्रकृति को काली के समान किसी रूप में देखते हैं, जिनमें सौंदर्य और कुरूपता, सौम्यता और बर्बरता, प्रेम और घृणा जैसे विरोधी तत्त्व एक साथ ही मिले हुए हैं। इस दृष्टि से देखने पर कलाकार के सौंदर्य की अभिव्यक्ति गम्भीर और प्रशान्त नहीं रह सकती; उसके अन्दर तनाव, संघर्ष और वेदना होनी ही चाहिए। मेरे मतानुसार तो आधुनिक कला में मिलने वाली घोर विकृतियों का यही अर्थ हो सकता है। दूसरे, अन्य बहुत से आधुनिकों के समान ये कलाकार भी चकित एवं भ्रांत हैं; उनकी भ्रमित और डगमगाती हुई कला उनके अन्तर के भ्रम को ही व्यक्त करती है।

मैं तो समझता हूँ कि बैलौक और ऐरिक गिल आधुनिक कला की भर्त्सना, उसे कुरूपता का सम्प्रदाय कहकर, कुछ अधिक कठोरता के साथ करते हैं। वस्तुतः यह तो ऊल जलूल और भदेस में से सौंदर्य को खोज निकालने के लिए कलाकारों का संघर्ष है। यदि मुझे एक उपमा देने का अवसर हो तो मैं तो कहूँगा कि प्राचीन शिष्ट कलाकार प्रकृति की जूलियट का प्रणय-अभिनन्दन करता हुआ एक उत्तेजित और बहुत कुछ अपरिपक्व रोमियो था, जब कि आधुनिक कलाकार अपनी डेस्डीमोना का गला घोंटते हुए उस क्रुद्ध ऑथेलो के समान है, जो उसे विश्वासघातिनी समझता है, परन्तु फिर भी जिसके लिए वह अपने हृदय की वेदना से आक्रांत होकर चीखता है (Lo, Desdemona ! dead, Desdemona ! dead ! oh !)। वह विकर्षित है, फिर भी आकर्षित है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बुराई और कुरूपताएँ आज बहुत अधिक व्याप्त हैं और इन भयानक दृश्यों से घिरे हुए कलाकार को यदि दुश्चक्र और बुराई की गंदगी और कीचड़ के नीचे पड़ी हुई ईश्वर की छवि देखनी है तो उसे अपार विश्वास और दैवी करुणा से युक्त होना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण को आज के कुछ सचमुच महत्त्वपूर्ण लेखक हमारे सम्मुख लाए हैं, चाहे वे ईलियट क्लॉडेल, पीग्वी जैसे कवि हों अथवा ग्रीन, मौरिवाक, बर्नानोज और युग की सीमाओं से रहित डॉस्टॉएव्स्की जैसे उपन्यासकार हों। उनकी विषय-वस्तु प्रायः यथार्थवादी और कहीं-कहीं कुरुचिपूर्ण भी है, उनके पात्र दुष्ट और पापी हैं, परन्तु वे फिर भी उनसे निराश नहीं होते और यही उनके कलाकार की महत्ता है। वे अपनी पिन्की, रोडियन और थेरेसा को एकदम पतित ही नहीं दिखाते हैं, वरन् उद्धार-योग्य दिखाते हैं। ओ' नील, जीद तथा सार्त्र जैसे वे मानववादी, जो केवल स्वतःपूर्ण मनुष्य और प्रकृति में विश्वास रखते हैं, अंततोगत्वा यथार्थवाद के अन्वेषक प्रकाश में निराशा की ओर ही पहुँचते हैं, जो उन्हें कुरूपता, तुच्छता, अन्याय, क्रूरता, कपट और उस साहस के दर्शन कराता है, जिनको लेकर मानव-जीवन के अन्तरतम का यह गुह्य नाटक रचा गया है। इसके विपरीत जिनकी आस्था ईश्वर में है, ऐसे ईश्वर में जो स्नेही, दयालु और उद्धारक है, वे जीवन के सम्बन्ध में अधिक यथार्थ और विश्वास की स्पष्टता के साथ चिंतन कर सकते हैं। वे मानवीय नाटक की वेदना का अनुभव करते हैं—उनसे भी अधिक गहराई के साथ जो अनीश्वरवादी हैं—फिर भी वे निराश नहीं होते। केवल वे ही मानव जीवन के सत्य और चिरंतन महत्त्व की अनुभूति कर सकते हैं। उनके दृष्टिकोण को न्यूमैन ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

> **"आह ! कैसा वैविध्यपूर्ण, रंगीन दृश्य,**
> **आशा और भय, विजय और दुःख,**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहस और पश्चात्ताप के साथ रहा है,
जिसके हमारे नीरस तथा जीवन-पर्यन्त संघर्ष का इतिहास बना है!
उसे शक्ति देने और आगे बढ़ाने का शौर्य,
उसकी आवश्यकता के अवसर पर कितना धैर्य, शीघ्रता और उदारता!"

कला के क्षेत्र में वर्तमान संकट का यही वास्तविक अर्थ जान पड़ता है। इसकी उत्पत्ति जीवन की समुचित दृष्टि और सत्य के अभाव से होती है, क्योंकि सौंदर्य तो अंततोगत्वा सत्य की ही शोभा है। ऐरिक गिल ने ठीक ही कहा है: "सत्य के अन्वेषण में निरत रहो, सौंदर्य अपनी चिंता आप ही कर लेगा।"

संकटग्रस्त नैतिकता : शिवम् का विघटन

जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हैं, वे नैतिकता इस बात में समझते हैं कि मुक्त तथा उत्तरदायी मनुष्य उस दिव्य नियम का अनुसरण करे, जिसका पता बुद्धि से लग सकता है या बुद्धि पर आधारित विश्वास से। अतः वे नैतिकता को परम तथा अपरिवर्तनीय मानते हैं। इसके अतिरिक्त उनके मन में अच्छाई और बुराई, उचित और अनुचित का स्पष्ट अन्तर भी विद्यमान रहता है।

जब बुद्धिवादियों ने नैतिकता का सम्बन्ध विश्वास से तोड़ दिया तो उन्होंने नैतिकता के नीचे स्थित तर्क की आधार-शिला खण्डित कर डाली और इस प्रकार उन्होंने नैतिकता को अच्छाई करने के लिए एक स्वानुभूत तथा अबौद्धिक प्रवृत्ति-मात्र ठहराया। कांट के 'कैटीगोरिक इंपैरेटिव' का यही अर्थ है। आत्मवादी नीतिशास्त्रियों के लिए नैतिकता का एक आदर्श, एक कसौटी का प्रतिष्ठित कर पाना असम्भव था। एक ओर नीत्से ने 'सुपर-मैन' की अहन्ता की स्थापना की और दूसरी ओर बेन्थम के अनुयायियों ने 'हेडनिज़्म' को प्रश्रय दिया, जिसके अनुसार वही काम करना उचित है जिससे सुख मिलता हो। पिछली शताब्दी में सबसे अधिक लोकप्रिय, यूटिलिटेरियन सम्प्रदाय ने यह माना कि व्यावहारिक उपयोगिता ही नैतिकता की कसौटी है। इसी को 'प्रैगमैटिज़्म' कहकर भी अभिहित किया गया, परन्तु वस्तुतः यह प्रच्छन्न उपयोगितावाद ही है। जैसी कि मनुष्य की प्रकृति है, उपयोगितावादी नैतिकता का पतन हुआ, और उसने एक निश्चित सिद्धान्त का रूप ले लिया : "पकड़े मत जाओ" कमजोरों के लिए, और "जो कुछ भी कर सको, करो" शक्तिवानों के लिए।

इसके उपरान्त सापेक्षिकतावादियों का आगमन होता है, जिन्होंने नैतिकता के क्षेत्र में भ्रम को और भी बढ़ाया। वैज्ञानिकों ने यह खोज निकाला था कि विज्ञान के प्राकृतिक नियम गणना पर आधारित हैं, सापेक्ष्य हैं और बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं। उन्होंने नैतिकता के क्षेत्र में भी उसी सापेक्षिकता के सिद्धान्त को लागू किया, और इस प्रकार उनके अनुसार औचित्य और शिवम् की भावना बदलती हुई परिस्थितियों में परिवर्तित हो सकती है। अन्ततोगत्वा नैतिक क्षेत्र में अव्यवस्था को एकदम पूर्ण करने के लिए निश्चयवादी तथा फ्रॉयड के अनुयायी आये जिन्होंने कहा कि अपराध-ग्रन्थि केवल गंदलापन है, क्योंकि मनुष्य के सारे व्यवहार अबौद्धिक तत्त्वों द्वारा अनुशासित होते हैं। उन्होंने नैतिकता को एक सामाजिक रूढ़ि से अधिक कुछ नहीं माना। इस सारे भ्रम के फलस्वरूप नैतिक उत्तरदायित्व की भावना विलीन हो गई, उचित और अनुचित, अच्छाई और बुराई का अन्तर मिट गया, तथा घोर अनैतिकता का साम्राज्य हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। स्वतन्त्रता की भावना ने विकृत होकर मुक्त-भोग का रूप धारण कर लिया। हम पश्चिम और अमेरिका में प्रचलित घोर अनैतिकता की भर्त्सना सुनने के अभ्यस्त हो गए हैं, परन्तु बाहर की अनैतिकता के यही आलोचक इस बात को भुला देते हैं कि हमारे सभी विश्वविद्यालयों में हजारों छात्रों को वे ही नैतिक दर्शन पढ़ाए जा रहे हैं, जिनके कारण यह अव्यवस्था उत्पन्न हो सकी है। विचार को क्रिया से अलग नहीं किया जा सकता, नैतिकता का सम्बन्ध बुद्धि और आस्था से नहीं तोड़ा जा सकता।

इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो मार्क्सवादियों ने इस 'बूर्ज़ुवा नैतिकता' को उठाकर एक किनारे रख दिया, जो मधुर ध्वनिकारी सूत्रों में आवृत गलदश्रु भावुकता तथा उपयोगितावाद-मात्र है। मार्क्सवाद को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि उसने समाज को वन्य नियम के पंजे से बचा लिया और जड़ आधार से विच्छिन्न नैतिक नियमों की कमजोरी को देखा। साम्यवाद उस आधार को देने का वादा करता है। मार्क्सवादी के लिए वह कार्य उचित है जो राज्य की आर्थिक उन्नति में सहारा देता है। निश्चय ही मार्क्सवादियों की इस 'नव्य नैतिकता' के विरोध में बूर्ज़ुवा समाज के सुखवादी, उपयोगितावादी, सापेक्षवादी और निश्चयवादीवर्ग कोई बौद्धिक तर्क नहीं दे सकते। गहरी उपेक्षा के साथ मार्क्सवादी उन्हें करारा जवाब देता है : "तुम्हारी ही मान्यताओं से मैंने यह निष्कर्ष निकाला है" क्योंकि, "जो दुष्टता तुम मुझे सिखा रहे हो, मैं उसे कार्यान्वित करूँगा और तुम्हारे लिए यह और भी कठोरता के साथ होगा! हाँ, तुम्हारे निर्देशों का पालन मैं अधिक अच्छे ढंग से कर सकूँगा।" हम तब तक बुद्धिवाद और दृढ़ नैतिकता को वापस नहीं पा सकते जब तक कि हमारी आस्था ईश्वर और उसके नियम में स्थिर नहीं होती, जो परम है। हमारी आज की सबसे निकृष्ट धारणा यह है कि "जब तक मनुष्य औचित्यपूर्ण कार्य करता है तब तक इस बात की चिन्ता व्यर्थ है कि उसका विश्वास क्या है?" जैसा कि हम स्वयं देख चुके हैं "मनुष्य अपने विश्वास के अनुसार ही व्यवहार भी करता है।"

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी आन्तरिक दायित्व-भावना को पूर्णतया उद्बुद्ध करें। हम स्पष्ट घोषणा करें कि हम मनुष्य की आध्यात्मिक श्रेष्ठता और उसके आध्यात्मिक भविष्य में विश्वास करते हैं क्योंकि जीवन के उच्चतम मूल्य आध्यात्मिक हैं—सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्। मानवता को अराजकता और विनाश से बचाने के भगीरथ प्रयास में सबसे पहले हमें सत्य की पुनर्प्रतिष्ठा करनी होगी। सत्य की प्रतिष्ठा से ही व्यक्ति और समाज दोनों में शिवम् का उदय हो सकता है। किन्तु केवल सत्य का पहचानना ही यथेष्ट नहीं है, उसे नैतिक दायित्व के रूप में ग्रहण कर कर्म में परिणत करना होगा। मानव-समाज के इस आध्यात्मिक पुनर्जागरण में 'सुन्दरम', अपने को पुनः स्थापित करेगा। जब मनुष्य एक बार फिर जीवन-शिल्प का स्वामी बन जायगा तब वह महान् कलाकृतियाँ प्रस्तुत करेगा। उसका सौन्दर्य का स्वप्न स्पष्ट होगा, उसकी कला भी अधिक गहरी और अधिक महान् होगी। इस महान् कार्य में हमें राजनीतिक नेताओं, अर्थशास्त्रियों या कोरे वैज्ञानिकों का मुँह नहीं देखना चाहिए। इस दिशा में हमें हमारे आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक चिन्तक ही आगे का पथ बता सकते हैं। इस दिशा में क्रिश्चियन सिद्धान्त और मूल्य भी महत्त्वपूर्ण हैं जो पश्चिम की आध्यात्मिक सक्रियता के आधार रहे हैं और मानव-इतिहास की क्रान्तिकारी शक्तियों के विधायक रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुमित्रानन्दन पन्त

सन्तुलन का प्रश्न

विचारकों की दृष्टि में हमारा युग एक महान् परिवर्तन तथा संक्रमण का युग है, जिसमें, न्यूनाधिक मात्रा में, संघर्षों तथा संकटों का आना अनिवार्य है। ऐसे संधिकाल में यदि हमारे चिन्तकों का ध्यान मौलिक मानव-मूल्यों की ओर आकर्षित हो रहा है तो यह स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत प्रश्न के अन्तर्गत, पिछले अनेक वर्षों के साहित्य के सम्बन्ध में, इस समस्या का दिग्दर्शन पूर्ववर्ती विद्वान् लेखक विस्तारपूर्वक करा चुके हैं; मुझे, संक्षेप में, केवल उपसंहार-भर लिख देना है।

मानव-मूल्यों की दृष्टि से जिन दो प्रमुख विचार-धाराओं ने इस युग के साहित्य को आन्दोलित किया है, वे हैं मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद। व्यापक दृष्टि से विचार करने पर ये दोनों विचारधाराएँ मानव-अस्तित्व के केवल निम्नतम अथवा बाह्यतम स्तरों का अध्ययन करती हैं और इनके परिणामों को उन्हीं के क्षेत्रों तक सीमित रखना श्रेयस्कर होगा। मार्क्सवाद मानव-जीवन की वर्तमान आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों का सांगोपांग विश्लेषण कर उसकी सामाजिक समस्याओं के लिए समाधान बतलाता है, जिसका परोक्षतः एक वैयक्तिक पक्ष भी है। फ्रायडवाद मानव-अन्तर की रागात्मिका वृत्ति के उपचेतन-अचेतन मूलों का गहन अध्ययन कर मुख्यतः उसकी वैयक्तिक उलझनों का निदान खोजता है, जिसका एक सामाजिक पक्ष भी है। जहाँ पर ये दोनों सिद्धान्त अपने क्षेत्रों को अतिक्रम कर मानव-जीवन एवं चेतना के ऊर्ध्वस्तरों के विषय में अपना यांत्रिक अथवा नियतिवादी निर्णय देखने लगते हैं, अथवा उन शक्तियों के स्तरों का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, वहाँ पर ये दृष्टि-दोष से पीड़ित होकर, मानव-मूल्य-सम्बन्धी गम्भीर समस्याएँ उपस्थित करते हैं। किन्तु, मानव अस्तित्व एवं चेतना के सभी स्तरों के परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, सर्वांगीण सामाजिक विकास की दृष्टि से, मानव व्यक्तित्व के पूर्ण उन्नयन के हेतु उसके निम्न भौतिक प्राणिक स्तरों का विकास होना भी समान रूप से आवश्यक है। इस दृष्टि से, मार्क्सवाद तथा फ्रायड के मनोविज्ञान की सीमाओं को मानते हुए भी लोक-जीवन हिताय उनकी एकान्त उपयोगिता एवं महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में, नवीन विश्व-जीवन-वृत्त के निर्माण में उनका वर्तमान जीवन के गर्दगुब्बार से भरा हाथ उतना ही उपादेय प्रमाणित होगा जितना मानव अस्तित्व के उच्चतम शिखरों से अवतरित भावी सौन्दर्य तथा आशा के सम्मोहन से दीप्त अभिनव चैतन्य की किरणों का।

वैसे, मानव-प्रज्ञा के अविकसित होने के कारण, उच्च-से-उच्च सिद्धान्त या आदर्श भी—चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक, धार्मिक हो या राजनीतिक—संकीर्णता के सम्प्रदाय या रूढ़िगत दल-दल में फँसकर नीचे गिर जाते हैं। किन्तु यदि व्यापक विवेक तथा सहानुभूति के साथ, वर्तमान विश्व मानव संचय के साथ सामंजस्य बिठाते हुए, उपर्युक्त विचारधाराओं का समुचित अध्ययन एवं वर्तमान विश्व-परिस्थितियों में उनका सम्यक् प्रयोग किया जाय तो उनमें लोक-जीवन के लिए हितकर उपकरणों के अतिरिक्त मानवता के सर्वांगीण सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए भी प्राणप्रद पोषक तत्त्व मिलेंगे। कम्युनिस्ट देशों की सामूहिक जीवन-रचना की वर्तमान स्थिति में, साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से स्वतन्त्र वैयक्तिक प्रेरणा के अवरुद्ध हो जाने के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चिम के प्रबुद्ध लेखकों तथा चिन्तकों के मन में जो प्रतिक्रियाएँ चल रही हैं (जिसका विस्तृत विवेचन पूर्ववर्ती लेखों में हो चुका है) उनको हमें अक्षरशः स्वीकृत नहीं कर लेना चाहिए। कम्युनिस्ट देशों की उन असंगतियों को मार्क्सवाद के प्रारम्भिक प्रयोगों की कूड़े की टोकरी में भी डाला जा सकता है। मार्क्सवाद का प्रयोग और भी अधिक व्यापक आधारों पर वर्तमान जीवन की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों पर किया जा सकता है। उसे एक यान्त्रिक सिद्धान्त के रूप में न ग्रहण कर, उसके अन्धप्रवर्ग को संयमित कर सृजनात्मक संचरण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है और सम्भवतः भारतवर्ष जैसा महान् देश, जिसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि इतनी प्रौढ़ है, अपने साध्य-साधन की एकता की कसौटी पर कसकर, इस महत् प्रयोग को एक दिन सफल भी बना सके। जिन देशों में मार्क्सवाद के प्राथमिक प्रयोग हुए हैं उनमें भी २०–२५ वर्षों के अन्तर्गत, मानव-मूल्यों की दृष्टि से, व्यापक परिवर्तन नहीं उपस्थित हो सकेंगे, और उनकी जीवन-रचना की भूमि से भी उच्च-से उच्चतर सांस्कृतिक शिखर नहीं निखर उठेंगे, यह अभी नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्त के जीवन और व्यक्ति के जीवन के लिए एक ही अवधि निर्धारित करना न्यायसंगत नहीं है।

हमें आवश्यकता है, बाध्यतः परस्पर-विरोधी लगने वाली···विभिन्न स्तरों तथा क्षेत्रों की विचारधाराओं का विराट् समन्वय तथा संश्लेषण कर उन्हें साहित्य में, सृजनात्मक स्तर पर उठाने की···जिससे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, संस्कारों तथा स्वार्थों से पीड़ित एवं कुण्ठित मानव-चेतना को अपने सर्वांगीण वैयक्तिक तथा सामाजिक विकास के लिए एक व्यापक सन्तुलित धरातल मिल सके, उसके सम्मुख एक ऐसा उन्नत मानवीय क्षितिज खुल सके जो उसे समस्त अभावों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तत्पर कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके। व्यक्तिवाद, समाजवाद, भाववाद, वस्तुवाद, भूत अथवा अध्यात्मवाद एक-दूसरे के विरोधी नहीं, अन्ततः एक-दूसरे के पूरक हैं। आज के साहित्य में यदि विराट् या अन्तरात्मा के दर्शन नहीं मिलते—जो मूल्यों का धरातल है—तो इसका कारण इस संक्रमणशील युग के तथाकथित विरोधी सिद्धान्त एवं विचार-सरणियाँ उतना नहीं हैं जितना इस युग के साहित्य-स्रष्टाओं अथवा द्रष्टाओं की सीमाएँ···और सम्भवतः उनकी ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, यशलिप्सा, दलबन्दी आदि की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ, जिनका क्रीड़ास्थल इस परिवर्तन युग का उनका पर-दुख-कातर अंतस्तल बना हुआ है। साहित्य संस्कृति के पुजारियों तथा मूल्यों के जिज्ञासुओं को बाहर के साथ ही अपने भीतर भी खोज करनी चाहिए, सामाजिक धरातल को सँवारने से पहले मानसिक धरातल का संस्कार कर लेना चाहिए—विशेषकर ऐसे संक्रमण-काल में जब ह्रास और विकास, पतझर तथा वसन्त की तरह, साथ-ही-साथ नवीन वृत्त संचरण के रथ-चक्रों में घूमते हैं। उसे मरणशील ह्रासोन्मुखी संकीर्ण प्रवृत्तियों के कूड़े-कचरे में से विकास की प्रसारकामी ऊर्ध्व प्रवृत्तियों को चुनकर अपनी चेतना में ढाल लेना चाहिए, क्योंकि उनके लिए मूल्य मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक संवेदन का प्रश्न नहीं है, वह उनके आत्मनिर्माण, मनोविन्यास तथा उनकी सृजन-तन्त्री की साधना का आधारभूत अंग भी है।

मानव-मूल्यों का अन्वेषक—चाहे वह स्रष्टा हो या द्रष्टा—उसे महत्तर आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य तथा श्रेय के सूक्ष्म संवेदनों की जाह्नवी के अवतरण के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है। उसे वैभिन्न्य की बहिर्गत विषमता तथा कटुता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जीवन वैचित्र्य की समता तथा संगति में परिणत करना है, जिसके लिए आत्म-संस्कार सर्वोपरि आवश्यक है। साहित्यकार, साधक, दार्शनिक — इन सबको अन्ततः महत् इच्छा का यन्त्र बनना पड़ता है।

मूल्य-मर्यादा की प्रगति के स्रोत को केवल सामाजिक परिस्थितियों के अधीन मानना उतना ही एकांगी दृष्टिकोण है जितना उसे केवल मनुष्य के आन्तरिक संस्कारों में मानना है। मानव-मूल्य के मूल बाहर भीतर दोनों ओर फैले हुए हैं, "तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः।" व्यक्ति और समाज उसके दो पक्ष हैं जिनमें सामंजस्य स्थापित करके ही स्थिति और प्रगति सम्भव हो सकती है। हम बाहर के सम्बन्ध में ही भीतर को और भीतर के सम्बन्ध में ही बाहर को समझ सकते हैं। मानवता के सर्वांगीण विकास एवं निर्माण के लिए हमें भीतर और बाहर दोनों का रूपान्तर करना पड़ेगा। तत्त्वतः मानव-जीवन के सत्य के मूल बाहर-भीतर दोनों से ऊपर या परे हैं, जैसा कि हम आगे चलकर विष्णु के रूपक में देखेंगे, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे बहिरंतर के दोनों सापेक्ष पक्षों का ध्यान रखकर उनमें सन्तुलन भरना होता है।

पश्चिम के कुछ चिन्तक यदि बाह्य परिस्थितियों के संगठन के बोझ से आक्रान्त होकर मानव-मूल्यों का स्रोत यदि व्यक्ति या मनुष्य के भीतर मानने लगे हैं तो यह केवल पश्चिम के वर्तमान बहिर्भूत यान्त्रिक जीवन के प्रति उनके मन की प्रतिक्रिया-मात्र है। पश्चिम में अन्तर्जीवन का एकान्त अभाव होने के कारण वहाँ के प्रबुद्ध विचारकों का मनुष्य के भीतर की ओर झुकना स्वाभाविक है। वास्तव में व्यक्ति और समाज जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से, एक-दूसरे के सम्बन्ध में ही सार्थक हैं और उसी रूप में समझे भी जा सकते हैं। निरपेक्ष व्यक्ति को अज्ञेय या अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। इसलिए यदि मार्क्सवाद सामाजिकता को अधिक महत्त्व देता है या उसके प्रारम्भिक प्रयोगों में सामूहिक संचरण अधिक प्रबल हो उठा है तो उसका उपचार व्यक्ति को अधिक महत्त्व देने से नहीं होगा, प्रत्युत, बहिरंतर की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करने से होगा। इस युग में, इसीलिए, राजनीतिक संचरण की पूर्ति के लिए एक व्यापक सांस्कृतिक संचरण की भी आवश्यकता है।

मानव-मूल्यों के स्रोत को मनुष्य के भीतर ही मान लेना इसलिए भी हानिकर सिद्ध होगा कि वर्तमान युग-संक्रमण की स्थिति में मनुष्य का मनुष्य बन सकना सरल या सम्भव नहीं। उसके व्यक्तित्व में अभी उस उदात्त सन्तुलन की कमी है जो उसे युगीन प्रवृत्तियों की बाहरी अराजकता तथा अन्तःसंस्कारों की सीमाओं से ऊपर उठाकर प्रतिनिधि मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित कर सके। उसका ऐसा विवेकशील व्यक्तित्व होना जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल्यों-सम्बन्धी दुरूह सामाजिक दायित्व को समझकर उसे स्वतः ग्रहण करने योग्य आत्म-त्याग एकत्रित कर सके यह भी अपवाद ही सिद्ध हो सकता है और अल्पसंख्यक सृजनशील व्यक्ति इतने स्थितप्रज्ञ, तटस्थ, निष्पक्ष हो सकेंगे, इस पर भी सहज विश्वास नहीं होता।

इस संक्रमण-काल ने मनुष्य की अहमिका प्रवृत्ति तथा उसकी कामवृत्ति को बुरी तरह झकझोरा है। ये एक प्रकार से सभी संक्रमण युगों के लिए सत्य तथा सार्थक हैं, क्योंकि उच्चतर विकास के ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। मानव अहन्ता को व्यापक बनाकर, मानव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा के गुणों को पहचानकर उनसे सम्पन्न बनाना होता है। निम्न प्राण-चेतना (काम) को ऊर्ध्वमुखी होकर व्यापक प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द की अनुभूति प्राप्त कर नवीन नैतिक-सामाजिक सन्तुलन ग्रहण करना होता है, इसीलिए विश्वप्रकृति संक्रमण-काल में उन्हें प्रारम्भ में ही सशक्त बना देती है। फ्रॉयड ने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी वर्तमान रागात्मक स्तर की क्षुद्रता तथा संकीर्णता की पोल खोलकर आज के प्रबुद्ध चिन्तक को मोहयुक्त कर दिया है। वास्तव में प्राण चेतना के विकास के लिए उपयुक्त मानवीय परिस्थितियों के अभाव के कारण मानव की रागात्मिका वृत्ति, पशु-स्तर पर उतरकर, अभी अचेतन के अन्ध आवेगों से परिचालित हो रही है। उसके मनुजोचित ऊर्ध्व विकास के लिए हमें स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्ध को एक व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर उठाना होगा।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ इस युग के बहुमुखी विचार-वैभव को साहित्य तथा संस्कृति की प्रेरणाभूमि पर उठाने के लिए तथा अपने को मानव-मूल्यों का ज्योतिवाहक बनाने के लिए आज के साहित्य स्रष्टा तथा सांस्कृतिक द्रष्टा को सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि अपना यथेष्ट आत्म संस्कार करना होगा। यही उसके ऊपर स्वस्वीकृत सबसे महान् दायित्व है। मानव-मूल्यों की चेतना से अपनी चेतना का तादात्म्य करके उसे अपने मन तथा प्राणों के जीवन में मूर्तिमान करना— यही उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है। इस दायित्व के गुरुत्व को उसका साधक ही अनुभव कर सकता है। यही वह तप, त्याग या लोककर्म है जिसे उसे तत्काल ग्रहण करके, धीरे-धीरे उसे अपने को पूर्णरूपेण अर्पित करके, अपने जीवन में चरितार्थ करना है।

मानव-मूल्यों के सर्वव्यापक सत्य के रूपक को हमारे यहाँ महाविष्णु के रूप में अंकित किया है, जो प्रभ-विष्णु भी हैं। वह शेष-शय्या पर (अनन्त काल के ऊपर) स्थित हैं। प्रत्येक युग में उनके गुणों के अंश विश्वचेतना में अवतरित होकर देश-काल में अभिव्यक्ति पाते हैं। वह जलशायी भी—देश से भी ऊपर—स्थित हैं। वह योगनिद्रा में (विश्व-विरोधों में सम) शान्त आनन्द की स्थिति में हैं, जिस स्थिति में एक सहज स्फुरण (संकल्प) उनकी नाभि (रजोगुण) से ब्रह्मा अथवा सृजन संचरण के रूप में सृष्टि करता है। उनके हाथ में चक्रवत् विश्वमन घूमता रहता है इत्यादि। यह मानव-मूल्यों के सत्य के सम्बन्ध में एक पूर्ण दृष्टिकोण है। मानव-मूल्यों का स्रोत देश-काल से ऊपर है। भूत, भविष्य, वर्तमान में अभिव्यक्ति पाने वाले मूल्य सब उसी सत्य के विकासशील अंश हैं। तीनों काल एक-दूसरे पर अवलम्बित होने के साथ ही मुख्यतः उस सत्य पर अवलम्बित हैं। उसी के गुण संचय करके भूत वर्तमान में और वर्तमान भविष्य में विकसित होता है। उस सत्य को आप चाहे दिव्य कहें या मानवोपरि, वह मानव से पृथक् नहीं है। उसे दिव्य न कहकर मानवीय ही कहें तो वह वर्तमान मानव-विकास की स्थिति से कहीं महत् है जिसमें अनेकों भविष्यों का मानव अन्तर्हित है। यदि हम इस दृष्टिकोण से उस सत्य पर विचार करें तो हमें वर्तमान पाश्चात्य विचारकों की "जो समस्त अतीत है वही यह क्षण है और जो यह क्षण है वह समस्त भविष्य बन जायगा—इसी क्षण में हमें शाश्वत को बाँधना है" आदि जैसी तर्क-प्रणाली की यान्त्रिकता स्पष्ट हो जायगी।

हमने अपने साहित्य में पश्चिम के जिस विकासवाद के सिद्धान्त को अपनाया है वह अधूरा है। उसमें नीचे से ऊपर की ओर आरोहण तो है पर ऊपर से नीचे की ओर अवतरण तथा अन्तःसंयोजन (री-इंटीग्रेशन) के पक्षों का अभाव है। इस अपूर्ण सिद्धान्त को स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लेने के कारण ही हम केवल भूत और वर्तमान के संचय के बल पर अग्रसर होने की असफल चेष्टा कर नित्य नवीन विरोधी मतों को जन्म देते जा रहे हैं। विकास में सानन्द या अविच्छिन्नता खोजना भ्रम है। विकास के प्रत्येक युग में विश्वचेतना में महत् से नवीन गुणों का भी आविर्भाव होता रहता है। इस महत् में ही बीज रूप में समस्त सृष्टि के उपादान अन्तर्हित हैं।

साहित्य-स्रष्टा के लिए विकास से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सृजन का है। वह मन के उच्चोच्चतर स्तरों से प्रेरणा ग्रहण करके अपनी सृजन-चेतना के वैभव से विकास को नित्य नवगुण-सम्पन्न कर उसे प्रगति दे सकता है। स्रष्टा के लिए विवेक के पथ से अधिक उपयोगी एवं पूर्ण श्रद्धा का पथ है। वह सहज तथा प्रशस्त होने के कारण लोक-सुलभ भी है। अल्पसंख्यक विवेकशील साहित्यिकों के कंधों पर जन-समाज के जीवन का दायित्व सौंप देने में यह भी भय है कि वर्तमान विषम सामाजिक परिस्थितियों में उन अल्पसंख्यकों की मानवता की धारणा स्वभावतः अपने ही वर्ग के मानव तक सीमित रह सकती है। जन मानवता का विराट् वैचित्र्य उनकी प्रबुद्ध सहानुभूति से कहीं व्यापक तथा अकल्पित हो सकता है। फिर स्रष्टा को हम केवल साहित्य-स्रष्टा तक ही सीमित नहीं रख सकते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा स्तर पर—चाहे वह राजनीतिक भी क्यों न हो—जीवन-निर्माता जीवन-स्रष्टा तथा द्रष्टा भी हो सकता है और सृजन में ही निर्माण की पूर्ण परिणति भी होती है।

संक्षेप में मैं सांस्कृतिक मान्यताओं एवं मानव-मूल्यों का स्वस्वीकृत दायित्व अल्पसंख्यक, स्वतन्त्र विवेकपूर्ण संकल्पयुक्त व्यक्तियों को सौंपने के बदले समस्त जन समाज को सौंपना अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ जो श्रद्धा के पक्ष से मानव-मूल्यों के सत्य से संयुक्त होकर, अपने-अपने क्षेत्र में मानवता के विशाल रथ को आगे बढ़ाने में अपना हाथ बँटा सकते हैं। उन्हें—जैसा कि आज के समस्त पश्चिम के विचारक सोचते हैं—किसी तर्क-बुद्धिसम्मत विवेक के जटिल सत्य के जटिलतर दायित्व के भूल-भुलैये में खोकर अपने चिन्तन, अनुभूति, सौन्दर्य-बोध की समस्त शक्ति से स्थायी मानव-मूल्य की इसी क्षण की विशेष मानवीय स्थिति की सही व्याख्या पहचानने जैसे और भी दुरूह बौद्धिक व्यायाम नहीं करने पड़ेंगे—जो शायद कुछ अति अल्प-संख्यक प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही सुलभ है; उन्हें विराट् विश्व-जीवन के अन्तरतम केन्द्रीय सत्य पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखकर, अपनी बहिरंतर की परिस्थितियों को अतिक्रम करते हुए, उनका युगजीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्निर्माण कर एवं उन्हें व्यापक मानव-जीवन की एकता में बाँधते हुए अन्ततः सम्पूर्ण तथा बाह्यतः समस्त के साथ आगे बढ़ना होगा। इसी में वह अपनी-अपनी स्थिति से स्वधर्म का पालन कर सकते हैं। हमारे सर्वोदय के उन्नायकों ने भी श्रद्धा के पथ से उन्हीं सत्यों के सत्य से प्रेरणा ली है जिनके बिना उनका व्यक्तित्व शीर्षहीन हो जाता है। आज के युग में जब कि भौतिक विज्ञान के विकास के कारण लोक-जीवन की परिस्थितियाँ जड़ न रहकर अत्यधिक सक्रिय हो गई हैं जन-साधारण को सृजन-प्रेरणा से वंचित कर सकना सम्भव भी नहीं है—यही इस युग की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी देन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

डॉक्टर राकेश गुप्त

भक्ति-भावना और रीतिकालीन कवि

आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक रीतिकालीन काव्य-परम्परा के प्रति सहृदय साहित्य-प्रेमियों का भाव सर्वथा आदरपूर्ण ही था। स्वयं भारतेन्दु की अनेक रचनाएँ स्पष्ट रूप से इसी परम्परा में लिखी गई हैं। पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के आविर्भाव के पश्चात् रीति-युग के लेखकों एवं उनकी रचनाओं के प्रति एक घृणा के भाव का प्रचार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल के कवि, विशेष रूप से नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों के लेखक, आज के समीक्षा-प्रधान युग में आलोचकों के सामने अभियुक्त की हैसियत से डरते-डरते आकर खड़े होते हैं। उनकी प्रत्येक बात शंका की दृष्टि से देखी जाती है और उनकी प्रत्यक्ष अच्छाइयों में भी दोष-दर्शन का प्रयत्न किया जाता है। इन कवियों की भक्ति-भावना को भी आलोचकों ने ऐसी ही दृष्टि से देखा है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के मत से समस्त नायिकाभेद-सम्बन्धी साहित्य का राधाकृष्ण की भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के अनुसार इन कवियों ने भक्ति के नाम पर नग्न-शृङ्गार का निर्लज्ज चित्रण किया है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि इन कवियों ने प्रेम भक्ति का दिव्य चित्र नहीं खींचा। श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार भक्ति-काल का अलौकिक शृङ्गार रीति-काल में लौकिक शृङ्गार में परिणत हो गया। डॉ० नगेन्द्र के मत से रीति-काल में भक्ति का आभास-मात्र मिलता है।

कृष्ण और गोपियों की शृङ्गार-लीलाओं का चित्रण रीतिकालीन कवियों के साहित्य से पहले हमें हरिवंश, पद्म, विष्णु, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में, दक्षिण के आलवार नामक सन्तों के साहित्य में, तथा जयदेव, उमापति धर, चंडीदास, विद्यापति, नरसिंह मेहता, सूरदास, नन्ददास आदि कवियों की वाणी में विशद रूप में प्राप्त होता है। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि शृङ्गार का जिस सीमा तक वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थों में अथवा उपर्युक्त लेखकों द्वारा हुआ है, उस सीमा का अतिक्रमण किसी भी प्रसिद्ध रीतिकालीन लेखक ने नहीं किया। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात जो उतने ही विश्वास के साथ कही जा सकती है वह यह है कि पुराणों के अथवा भक्त कवियों के शृङ्गार-वर्णन में रामकृष्ण के नाम के अतिरिक्त और कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी बात ऐसी नहीं है जिसके आधार पर उसे शुद्ध लौकिक शृङ्गार से भिन्न किया जा सके।

इन दो बातों को ध्यान में रखते हुए जब हम रीतिकालीन शृङ्गार की पूर्ववर्ती शृङ्गार से तुलना करते हैं तो दो अन्तर हमें बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं : (१) सूर आदि भक्ति-कालीन कवि प्रायः विरक्त थे, पर रीतिकालीन कवि प्रायः गृहस्थ थे; (२) भक्त-कवियों का शृङ्गार प्रायः स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है, पर रीतिकालीन कवियों का शृङ्गार प्रायः नायिका-भेद के साँचे में ढला हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं दो भेदों के आधार पर भक्ति-कालीन शृङ्गार को भक्तिपूर्ण तथा रीतिकालीन शृङ्गार को भक्तिरहित समझा गया है। पर यह विचारणीय है कि इन विभेदों के आधार पर ऐसा समझना कहाँ तक युक्ति संगत अथवा समीचीन हो सकता है।

पहला विभेद कवियों के विरक्त अथवा गृहस्थ होने से सम्बन्धित है। यहाँ यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि विरक्ति अथवा वैराग्य को भक्ति के लिए कभी भी आवश्यक नहीं समझा गया। भक्ति-धर्म का तो आविर्भाव ही गृहस्थों के लिए हुआ है। भक्ति-मार्ग को प्रवृत्ति-मूलक तथा ज्ञान अथवा योग-मार्ग को निवृत्तमूलक कहा गया है। वैराग्य को तो एक प्रकार से भक्ति-धर्म का विरोधी भी कहा जा सकता है (साधन के रूप में)। पुष्टि-मार्ग के संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गृहस्थ-जीवन को श्रेष्ठ मानकर उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है। हमारे धर्म-शास्त्र-प्रणेताओं ने भी गृहस्थाश्रम को अन्य तीनों आश्रमों का सहारा मानते हुए सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। ऐसी स्थिति में रीतिकालीन कवियों पर उनके गृहस्थ होने के कारण अभक्त होने का आरोप करना भक्ति-मार्ग के मूल पर ही कुठाराघात करना है।

शंका का दूसरा कारण रीति-कवियों द्वारा राधाकृष्ण की शृङ्गार-लीलाओं के वर्णन के लिए नायक-नायिका-भेद के ढाँचे का उपयोग है। पर यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने ऐसा महाप्रभु चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी के प्रभाव में आकर किया है। रूपगोस्वामी ने सारे रस-शास्त्र को वैष्णवशास्त्र का रूप दे डाला। उन्होंने अपने 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' नामक ग्रन्थ में पाँच भक्ति-रसों को स्वीकार किया और उज्ज्वल अथवा शृङ्गार-रस को इन पाँचों में सम्राट् मानते हुए अपने दूसरे ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में उसका विस्तृत विवेचन किया। इसी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण को एकमात्र नायक तथा उनकी प्रेमिकाओं को नायिका मानते हुए नायक-नायिका-भेद के सम्पूर्ण विषय को उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में खींच लिया। इस ग्रन्थ का समय सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग है, और हिन्दी का नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी समस्त साहित्य इससे प्रभावित होकर इसके बाद ही लिखा गया है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में कभी-कभी भ्रमवश ऐसा सोचा जाता है कि श्रीकृष्ण के बालरूप के उपासक होने के कारण वे उनकी शृङ्गार-लीलाओं के विरोधी थे। पर ऐसा समझने वाले कदाचित् यह भूल जाते हैं कि श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण शृङ्गार-लीला उनकी बाल-क्रीड़ा के ही अन्तर्गत है। 'भागवत' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि रासलीला के समय कृष्ण की अवस्था केवल सात वर्ष की थी तथा अक्रूर के साथ वृन्दावन से मथुरा जाते समय वे ग्यारह वर्ष से भी कम के थे। इसके अतिरिक्त 'भागवत' की अपनी सुबोधिनी नामक टीका में भी (१०-३३-२६) महाप्रभु ने इस बात का स्पष्ट कथन किया है कि भगवान् कृष्ण ने काव्यशास्त्र की विधि के अनुसार भी गोपियों के साथ रति की। बहुत सम्भव है कि अष्टछाप के महान् कवि सूरदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और नन्ददास ने महाप्रभुकृत इसी व्याख्या से प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपने नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की हो।

नायक-नायिका-भेद के सम्बन्ध में उस युग के दो प्रबल एवं प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों के संरक्षण, समर्थन एवं स्वीकृति को ध्यान में रखते हुए इस शंका के लिए अब अवकाश नहीं बचता कि इस परम्परा में रचना करना भक्ति-विरोधी कार्य हो सकता है। नायिका-भेद के अनेक रीतिकालीन लेखकों ने तो अपने ग्रन्थों में इस बात का निर्भ्रान्त उल्लेख भी कर दिया है कि उनके नायक-नायिका लौकिक नहीं हैं :

"जगनायक की नायिका बरणी केशवदास।"[1]
"बरनि नायक नायकनि, रच्यो ग्रन्थ मतिराम।
लीला राधारमन की सुन्दर जस अभिराम॥"[2]
"माया देवी नायिका, नायक पूरुष आप।"[3]
"आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई,
न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है।[4]

इस प्रकार यह सर्वथा सिद्ध है कि भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन शृङ्गार में अलौकिक एवं लौकिक का भेद नहीं किया जा सकता। राधा और कृष्ण दीर्घकाल से भारतीय जनता की भक्ति-भावना के आलंबन रहे हैं। उनके दुर्लभ लीलास्वाद को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने के हेतु अनेक काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न भक्तों ने उनकी मनोहर क्रीड़ाओं को छन्द और लय के सुमधुर एवं आकर्षक आवरण में प्रस्तुत किया है। भक्तिकाल के शृङ्गार को ही, भक्ति-सम्प्रदायों के आचार्यों का अनुमोदन पाकर, रीति-कवियों ने नायिका-भेद के साँचे में ढाल दिया है।

रीतिकालीन कवियों ने अपनी भक्ति-भावना को राधा और कृष्ण के शृङ्गार-वर्णन के रूप में तो अभिव्यक्त किया ही है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे उद्गार भी किए हैं जिनसे उनकी भक्ति-भावना की हार्दिकता एवं गहराई का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी की सतसई में, जो उस युग के काव्य-प्रेमियों का कण्ठहार थी, शुद्ध भक्ति-भाव के अभिव्यंजक अनेक दोहे भरे पड़े हैं। उनमें से कुछ उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं :

मन मोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरधारी उर धारि॥
थोरे ई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुम हू कान्ह मनो भये, आजकालि के दानि॥
मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपने-अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज॥

अन्तिम दोहे के सम्बन्ध में यह कहना कदाचित् आवश्यक नहीं है कि बाहर से जो एक चुनौती

१. रसिकप्रिया, पृष्ठ ४६।
२. रसराज, तृतीय छन्द।
३. देव, प्रेमचन्द्रिका।
४. दास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई देती है वह वास्तव में कवि का अपने प्रभु की पापियों को तारने की शक्ति में अडिग विश्वास है। कवि का विश्वास बाह्याडम्बर में न होकर हृदय की सच्ची भक्ति में है :

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम ।
मन कांचै नाचै वृथा, सांचै रांचै राम ॥

नायिका-भेद के जनप्रिय कवि मतिराम और पद्माकर ने भी अपनी भक्ति-भावना को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मतिराम ने जो थोड़ा-सा भी इस विषय पर लिखा है उससे यह स्पष्ट है कि भक्ति उनके लिए केवल कुछ औपचारिक धार्मिक कृत्यों का संकलन-मात्र नहीं थी। उन्होंने उसके गहन तत्त्व को समझ लिया था और उनकी दृष्टि में जीवन की सार्थकता राधा और कृष्ण की मधुर क्रीड़ाओं के आनन्द में अपने को मग्न कर देने में ही थी। उन्होंने डंके की चोट पर कहा है :

राधा मोहनलाल को जाहि न भावत नेह ।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह ॥

इस कथन की ओजस्विता का स्रोत एक भक्ति-रस-आप्लावित हृदय ही हो सकता है।

पद्माकर कृत 'गंगालहरी' तथा 'प्रबोध-पचीसा' नाम के ग्रन्थ पूर्णरूपेण भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति के लिए ही लिखे गए हैं। पहले ग्रन्थ में गंगा की पाप-नाशिनी शक्ति का विशेष रूप से उल्लेख है। दूसरे ग्रन्थ में दीर्घकालीन जीवन की अनुभूतियों के आधार पर अनेक प्रकार की भावनाएँ सचाई के साथ अभिव्यक्त की गई हैं। अन्य भक्त-कवियों की भाँति पद्माकर ने भी अपने पापों को स्पष्ट रूप से बिना किसी झिझक के स्वीकार करते हुए अपने प्रभु के कृपालु स्वभाव में अपनी अडिग आस्था प्रकट की है। राम-नाम के निरन्तर जप को उन्होंने मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ एवं सरलतम साधन माना है :

काहे को बघंबर को ओढ़ि करौ आडम्बर,
काहे को दिगम्बर ह्वै दूब खाय रहिये ।
कहै 'पद्माकर' त्यों काय के कलेस हित,
सीकर सभीत सीत बात ताप सहिये ॥
काहे को जपौगे जप, काहे को तपौगे तप,
काहे को प्रपंच पंच पावक में दहिये ।
रैन दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥

निष्कर्ष रूप में हम यही कहेंगे कि परम्परा और अन्तर्साक्ष्य दोनों के प्रमाण से रीति-कवियों की भक्ति-भावना की सचाई पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। वास्तव में अविश्वास करने का कुछ आलोचकों द्वारा लगाये गए निराधार आरोपों के अतिरिक्त और कोई कारण ही नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर हरदेव बाहरी

स्त्रियों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण

१. बोली

देश, काल और जाति के भेद से भाषा-भेद होते हैं, यह सर्वविदित है। परन्तु इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं गया कि भाषा में लैङ्गिक भेद भी होता है। प्रायः प्रत्येक समाज में पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में अन्तर होता है। ऐसी अनेक जातियाँ बताई जाती हैं जिनमें पुरुषों और स्त्रियों की भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं—कम-से-कम बोली का भेद तो स्पष्ट है। मध्य अमरीका में कारिब जाति के पुरुषों और स्त्रियों की भाषा अलग-अलग है। इतिहासकारों ने लिखा है कि कारिब लोगों ने मध्य अमरीका की अरावक जन-जाति को विध्वस्त करके उनकी स्त्रियों को सन्तान चलाने के लिए अपने घरों में डाल लिया था। इनके बच्चे पहले तो मातृभाषा सीखते हैं, पर ५-६ वर्ष की अवस्था के उपरान्त लड़के अपने पिता की और लड़कियाँ अपनी माता की भाषा को ग्रहण करने लगती हैं। इस बात को यों कहा जा सकता है कि स्थायी रूप से स्त्रियों में मातृभाषा और पुरुषों में पितृभाषा का प्रचलन होता है।

इतिहास की दृष्टि से किसी युग में भारत में भी यही बात रही होगी। आर्यों ने तमिल (सं० दविड, द्रविड) स्त्रियों से विवाह किया। इनकी भाषा निश्चय ही अलग रही होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि कितनी पीढ़ियों तक स्त्री-पुरुषों की भाषा भिन्न बनी रही, क्योंकि प्राचीन वेदकालीन जन-साहित्य उपलब्ध नहीं है। परन्तु वैदिक भाषा और संस्कृत पर द्रविड आदि प्रागार्य भाषाओं का प्रभाव बहुत अधिक है—यह मुख्यतया उन स्त्रियों के कारण पड़ा होगा।

संस्कृत नाटकों में पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में बड़ा अन्तर है। पति संस्कृत बोलता है और पत्नी शौरसेनी और महाराष्ट्री का व्यवहार करती है। यह उस समय की वस्तुस्थिति का परिचायक है। आज भी ऐसे घराने बहुत से हैं जिनमें पुरुष खड़ी बोली बोलता है और स्त्री अवधी, बुंघेली या ब्रजभाषा। ऐसे पुरुषों का अभ्यास शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय या सामाजिक सम्बन्धों के कारण खड़ी बोली हिन्दी का है—विशेष करके नगरों और कस्बों में। स्त्रियाँ अधिकतर घर की चारदीवारी में अपना समय बिताती हैं। अपेक्षाकृत उनमें शिक्षा की सदा से कमी रही है। प्रौढ़ और अनपढ़ अथवा कमपढ़ स्त्रियों की बोली बदलती भी बहुत कम है। उनके द्वारा अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा पूर्णरूपेण होती है। पुरुषों की भाषा का स्वरूप कुछ-न-कुछ बदलता रहता है।

उन घरों को छोड़ दीजिए जहाँ पति पंजाबी और पत्नी दिल्ली की है अथवा पति बनारस का (खत्री) और पत्नी अमृतसर की है, या कोई अन्तर्प्रादेशिक युग्म हैं—बंगाली और बिहारिन, राजस्थानी और गुजरातिन, हिन्दी और मराठिन, आदि आदि। इनकी तो भाषा ही भिन्न होती है। पर ऐसे दम्पती नगर-नगर, गाँव-गाँव और गली-गली में मिल जायँगे जिनकी बोली में स्पष्ट अन्तर है। हमने सन् १९४४ में लाहौर नगर के एक मुहल्ले का भाषा-विवरण तैयार किया था। सौ घरों में से केवल ११ घर ऐसे मिले जिनमें स्त्री और पुरुष की बोली एक ही थी। २० अन्य घरों में बोली का अन्तर कम था। ७ घरों में भाषा ही भिन्न थी जैसे लहँदी और पंजाबी, पंजाबी और बागड़ू, पंजाबी और पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी या लहंदी और सिंधी, राजस्थानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी और गुजराती, इत्यादि। शेष ६२ घरों में बोली का अन्तर स्पष्ट था। एक रोचक तथ्य यह भी प्राप्त हुआ कि लगभग ३० प्रतिशत पतियों ने दूसरी बोली के रूप में अपनी पत्नियों की बोली को अपना रखा था, केवल ५ प्रतिशत घरों में पति की बोली को पत्नी ने अपनाया था।

प्रत्येक देश में ऐसे कई परिवार हैं जिनमें या तो पुरुष दो बोलियाँ बोलते हैं और स्त्रियाँ एक बोली, या स्त्रियाँ दो बोलियाँ बोलती हैं और पुरुष एक बोली। ऐसी दशा में स्त्री या पुरुष को अपने जीवन-साथी की सुविधा के लिए अपनी साधारण बोली छोड़कर कभी-कभी टूटी-फूटी दूसरी बोली में बातचीत करनी पड़ती है। प्रायः स्त्रियाँ अपनी मूल भाषा के संरक्षण का बहुत ध्यान रखती हैं।

चिरकाल तक मुग़ल-घरानों में बेगमों की भाषा बादशाहों और अमीर-दरबारियों की भाषा से अलग रही। उर्दू का विकास इन्हीं बेगमों की बोली से हुआ। जिसे 'उर्दू की ज़ुबान' या 'किले की ज़ुबान' कहते हैं वह इन बेगमों की ही खिचड़ी बोली थी। बेगमें कई प्रान्तों से आती थीं, खड़ी बोली हिन्दुई ही इनके विचारों और भावों का माध्यम होती थी जिस पर अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अतिरिक्त फ़ारसी का प्रभाव भी पड़ा। शिक्षा की भाषा, राजभाषा, दरबार की भाषा फ़ारसी थी। प्रायः राजपुरुष इसी में बातचीत करते थे। इसीलिए बेगमों की भाषा में भी कई शब्द फ़ारसी के घुस आए थे। यह तो स्वाभाविक ही था। बेगमों की भाषा पर लिखे गए व्याकरण, शब्दकोश, मुहावरा-कोश आदि देखने से उर्दू की प्रवृत्तियों का मूल स्रोत प्राप्त हो जाता है।

स्त्रियों की इस मिली-जुली भाषा को रेख़्ती कहते थे। बहुत से रेख़्ती-गो शायरों ने इस भाषा को साहित्य में लाकर अमर करने की चेष्टा की।

स्पेन और फ्रांस की सीमा पर बास्क जाति में अधिकतर पुरुष बास्क भाषा छोड़ चुके हैं—वे स्पेनी भाषा ही जानते हैं; लेकिन स्त्रियाँ बराबर बास्क भाषा का व्यवहार करती हैं।

जिन स्त्री-पुरुषों में बोली का भेद नहीं होता, उनकी शिक्षा, संस्कृति, कार्य-व्यवसाय आदि जीवन की अवस्थाएँ प्रायः एक-सी होती हैं। संस्कृत नाटकों में भी रानी, तापसी, विदुषी और कुछ अन्य विशिष्ट स्त्रियों के मुख से संस्कृत बुलवाई गई है। हिन्दी-साहित्य में कुछ एक नाटककारों और कथाकारों ने स्त्री-पुरुष की भाषा का भेद रखा है, परन्तु प्रायः साहित्यकार समान भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक और स्वाभाविक परिचय नहीं मिलता।

जिसे हम भेद का अभाव कह रहे हैं वह भी नितान्त समानता की कोटि का नहीं होता। बाह्य स्वरूप एक होने पर आन्तरिक सूक्ष्म भेद कई प्रकार के रहते हैं जिनकी ओर ध्यान दिलाना इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

२. उच्चारण

स्त्रियों के गले में ध्वनि-पिट्टक छोटा होता है। पुरुषों का ध्वनि-पिट्टक बड़ा होता है और इसीलिए गले के बाहर निकला भी रहता है। इसी कारण से प्रायः पुरुषों की ध्वनि मोटी, कड़ी, कर्कश और ऊँची होती है। स्त्रियों की आवाज प्रायः बारीक, मीठी, कोमल, स्पष्ट और मद्धम होती है। उसमें एक गूँज-सी होती है। इस भेद के अनेक स्तर हो सकते हैं और किसी स्तर पर पुरुष और स्त्री के उच्चारण में कोई भेद नहीं जाना जा सकता। कुछ स्त्रियाँ पुरुषों की तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोलती हैं और कुछ पुरुष स्त्रियों की तरह। स्त्रियाँ बोलती भी बहुत हैं। इतिहास के आरम्भ से ही पुरुष ऐसे काम करता आ रहा है जिनमें बोलने और दूसरों से बातचीत करने का अवसर कम मिलता है। शिकार खेलना, युद्ध करना, खेती-बाड़ी करना, खान-खाइयाँ खोदना, मजदूरी करना, इत्यादि ऐसे काम हैं जिनमें लगे हुए पुरुष बात-बात कम कर पाते हैं। इन कार्यों से निवृत्त हो करके भी वे पड़े सोते हैं—विश्राम में भी बोलने की गुंजाइश नहीं होती। स्त्रियों के कार्य घर में सम्पन्न होते हैं जहाँ काम-काज के साथ बातचीत, गाना-गुनगुनाना बराबर चलता है। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक समाजप्रिय होती हैं। बातूनी झगड़ों में भी होशियार होती हैं। सखी-सहेलियाँ बटोरने, अड़ोसनों-पड़ोसनों से प्यार बढ़ाने में और फिर बिगाड़ कर लेने में वे बहुत दक्ष होती हैं। सारांश यह कि भाषा-सम्बन्धी अभ्यास से प्राप्त दृढ़ता, स्पष्टता और प्रगल्भता स्त्रियों की वाणी में विद्यमान रहती है। ऊँचे चिल्लाने और व्याख्यान देने का अवसर उन्हें कम मिलता है। घरेलू जीवन में शोर मचाने की गुंजाइश कहाँ? अलबत्ता जो स्त्रियाँ स्त्रियोचित जीवन को त्याग देती हैं—जैसे पढ़ी-लिखी महिलाओं में कुछ-एक, मीरासनें, भिखारिनें, और वेश्याएँ—तो उनकी भाषा पुरुषों की भाषा की कोटि में आने लगती है। बड़े-बड़े व्याख्याता और वक्ता पुरुषों में होते हैं, दूसरी ओर तोतले-हकले-थथले भी पुरुषों में अधिक होते हैं। स्त्रियों की भाषा मध्यम (निश्चित और स्पष्ट) मार्ग से होकर चलती है। उसमें उच्चारण के उतार-चढ़ाव, तान और लय के नाना रूप कम होते हैं।

खड़ी बोली में एक कहावत है—'औरत की जीभ कैंची की तरह चलती है।' प्रायः स्त्रियाँ तेज बोलती हैं।

यह भी देखा गया है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की भाषा में एकाक्षर शब्द अधिक होते हैं। बहुत सी स्त्रियां लम्बे लम्बे नाम लेने में असमर्थ होती हैं। शब्दों की कटाई-छटाई में इनका काफ़ी हाथ होता है।

स्त्रियों की ध्वनि-सम्बन्धी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए यह खोज करने की आवश्यकता है कि कौन-कौन ध्वनियाँ उन्हें अधिक प्रिय होती हैं। जेस्पर्सन ने अंग्रेजी में देखा कि स्त्रियाँ 'र' का उच्चारण एक विशिष्ट ढंग से करती हैं और उनकी बोली में ह्रस्व स्वरों का बाहुल्य पाया जाता है। हिन्दी में ऐसा जान पड़ता है कि स्त्रियाँ मृदु व्यंजनों और अनुनासिक ध्वनियों को अधिक अपनाती हैं। वे द्वित्त व्यंजनों को तोड़कर स्वरभक्ति लगाने की भी आदी होती हैं, जैसे स्वराज्य की जगह सवराज, प्रश्न की जगह प्रशन, पत्र की जगह पत्तर, इत्यादि। इसका कारण यह है कि द्वित्त व्यंजन से पूर्व अक्षर पर बलाघात रहता है जो पुरुषों की वाणी में अधिक होता है। स्वरभक्ति से बलाघात बँट जाता है। लहँदी में देखा गया कि प्रायः सब पुरुष ख़, ज़, ग़, फ़ का उच्चारण फारसी-अरबी से प्राप्त शब्दों में करते हैं—जैसे ख़ाली, ग़रीब, ज़ोर, फ़ालतू आदि में। पर, स्त्रियाँ खाली, गरीब, जोर, फालतू ही बोलती हैं। लेकिन अभ्यास से वे नई ध्वनियाँ बहुत जल्दी सीख जाती हैं। उनकी वाणी में लोच होती है। अंग्रेजी के फ़, ज़, श वर्णों का उच्चारण पूर्वी उत्तरप्रदेश के लड़के विश्वविद्यालयों में रहकर भी फ, ज, स-सा करते हैं। अपेक्षाकृत लड़कियों का उच्चारण शुद्ध होता है। इस विषय में खोज की आवश्यकता है।

स्त्रियाँ जिस प्रकार अधिक स्पष्ट बोलती हैं, इसी प्रकार वे अधिक स्पष्ट सुनती भी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके कान बहुत अभ्यस्त होते हैं। उच्चारण की सूक्ष्मताओं और वाणी के अन्तर की पकड़ उनमें कमाल दरजे की होती है। बोली की नकल उतारने में वे पटु होती हैं।

स्त्रियाँ प्रायः कठोर रसों की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हो पातीं। वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक रस पुरुषों की वाणी में और शृंगार, करुण और वात्सल्य स्त्रियों की वाणी में अधिक विशद रूप में आते हैं। उनका कोमल स्वभाव कोमल वाणी का रूप धारण करता है। भाषा में व्यक्तित्व अपने प्रकृत रूप में आता है।

पुरुषों के वाक्य भले ही लम्बे और संयुक्त हों, स्त्रियों के वाक्य छोटे-छोटे और मिश्रित होते हैं। उनके वाक्य टूटे-फूटे और अपूर्ण भी होते हैं। भावुकता उन्हें अपने वाक्य पूर्ण नहीं करने देती। कुछ तो वे वाणी से प्रकट करती हैं और कुछ आँखों से या मुख-मुद्रा से। इनसे भी यदि कुछ नहीं कहा जा सकता तो आँसुओं में कह डालती हैं। संयम और आवेश दोनों की अति के कारण उनकी भाषा में वाक्यों की बचत हो जाती है। उनका भाव भाषा के वाहन पर बहुत देर तक चढ़ा नहीं रह पाता।

हमारा यह विश्वास कि है भाषा से ध्वनिशास्त्री के लिए यह जान लेना सम्भव है कि किसी स्त्री में कितनी मात्राएँ स्त्रीत्व की हैं और कितनी पुरुषत्व की, अथवा यह कि किसी पुरुष की बोली में कितना पुरुषत्व है और कितना नहीं है। परन्तु इस दिशा में कुछ कार्य नहीं हुआ। भाषा-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान को अलग-अलग और मिलकर दोनों तरह से सत्यान्वेषण करने की आवश्यकता है।

२. शब्द-भाण्डार

भाषा के निर्माण में स्त्रियों का क्या योग है? इस प्रश्न की ओर हम प्रत्येक भाषा के अन्वेषक का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। बच्चा अपनी भाषा माँ से सीखता है। 'मातृभूमि' की जगह चाहे कुछ देशों में 'पितृभूमि' कहा जाता है, पर 'मातृभाषा' के स्थान पर 'पितृभाषा' कहीं नहीं कहते। माता ही की बोली का अनुकरण करते-करते बच्चा अपने अ आ उ ऊ क प ब को सार्थक बनाना सीखता है। माता ही उसे अपने ध्वनि यन्त्रों की पेशियों में लचक लाना सिखाती है। माता ही उसे ध्वनि निकालने की कला में प्रवीण बनाती है। उसीके सम्पर्क में रहकर अबोध बच्चा चार-पाँच वर्ष तक अपना शब्द-भांडार बनाता है और अपनी भाषा का संगठन करता है। किसी विद्वान् ने कहा है कि जन्म से पहले दो वर्षों में मनुष्य जितना कुछ सीखता है उतना जीवन के अन्य किन्हीं दो वर्षों में कदापि नहीं सीख पाता। मातृभाषा का प्रभाव उसकी बोली में जीवन-भर रहता है। इस प्रभाव की गहराई और व्यापकता की कई अवस्थाएँ हो सकती हैं। लड़कियाँ अपनी माताओं के सम्पर्क में अधिक काल तक रहती हैं। जीवन में प्रविष्ट हो जाने पर भी उन पर पड़ने वाले नये प्रभाव बहुत कम पड़ते हैं। पर लड़कों की बोली पर अनेक अन्य प्रभाव पड़ते हैं—कई बार उनकी बोली अपनी मातृभाषा से भिन्न हो जाती है, चाहे इसका आंशिक प्रभाव भी बना रहता है।

लेकिन, स्त्रियों का अपना शब्द-भांडार एक सीमित और विशिष्ट प्रकार का होता है। वे बहुत बोलती हैं, वे तेज बोलती हैं, वे छोटे-छोटे वाक्यों में बात करती हैं—यह सब इसीलिए के उनके पास शब्दों की वह प्रचुरता नहीं जो मनुष्य को गम्भीर और अनिश्चित बना देती है। प्रायः सभी पारिभाषिक शब्द पुरुषों द्वारा गढ़े जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान के शब्द-निर्माण में भी स्त्रियों का योग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगण्य है। नये शब्दों, देशी गढ़नों और क्रान्तिकारी अभिव्यक्तियों के उत्पादन और विकास में नवयुवकों और युवा पुरुषों का विशेष हाथ होता है। यह बड़ी विचित्र बात है कि भाषाओं (कम-से-कम आर्य भाषाओं) के प्रायः स्त्रीलिंग रूप पुल्लिंग रूप से ही बनते हैं—जैसे कुत्ता से कुतिया, शेर से शेरनी, धोबी से धोबिन, लड़का से लड़की। स्त्रीलिंग शब्द से पुल्लिंग रूप क्यों नहीं बनते? आर्य-भाषा-भाषियों के पितृ-प्रधान परिवार होते हैं। यह देखने की आवश्यकता है कि मातृ-प्रधान जातियों में शब्दों का लिंगान्तर करने की क्या व्यवस्था है। संस्कृत में एक ओर अमरत्व, सौंदर्य, जागरण आदि पुल्लिंग और दूसरी ओर इन्हीं के पर्याय अमरता, सुन्दरता, जागृति आदि स्त्रीलिंग शब्द क्यों हैं? इस बात पर अनुसन्धान करने की आवश्यकता है कि स्त्रियों की बोली में स्त्रीलिंग शब्द अधिक होते हैं अथवा पुल्लिंग। महादेवी वर्मा, होमवती देवी, सुमित्राकुमारी सिन्हा, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि हिन्दी की लेखिकाओं की कृतियों में से ही कुछ तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं। उत्तर-पश्चिमी भारत में तौलिया, पहिया, घास, छत आदि अनेक शब्द पुल्लिग हैं, जो पूर्वी प्रान्त में स्त्रीलिंग हैं। यह भी ध्यान रहे कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या बहुत अधिक रही है। क्या हिन्दी में सामर्थ्य, विजय और श्वास आदि अनेक पुल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग रूप में प्रयुक्त करने की बान महिला साहित्यकारों से तो नहीं आई?[1] इन सभी प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता है।

स्त्रियों का व्यावहारिक शब्द-भाण्डार बहुत सम्पन्न होता है। घर-द्वार, खान-पान, कपड़े-लत्ते, सगे-सम्बन्धी, रीति-रिवाज आदि के सम्बन्ध की उनकी शब्दावली पुरुषों की शब्दावली की अपेक्षा अधिक समृद्ध होती है। पुरुष-लेखकों और स्त्री-लेखकों की रचनाएँ इस सत्य पर अधिक प्रभाव डाल सकती हैं। रेख़्ती के कोश इसका प्रमाण हैं। स्त्रियों की शब्दावली बहुत व्यापक नहीं होती। मीरां से लेकर शान्ति मेहरोत्रा एम० ए० तक की कृतियों में ऐसे शब्दों की संख्या बीसियों तक पहुँचती है जो अनेक बार दोहराये गए हैं। इनसे भाव और भाषा की गहराई और तीव्रता का परिचय तो मिलता है, पर व्यापकता का नहीं। सच तो यह है कि महिलाओं का कार्य व्यवहार, उनका अनुभव और चिन्तन एक सीमित घेरे में होता है।

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका व्यवहार केवल स्त्रियाँ करती हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें वे नहीं बोलतीं। अनेक शरीरावयवों, स्वाभाविक शरीर-क्रियाओं और कुछ विचार-द्रव्यों का नाम स्त्रियाँ नहीं लेतीं। कहीं-कहीं स्त्रियाँ 'मजा' या 'स्वाद' शब्द नहीं कहतीं। किसी स्त्री की कृति में 'चुम्बन' 'पुलकित' आदि शब्दों को पढ़कर उसके यौन-विद्रोह या स्त्रीत्व के असन्तोष का अनुमान किया जा सकता है। स्त्रियों की भाषा अधिक श्लील, संयत और व्यंजनापूर्ण होती है। नवयुवक आपस में बैठकर जो बातें किया करते हैं उस स्तर की बातें नवयुवतियों में नहीं होतीं। वे लज्जालु, संकोची और संयत होती हैं। स्त्रियों की गालियाँ भी इतनी नंगी और फक्कड़ नहीं होतीं जितनी पुरुषों की। कुछ गालियाँ, शाप, आशीर्वाद और बोल स्त्रियों के ही मुख से सुने जा सकते हैं। इनका व्यवहार करने वाला पुरुष स्त्रैण समझा जाता है। उदाहरण—दाढ़ी-जरा, दहिजरा, कोख-जली, माँग-जली, निगोड़ा, कलमुँहा, मूंडी-काटा, मुआ, अल्लाह मारी (मुसलमानों में), एवं कीड़े पड़ें, कहाँ उजड़ गई थी, आग लग जाय, तथा बूढ़ सुहागिन हो, कोख ठंढी रहे, माँग भरी रहे और सुहाग लुट गया, गोद सूनी हो

१. मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे—महादेवी वर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई, इत्यादि। महिलाओं का कोमल हृदय उनसे ऐसे शब्द नहीं बुलवा सकता जिनकी किसी के हृदय पर चोट लगे। 'मर गया' को वे अनेक तरह से कहेंगी। 'वह बीमार है' की जगह 'उसके दुश्मन बीमार हैं', 'उसका पिंडा फीका है' आदि बोलेंगी। यार (दोस्त) का अर्थ 'जार' भी हो सकता है, इसलिए वे इसका प्रयोग न करेंगी। पुरुष जिसकी नौकरी करते हैं, उसे 'मालिक', 'सरकार' आदि कहकर पुकारते हैं। 'मालिक' का अर्थ 'पति' भी हो सकता है इसलिए खड़ी बोली प्रदेश की स्त्रियाँ 'सरकार' कहेंगी 'मालिक' नहीं।

कई ऐसे शब्द हैं जो स्त्रियों के ही मुख में सजते हैं—जैसे, मेरी फूल-सी बिटिया, नौज, मेरा वीर (भाई), माँजाई, बाबुल, इत्यादि।

अनेक देशों में स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेतीं। भारत में प्रायः स्त्रियाँ 'पति' शब्द भी नहीं कहतीं। इसके लिए 'ये मेरे वो हैं', 'वो मेरे ये हैं', 'घर वाला', 'मेरा आदमी', 'मालिक', साईं, (स्वामी) और सम्बोधन करते हुए 'मुन्नी के पिता', 'लल्लन के बाबू', 'मोहन (या रधिया) के 'भाई' आदि प्रयोग करती हैं। हिन्दी-साहित्य में जो 'प्रिय', 'नाथ', 'प्राणनाथ' आदि शब्द हैं वे साधारण बोलचाल में नहीं मिलते। लोक-गीतों में कुछ शब्द 'बालम', 'पिया', 'पीतम', 'पी', 'माहिया', 'रसिया', 'कंत' आदि आते हैं। वे प्रेमी के लिए हैं, पति के लिए नहीं हैं।

पति का नाम न लेने के कारण स्त्रियों को जो कष्ट होता है उससे पाठक परिचित हैं। 'माखन लाल' नाम बताने के लिए वे 'घी का भाई', 'लस्सी में से निकलने वाला' और न जाने क्या-क्या कहती हैं। वे माखन नहीं खातीं, क्योंकि माखन तो माखन लाल का पर्याय है; वे बच्चे को 'मेरे लाल' कहकर नहीं पुकारतीं। जिसके पति का नाम ताराचन्द हो वह तारा और चांद को इंगित करके और (दिन में) न जाने किन किन हेर-फेरों से नाम बता पाती हैं। जिनके पति का नाम 'रामलाल' होता है वे ऐसे सभी नामों को अधूरा बोलती हैं या टाल जाती हैं जिनमें 'राम' या 'लाल' शब्द आता है जैसे रामचन्द, रामधन, गंगाराम, श्री राम, श्यामलाल, लालजी आदि। 'कृष्ण' नाम के पति वाली स्त्री कृष्ण की पुजारिन होते हुए 'कृष्ण' नाम नहीं लेती, दूसरे नाम लेती है।

स्त्रियाँ अपने ससुर, सास, जेठ, जेठानी का नाम भी नहीं लेतीं।

स्त्रियों की शब्दावली में अतिशयोक्तिपूर्ण, व्यंग्यात्मक, और शिष्ट शब्द पुरुषों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

४. लोकवार्ता

भाषा को स्त्रियों की सबसे बड़ी देन हैं मुहाविरे, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, गीत और लोक-साहित्य के विविध रूप। 'चूड़ियाँ ठंढी करना', 'दाई से पेट छिपाना', 'उधेड़ बुन', 'कंघी चोटी करना', 'बात पल्ले बाँधना', 'ओढ़नी बदलना', 'उधेड़ के रख देना' आदि मुहाविरे, 'आ पड़ोसन मुझ-सी हो', 'कोस न चली बाबा प्यासी', 'मत कर सास बुराई, तेरे आगे आई', 'घी कहाँ गया, खिचड़ी में', 'ननद का ननदोई, गले लाग-लाग रोई', 'सौत बुरी चून की', 'जिसको पिया चाहे वही सुहागिन', 'जिये मेरा भाई, गली-गली भौजाई', 'रात-भर मिमियाई और एक बच्चा ब्याई', 'तू भी रानी मैं भी रानी, कौन भरेगा पानी', 'तेली की जोरू बनी फिर भी रूखा खाया', 'जैसे कन्ता घर रहे वैसे रहे विदेस', 'थाली फूटी-न-फूटी झन्कार सबने सुनी', 'कोई पूछे-न-पूछे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा धन सुहागिन नाम', 'कोदों का भात किन भातों में, ममिया सास किन सासों में,' इत्यादि सैकड़ों लोकोक्तियाँ स्त्रियों की गढ़न का परिचय देती हैं। ऐसे मुहाविरों और लोकोक्तियों का संग्रह करके उनका भाषाशास्त्रीय अध्ययन और विश्लेषण करने की बड़ी आवश्यकता है।

लोक-कथाओं और पहेलियों का जन्म भी अधिकांशतः स्त्रियों से होता है। कहानी नानी सुनाती है, नाना क्यों नहीं सुनाता ? लड़कियों और महिलाओं के मनोरंजन का यही प्रमुख साधन है। काम-काज से छुट्टी पाकर वे पहेलियाँ और कहानियाँ सुनती-सुनाती हैं। गीतों में स्त्रियों की छाप स्पष्ट है। नगर की कवयित्री अपने नाम का ढिंढोरा पिटवाती है। गाँव की कवयित्री गुम-नाम रहकर अपने भावों को अभिव्यक्त करती है। प्रेम वह भी करती है- -माँ बाप से, भाई से और अपने 'उस' से। पर वह अपना घूँघट नहीं खोलती, वह अपने प्रेम को बेचने नहीं निकलती। इसीलिए उसकी कृति लोक-सम्पत्ति हो जाती है, किसी व्यक्ति का कॉपी-राइट उस पर नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

हंसकुमार तिवारी

कला, सौन्दर्य और संस्कृति

कला, सौन्दर्य और संस्कृति—अरसा हुआ कि इनकी चर्चा आम हो आई है। लेकिन यह आम चर्चा महज एक जबानी जमा खर्च है, बातों की बात। तत्वतः अगर इनकी सूझ-बूझ भी आम और सामाजिक हो पाती, तो वह संस्कारिता हर दृष्टि से उन्नत, उपादेय और मंगलमयी होती। पर वास्तव में न तो वैसी बात है, न वैसा हो सकने की सम्भावना ही है। इसके कारण भी हैं। जहाँ तक सौन्दर्य-बोध और कला चेतना का सवाल है, हम सामाजिक तौर पर उसका एक परम्परागत रूप पाते हैं, उसके क्रम-विकास की एक रूप-रेखा तैयार कर सकते हैं। इसलिए कि सौन्दर्यप्रियता मनुष्य की एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है, कला जो कि 'माध्यम के रूप में आकृति का निर्माण' है, उसकी एक आवश्यकता है और ये कलात्मक रूप ही संस्कृति के पर्याय हैं।

रूप-रचना की प्रेरणा जैसी स्वाभाविक हुआ करती है, स्वरूप-विवेचन से जान-पहचान वैसी सहज नहीं होती। कोई भाषा बोल लेता है, तो उसके यह मानी तो नहीं कि वह व्याकरण के सूत्रों से संगठित उसके संगीतमय स्वरूप की भी सही जानकारी रखता है। इस जानकारी की शायद आवश्यकता भी अनिवार्य नहीं। धार्मिकता मूलतया आचरणगत ही होती है, शास्त्र कण्ठाग्र करने से नहीं आती। कलाकारिता, सौन्दर्य-बोध और संस्कार, ये भी शास्त्रीय नहीं होते, शास्त्र किन्हीं अंशों में सामाजिक सहृदयता का परिमार्जन और परिष्कार कर सकते हैं, रसग्राही चेतना उद्बुद्ध, उन्मुख और संस्कृत हो सकती है। किन्तु सहृदय सामाजिक से जिसकी अपेक्षा है, वह पूरी नहीं होती। आम तौर से लोगों में यह जो सुन्दर शब्द का प्रयोग हम पाते हैं, वह हर ऐसी वस्तु या बात के लिए एक भावात्मक स्वीकृति भर होता है, जो कि अच्छी या अपने ढंग की अनूठी समझी जाती है। सिद्धान्ततः सौन्दर्य-शास्त्र का कार्य सौन्दर्य का स्वरूप-विवेचन भर ही है, किसी को इस योग्य बनाना नहीं कि वह सुन्दर की रचना कर सके अथवा उसे पूर्णतया हृदयंगम करा दे सके। फिर यह विषय कुछ ऐसा है कि जिसकी सहज प्रतीति तो हरेक को होती है, प्रतीति कराने की अक्सर पाण्डित्यपूर्ण चेष्टाएँ भूल-भ्रांतियों से भरी होती हैं। सौन्दर्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों तक में सुन्दर की अक्सर परिभाषाएँ ऐसी शाब्दिक हैं, जिनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ सही-ग़लत का सवाल ही नहीं उठता; बहुत तो उन्हें सुविधा या असुविधाजनक अथवा सहज या जटिल कह सकते हैं। जटिलता की यह गुत्थी और उलझ ही जाती है, जब इसके कहलाने वाले समझदार स्वयं स्पष्ट और एकमत नहीं हो सकते। दुर्भाग्य से कला या सौन्दर्य के विचार-विश्लेषण में शुरू से आज तक ऐसा ही होता आया है। सर्व-साधारण और ऐसे विषयों के बीच की जो योजक कड़ी हैं, वे तो ऐसे व्याख्याता-विचारक ही हैं किन्तु चूँकि वह योजक रेखा ही विषय के आदि-अन्त के मूल बिन्दुओं के बीच उलझनों में भटकी-सी है, इसलिए ऐसे सामाजिक संस्कार का फिर सवाल ही कहाँ उठता है।

हिन्दी में इन विषयों की गहरी और शास्त्रीय चर्चाएँ थोड़े दिनों से होने लगी हैं, जो कला के अभिमूल्यन की नई दृष्टि सम्पन्न जागरूकता की परिचायक हैं और इसी बीच कुछ ग्रन्थों में इस विचार-परम्परा के प्रति व्यापक जिज्ञासा, गम्भीर मनन एवं भेदक अन्तर्दृष्टि के भी दर्शन मिलते हैं। भूल-भ्रांति के कुहरे-भरे मार्ग पर सहज-सुगम रोशनी की लकीर खींचने की कोशिश भी इस दिशा में दिखाई दे रही है, जो कि शुभ है। इस सम्बन्ध के उल्लेख योग्य ग्रन्थ तो हिन्दी में कई हैं, पर यहाँ हम उनमें से तीन को ही अपने इस प्रबन्ध में ले रहे हैं, 'कला और मानव', 'सौन्दर्य शास्त्र', तथा 'कला और संस्कृति' देखने में अलग-अलग दिशा में होते हुए भी तीनों का क्षेत्र लगभग एक है; एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। दूसरे शब्दों में यों कहें, प्रत्येक का अस्तित्व अन्य दो पर ही पूर्णतया आश्रित है।

'कला और मानव' चार निबन्धों का छोटा सा संग्रह है और अंग्रेजी पुस्तक का भाषान्तर है। निबन्धों में कला और सौन्दर्य-शास्त्र के आपसी सम्बन्धों पर संक्षिप्त और सुचिंतित विचार दिये गए हैं, जिनमें स्वाध्याय और मननशीलता की छाप स्पष्ट है और विषय प्रतिपादन के लिए जिन तर्कों की अवतारणा की गई है, वे बेशक जोरदार हैं, निर्णय चाहे मान्य न हों। लेखक की नई दृष्टि का परिचय इस स्थापना की चेष्टा से मिलता है कि उन्होंने कला वस्तु और माध्यम के अन्तर का विशद विवेचन करते हुए यह दिखाया है कि अभिमूल्यन-सम्बन्धी सारी भूल-भ्रांतियाँ अब तक माध्यम विचार की भूल से ही होती रही हैं। "कोई एक साल की बात है शायद लन्दन के टाइम्स के लिटरेरी सप्लिमेण्ट में कला की व्याख्या करते हुए किसी समालोचक ने कहा था कि कला माध्यम के रूप में आकृति का निर्माण है। मेरे ख़याल में इससे अधिक सच्ची व्याख्या मिलना कठिन है। हमें केवल इस बात को समझ लेना चाहिए कि हम इस व्याख्या के 'माध्यम' को ठीक समझ रहे हैं या नहीं। मेरा विश्वास है कि किसी भी मान्य सौन्दर्य-शास्त्र का अपेक्ष्य अंग इस शब्द का पूरा-पूरा विश्लेषण है और यदि इसके ठीक अर्थ और महत्व को समझ लिया जाय तो प्रतिनिधान (रिप्रेजेंटेशन) और अप्रतिनिधान (नन-रिप्रेज़ेंटेशन), सत्य, प्रकृति की नक़ल, ललित कला के रूप में कविता क्या है आदि समस्याएँ, जो हमारे कला-समीक्षकों को भ्रांति में डाल रही हैं, स्वयं ही हल हो जायँगी।"

माध्यम का पचड़ा बड़ा पेचीदा है। इसमें कोई शक नहीं और प्रस्तुत पुस्तक में बड़े विस्तार से, सशक्त युक्तियों द्वारा बड़ा अच्छा विवेचन किया गया है। त्रिपदात्मक प्रवृत्ति के बीच का पद माध्यम है, इसे मानकर सुगमता से काम चल सकता था, बशर्ते कि कला आदि का सम्बन्ध बहुपदात्मक नहीं होता। मसलन संगीत की बात ली जाय। गायक, गीत, ध्वनि, ध्वनिवाहक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शून्य, वायु, श्रवण, श्रोता—इन इतनी आनुषंगिक बातों में कौनसी को तीसरा पद माना जाय। अन्य कलाओं के साथ भी ऐसी ही उलझन आती है और ऐसे में निश्चय रूप से तीन पदों का निर्वाचन एक टेढ़ा काम है। लेखक ने इन्हें भी सापेक्ष त्रिपदात्मिका मानकर एक ऐसे निर्णय पर पहुँचने की कोशिश की है, जिसमें उनके जानते विवाद की गुञ्जाइश नहीं। किसी कला के प्रथम और तृतीय पद उनकी राय में सौन्दर्यनिष्ठ संवेद्यता और सौन्दर्य होते हैं और माध्यम कला-वस्तु। सौन्दर्यनिष्ठ संवेद्यता से हम कह सकते हैं उनका अभिप्राय सृजनक्षम प्रतिभा से या उसके अधिकारी कलाकार से है। एक स्थान पर साधारण मनुष्य और कलाकार में कुछ पार्थक्य उन्होंने बताया है कि साधारण मनुष्य की प्रकृति और कलाकार की प्रकृति में केवल यही अन्तर है कि कलाकार में सौन्दर्य-सम्बन्धी संवेद्यता निश्चित रूप से रहती है। इस संवेद्यता की भी अपनी प्रकृति होती है कि वह इन्द्रियजनित संवेदनाओं को सूक्ष्म रूप में ग्रहण करने वाली तथा तत्पर होती है। इस तरह संक्षेप में वह रूप यों होता है।

	कलाकार	माध्यम	सौंदर्य
यथा	चित्रकला	संसार का दर्श-नीय अंग, रंग रेखा, पुँज आदि	सौंदर्य

इस निश्चय से समस्याओं के निराकरण हो जाते और आपत्तिजनक कोई अंजाम नहीं निकलता, तो बात नहीं थी। इस माध्यम विचार की स्थापना में कुछ ऐसी बातों की अवतारणा हो आई, जिनमें काफी कुछ कहने-सुनने की गुंजाइश हो गई, बल्कि स्वयं परस्पर विरोधी बातें भी आ गईं, यथा ललित-कलाओं के वैधानिक-क्रम में कविता का स्थान सबसे नीचे रखना। ऐसे क्रम में कविता का स्थान यहाँ वा वहाँ हो, अपना वैसा कोई आग्रह नहीं; कविता जहाँ भी होगी, अपने गुण और शक्ति के अनुरूप वह कविता होगी। किन्तु उसके लिए जो बात कही गई है, उस पर ही बात आती है। प्रस्तावना में लेखक कहते हैं—"तुकबंदी मेरे खयाल में अशोध्य कमजोरी है।''''मेरा यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि कविता पूर्ण रूप में संतुष्ट नहीं करती। यह इस मानवी संसार की चाल-ढाल से दूषित है और संसार की क्षणभंगुरता इसमें इस प्रकार गुँथी है कि यह शक किये बिना नहीं रहा जा सकता कि इसकी उस क्षणभंगुरता के अति-रिक्त और कोई सार्थकता नहीं।"

'ललितकला के रूप में कविता का स्थान' में कहते हैं—"कविता से निर्मल यानी सौंदर्यनिष्ठ आनन्द की प्राप्ति केवल इसलिए होती है क्योंकि उसके सब तत्त्व अनियमानुसार संगठित हैं, यानी लय और व्यतिरेक के नियमों के अनुकूल हैं। परन्तु यह आनंद उतना गहरा नहीं, जितना अन्य ललितकलाओं से प्राप्त आनंद हो सकता है।"

लेखक ने काव्यानंद की क्षीणता के दो कारण बताए हैं। एक : कविता संवेदनाओं के सभी गुणों का प्रयोग कर लेती है और सभी इंद्रियों को साथ ही क्रियाशील करती है। दूसरा : काव्यमय संवेदनाएँ असली संवेदनाएँ बिलकुल नहीं हैं, केवल उनकी प्रतिक्रिया मात्र हैं और चूँकि कविता में असली संवेदनाओं की गहराई, वास्तविकता नहीं रहती, इनकी आनंददायिनी शक्ति भी कम होती है।

शास्त्रकारों ने ऐसी शंकाओं का बड़ा विस्तार से और सूक्ष्म विवेचन किया है, जिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। प्रसंगवश स्वयं लेखक ने इसी पुस्तक में यत्र तत्र जो मंतव्य दिये हैं, संक्षेप में वही इसके उत्तर हो सकते हैं। यथा—कवि के अनुभव अधिक परिपूर्ण और कम क्षीण होते हैं।"[1] "इन्द्रियों द्वारा विश्व के विभिन्न अंगों के, उनकी अपूर्व घनिष्ठता और पवित्रतामय रूप में, तीव्र आस्वादन तक पहुँची हुई सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता ही कलाकार का निर्माण करती है।"[2] "ऐंद्रिक संवेदनाओं में यह श्रेष्ठ आनन्द जिस में उनके अभिप्राय की छाया भी न हो, संवेद्यता का तथ्य है।....."[3] जो संवेद्यता कला की मूल प्रेरणा है, उसका अगर स्वरूप ही उपर्युक्त है, तो आनन्दशक्तिसम्पन्न वास्तविकता का और कौन-सा रूप हो सकता है, जो काव्य में नहीं मिलता?

कविता की क्षण-भङ्गुरता तब शायद स्पष्ट हो पाती, जब कि नित्यता की आयु का निश्चित परिमाण मालूम होता। उपन्यासकार शरच्चन्द्र ने भी एक बार यही बात कही थी कि किसी देश का साहित्य नित्यकाल का नहीं होता। संसार की सभी सृष्ट वस्तुओं की तरह इसके भी जन्म और विनाश का क्षण होता है। इस 'नित्य' शब्द का कोई गोल-मोल अर्थ तो अपने को नहीं आता, पर अगर दीर्घजीवन क्षण-भङ्गुरता का उत्तर है, तो कविता की लम्बी आयु के हम प्रमाण दे सकते हैं। राम नहीं रहे, 'रामायण' है; कौरव-पाण्डवों के प्रतापी पराक्रम का सूरज डूब गया और 'महाभारत' है; उज्जयिनी के वे दिन जाते रहे, कालिदास की कविता है। ऐसे और अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। दो कवियों की उक्तियाँ भी........

We have found safety with all things undying
The winds, and morning, tears of men and mirth,
The deep night, and birds singing and clouds flying
And sleep and freedom, and the autumnal earth.

और

युगे-युगे लोक गिये छे एसे छे
दुखीरा कैंदे छे, सुखीरा हंसे छे
प्रेमिक ये जन भालो से बेसे छे
आजि आमादेरि मतो।

तारा गे छे, शुधु ताहादेर गान
दुहाते छड़ाये कोंटे गेछे दान
देशे-देशे तार नाहिं परिमाण
भेसे-भेसे जाय कतो।

अन्य ललित कलाओं जैसा गहरा आनन्द काव्य से नहीं प्राप्त होता, इस पर युक्तियाँ दी जा सकती हैं, पर बात जैसे जँचती नहीं। संगीत हमारी अनुभूतियों को मूर्त करने में सफल है, किन्तु उसका आधार अमूर्त ध्वनि होता है, कविता के द्वारा आध्यात्मिक जगत् को रूप देने की ज्यादा सुविधा है, इसलिए कि शब्दों की आत्मा से अधिक निकटता है। एक सज्जन ने सौंदर्य-चेतना को आध्यात्मिक कहते हुए यह बताया है कि हमारी सौंदर्यानुभूति का स्वरूप ध्वन्यात्मक रहा है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि सौंदर्य का आस्वादन आँखों के बजाय कानों से ध्वनि

१. पृष्ठ २२ २. पृष्ठ ११ ३. पृष्ठ १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में किया जा सकता है। जो हो, इन बातों के सिवाय कविता की सबसे जो बड़ी विशेषता है, वह है अन्य सारी ललित कलाओं की अपनी जो एक खास अभिव्यंजना होती है, अपना जो एक ढंग होता है, कविता सफलता से उन सभी को अपने में ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता रखती है। संगीत, चित्र, भास्कर्य, सबकी विशेषता को यह अपने में प्रतिफलित कर सकती है। संगीत की गेयता से ही सम्पूर्ण गीति-कविता अनुप्राणित है। कालिदास की कविता में उसके उदाहरण हैं। अंग्रेजी की सारी रोमाण्टिक कविता, बंगला में कवि रवीन्द्र के गीत, हिंदी में छायावाद की श्रेष्ठ रचनाएँ, गीत और चित्र के मनोरम समन्वय हैं। क्लासिक-साहित्य में तक्षण और स्थापत्य की भंगिमा भरपूर है। सारा संस्कृत-साहित्य, लैटिन-साहित्य भास्कर्य की भंगिमा से महिमामय हो उठा है। फिर काव्य की अपनी शक्ति और विशेषता तो है ही। जहाँ तक सांसारिक चाल-ढाल से दूषित होने की आशंका है, वह केवल कविता से ही क्यों, प्रत्येक ललित कला की प्रेरक सौंदर्य-निष्ठ संवेद्यता उसकी शिकार मानी जा सकती है। क्रोचे ने तो स्पष्टतया यह कहा है कि वास्तविक सौंदर्य तो वही है, जो शिशु की आँखों से देखा गया होता है। आन्तरिक विकास के कारण और सामाजिक जीवन की जटिलता की वजह से हमारी विशुद्ध सौंदर्य-चेतना नैतिक और व्यावहारिक क्रियाओं से ढक जाती है।

कविता का माध्यम लेखक भावनात्मक अर्थ मानते हैं और शब्द, ध्वनि, संगीत का उसके लिए कोई मूल्य-महत्त्व नहीं मानते। शब्द के उन्होंने दो अंग कहे हैं—संवेदनात्मक और आशयात्मक। संवेदनात्मक रूप में शब्द ध्वनि का विषय, श्रवण-सम्बन्धी चेतनाओं का मिश्रण और स्वरों तथा व्यंजनों का समुदाय है। परन्तु भाषा में ध्वनियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता—वह महज वस्तुओं के प्रतीक का काम देती है। आशयात्मक शब्दों के भी उन्होंने दो पहलू किए हैं—संज्ञानी और भावनात्मक तथा इस भावनात्मक की भी दो शाखाएँ की हैं—निरपेक्ष व स्वतन्त्र तथा सम्भाव्य व आश्रित। और इस प्रकार उनके निर्णय का रूप जो होता है, वह है,

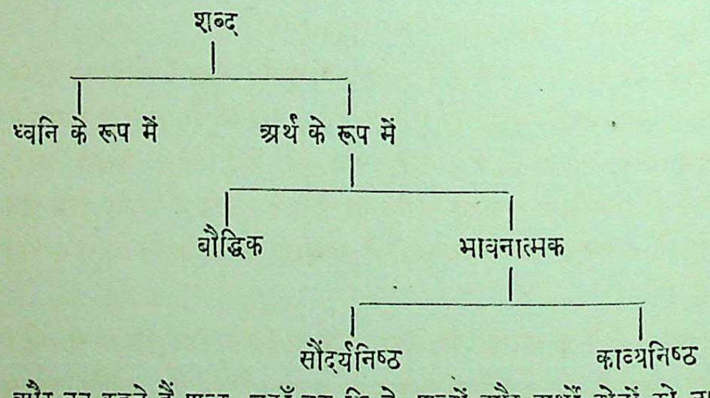

और तब कहते हैं शब्द, जहाँ तक कि वे शब्दों और अर्थों दोनों को उपलक्षित करते हैं, कविता का माध्यम नहीं। शब्द तभी कविता का माध्यम कहे जा सकते हैं यदि हम शब्दों का तात्पर्य कविता की तरह का भावात्मक अर्थ समझें।

शब्द, अर्थ, भाव—कविता में इनके अर्थ—अभिप्राय और सम्बन्ध बहुत बार एक-से होते हैं। शब्द और अर्थ तो पार्वती-परमेश्वर के समान अभिन्न माने गए हैं :

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वंदे पार्वती-परमेश्वरौ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनवगुप्त ने उस काव्यार्थ को भावना मानने में सहमति दिखाई है, जो पाठक-चित्त में विज्ञापित होकर रस-रूप में अनुभूत होते हैं—

संवेदनाख्य व्यंग्य परसंवित्ति गोचरः।
आस्वादनात्मानुभवा रसः काव्यार्थ उच्यते॥

जिस भाव को इमोशन कहते हैं, उसे ही संविद् या ज्ञान भी कहा जाता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति और लय ज्ञान-रूप में ही होता है। भरत ने कहा है :

वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।

अर्थ शब्द का अर्थ अभिधेय नहीं, बल्कि मूल रूप से काव्य जो प्रकाशित करना चाहता है, अर्थ वह है और इस तरह काव्य की अभिप्रेत वाणी रस या सौंदर्य ही है। ध्वनिकार ने भी शब्द और उसके साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक प्रतीयमान अर्थ का उल्लेख किया है, जो अवयवों से परे लावण्य की तरह रहता है।

काव्य-पाठ में इन शब्दों की एक साथ ही कितनी पृथक् क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं, रिचर्ड्स ने अपने काव्यास्वादन-सम्बन्धी सिद्धान्त में इसे बताया है। कविता पढ़ते समय एक ओर तो हम शब्दों को आँखों से देखते हैं, दूसरी ओर मन के कानों से उनकी शब्दात्मक ध्वनिमूलक कल्पना तिरने लगती है। और उच्चारण में वाग्यंत्र के अनुभव की छाया भी उस पर पड़ती है। इन सबके सम्मिलित प्रतिक्रियास्वरूप चित्त में जो एक आलोड़न उपस्थित होता है, वासनारूप उससे जो एक नया मानसिक व्यापार खड़ा होता है, वही काव्यास्वाद का कारण होता है। इसलिए भावनात्मक अर्थ कविता का माध्यम हो, कोई बात नहीं, शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध और साधित उद्देश्य के स्वीकृत स्वरूप के समझने में भ्रम नहीं पैदा होना चाहिए। ध्वनियों के सौंदर्य का भावनात्मक अर्थों के सौंदर्य में स्वाभाविक प्रक्रिया से ही रूपान्तरण हो जाता है। हर्बर्ट रीड ने शब्दों की रूपमयता के लिए कहा है, कविता शब्दों में व्यक्त होती है और शब्द प्रतिमाएँ खड़ी करते हैं, सो कविता में हमें इन दोनों के लिए सतर्क होना चाहिए।

हमारी अपनी धारणा है, कविता रूप-सृष्टि है—वांगमयी मूर्ति। भाषा में अभिव्यक्त होकर भी इसके रूप होता है, भाषा नहीं होती। सृष्टि तो संगीत, चित्र, मूर्ति भी हैं, परन्तु वे रूपाश्रयी न होकर भावाश्रयी हैं; रूपायन तो कविता ही है। सृष्टि-रचना की कोई चीज बोलती नहीं, अपितु हमारे अंतर में अपने को प्रकाशित करके ही सार्थक हो लेती हैं। दृष्टि में उनका अर्थ-बोध है। काव्य की भाषा भी बोलने के बजाय रूप खड़ा करती है, इसलिए कलाकृति को समझना नहीं पड़ता, वह समझ आती है।

हीगेल ने आधार की मूर्त्तता के आधार पर कला की उच्च-निम्न कोटि कायम की थी। किन्तु प्रस्तुत लेखक जब यह कहते हैं कि यह विभक्तिकरण का ग़लत प्रनियम है, क्योंकि प्रयुक्त सामग्री या भौतिक पदार्थों की महत्त्वहीन विभिन्नताओं पर आधारित है, तब वे स्वयं क्यों वैधानिक क्रम बनाने में लग जाते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। माध्यम स्वरूप वे जागतिक उपकरण को नहीं मानते, पार्थिव-जगत् के अंग-विशेष को मानते हैं; कला का प्रथम पक्ष या प्रेरणा सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता को मानते हैं और काव्य या अन्य कलाओं की एक ही स्थापना सौंदर्य मानते हैं, तो ऊपर-नीचे या छोटी-बड़ी जाति या कोटि क्या हो सकती है? प्रत्येक कला सृष्टि है, इसलिए मूल्य और महत्त्व की दृष्टि से उन सबका समान होना जरूरी है, बल्कि सब समान हैं। क्रोचे ने तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी सारी पुस्तकें जला देने की बात कही थी, जिनका ताल्लुक कला के वर्गीकरण से हो।

इन कुछ बातों को छोड़कर विश्लेषण, तर्क और पैनी अंतर्दृष्टि से पुस्तक का अपना मूल्य है और वह एक नई दृष्टि देती है, जो विचारोत्तेजक है।

भारत की कला-साधना की कड़ी बड़ी लम्बी है और विभिन्न कलाओं में उसके अभिनव दान की अपनी विशेषता और महत्त्व है। इससे भारतीय जीवन में सौंदर्य-बोध का अवश्य ही महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह प्रमाणित होता है। किन्तु सौंदर्य के स्वरूप का सार्वभौम विवेचन अपने यहाँ एक प्रकार से किया ही नहीं गया। साहित्य के आचार्यों ने वाङ्मय के विस्तृत विवेचन में सौंदर्य की प्रासंगिक चर्चा जरूर की है, पर ऐसी कोई प्राचीन पोथी नहीं पाई जाती जिसमें कि सौंदर्य का सर्वांगीण तथा तात्त्विक विवेचन किया गया हो। भरत से पंडितराज जगन्नाथ तक की आचार्य परम्परा में वाङ्मय का जरूर इतना सूक्ष्म विचार किया गया है, जैसा कि और कहीं नहीं किया गया, किन्तु वह विचार रस, अलंकार, ध्वनि-वक्रोक्ति आदि तक ही सीमित रहा। सबसे पहले वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक फिर पंडितराज जगन्नाथ ने ही रस-ध्वनि के अतिरिक्त सौंदर्य की एक विशेष चित्तभाव के रूप में चर्चा और स्थापना की। इस मान्यता से काव्य-विचार की एक अधिक उदार एवं नई दिशा जरूर खुल गई, परन्तु उस रमणीयता के स्वरूप-विचार का खास कोई आग्रह या प्रयास सामने नहीं आया, जब कि इस गूढ़ एवं आवश्यक विषय पर विदेशों में एक लम्बे अरसे से बड़े-बड़े विचारकों ने बड़े और महत्त्वपूर्ण कार्य किये। आज हिन्दी में वह चेतना और तत्परता अवश्य दिखाई दे रही है, फिर भी फुटकर लेखों के सिवाय सौंदर्य-शास्त्र सम्बन्धी काम की पुस्तक हिन्दी में उल्लेख-योग्य नहीं दिखाई देती। बहुत पहले श्री हरिवंशसिंह शास्त्री की छोटी सी पुस्तक 'सौंदर्य-विज्ञान' निकली थी; उस दिशा में दूसरी यह 'सौंदर्य-शास्त्र' है।

जैसा कि पुस्तक का नाम है, वास्तव में वैसे गूढ़ शास्त्रीय विवेचन का भारी-भरकम स्वरूप तो इसका नहीं है, पर यह एक सुन्दर परिचयात्मक कृति है, जो सौंदर्य-सम्बन्धी नवीन उद्भावनाओं के क्रमिक रूप और इतिहास : रूप और स्वरूप; भौतिक और आध्यात्मिक विचार-परम्परा और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि पर उपयोगी प्रकाश डालती है और कला, सौंदर्य के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में संक्षेप में विचार करती है। सौंदर्य की शास्त्रीय विवेचना सौंदर्य-शास्त्र का काम है और शास्त्र वह है जो वस्तुओं के चेतन स्वरूप और उनके आध्यात्मिक प्रभावों को व्यवस्था देता है। व्यवस्था की मूल बात वास्तव में संगति है—यह विज्ञान और शास्त्र दोनों को मान्य है, भेद दोनों में वास्तविक और आध्यात्मिक दृष्टि का है। प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण का जो साधारण अनुभव है, विज्ञान का लक्ष्य उसी तक जाता है और आन्तरिक अनुभवों के मनन से सत्य की प्रतीति शास्त्र का काम है, क्योंकि विचार के निर्णय की सत्यता अनुभवों की अनुकूलता पर ही प्रतिष्ठित होती है। अतएव शास्त्र की जिम्मेदारी सिर्फ इतनी ही नहीं होती कि वह सौंदर्य के रूप और स्वभाव का निश्चय करे, बल्कि सौंदर्य का आध्यात्मिक पहलू, तज्जात आनन्द-चेतना और उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार-विश्लेषण भी उपस्थित करना होता है। सौंदर्य-शास्त्र से हमें उस व्यावहारिकता और उपयोगिता की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए कि वह कलालोचकों को सौंदर्य के निर्णीत मान दे या रचनाकारों को कलाकृति के निर्माण के बँधे-सधे तौर-तरीके बताए। जो लोग इस उपयोगितावादी दृष्टि से इसे टटोलेंगे, उन्हें निराशा ही मिलेगी। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक या आर्थिक उपयोगिता के विचा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि सौंदर्य की परिभाषा सम्भव न हो, तो कहना होगा कि सौंदर्य-शास्त्र का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः अपने तौर पर सौंदर्य-विवेचन की यह विशेषता एक कठोर उत्तरदायित्व है, जिससे सौंदर्य-शास्त्र पर आज तक जटिलताओं का बोझ बढ़ता रहा है और सौंदर्य एक अजीब गुत्थी होकर सामने आता रहा है। दर्शन और विज्ञान की पद्धतियों पर उसके बहुत ही सूक्ष्म और विशद विवेचन किये गए हैं, फिर भी निर्विवाद और सामान्य मान्य स्वरूप अभी तक परीक्षित है। सबका सार अभी तक तो इतना ही हासिल है कि सौंदर्य सत्य है, किन्तु वह समझने की वस्तु है, समझाने की नहीं।

लेखक ने अब तक का उद्भावित सभी विचार-पद्धतियों की चर्चा से सौंदर्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। पहले अध्याय में तो शास्त्र क्या है और उसके अनुकूल सौंदर्य-शास्त्र क्या है, यह विस्तार से बताने की चेष्टा की है। पुस्तक के रूप, भोग और अभिव्यक्ति, सौंदर्य और आनन्द तथा कला में सौंदर्य—ये तीन अध्याय सुलिखित और अधिक उपयोगी हैं, जिनसे विषय के स्वरूप पर बहुत कुछ रोशनी पड़ती है। रूप के बारे में लेखक कहते हैं, 'रूप के अध्ययन में हमें यह समझना आवश्यक है कि यह गुण भोग-पदार्थों में निहित होते हुए भी उनसे पृथक् है। भोग्य पदार्थ इसके अवयव हैं और रूप अवयवी है।···व्यापक अर्थ में रूप का अर्थविन्यास, संयोजन, संगठन, संघटन, अथवा व्यवस्था किया जा सकता है जिससे अनेकों में एकता का बोध होता है। ध्वनि में भी रूप होता है, जिससे संगीत का जन्म होता है; गति में भी रूप होता है, जिससे नृत्य की अनुभूति उत्पन्न होती है।

तत्त्वतः बात यह निकलती है कि संगीत सौंदर्य का कारण है। आधुनिक विज्ञान भी रूपगत गुणों को सापेक्षता, संगति, समता और सन्तुलन आदि से ही निर्दिष्ट करता है।

रूपबोध और रूप-रचना में इसी समग्रता से आनन्द या सुख मिलता है। इस अर्थ में संगति वास्तव में विरोध का अभाव है। उसकी आनुपातिक मात्रा को निर्दिष्ट कर सकना तो सम्भव नहीं, परन्तु उसकी निश्चित या आवश्यक पूर्णता में ही सौंदर्य और आनन्द की अवस्थिति है। उस संगति को सन्तुष्टिप्रद संगठन-भर कह सकते हैं। रचना में जिस आनन्द की अभिव्यक्ति को अलौकिक, स्वर्गीय आदि कहने के लोग आदी हैं, उसका वाच्यार्थ ही हकीकत में अभिप्रेत नहीं होता; वह एक ऐसे आविष्कार से अभिप्राय रखता है, जो कि सामान्यतया लोकचक्षु के अन्तराल में होता है और इसीलिए रचनाकार में एक दिव्य दृष्टि मानी गई है।

Poetry alone can tell her dreams;
With the fine spell of words alone can save
Imagination from the sable chain
And dumb enchantment.

यानी मन की असीम आकांक्षा मानो एक माया की कठोर काली जंजीर से बँधी है; स्वप्न को शब्दों में रूप देने की क्षमता केवल कविता में ही है, काव्य ही शब्दों की जादूशक्ति से बन्दी भावों को मुक्त कर सकता है।

यह अज्ञात, अरूप, अजाने को रूप देने का काम प्रत्येक कला करती है, कोई स्वर से, कोई रंग से और वहीं कला का सम्बन्ध सौंदर्य-शास्त्र के विचार से जुड़ जाता है। पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्री इसे मूर्तकरण (ऑब्जेक्टिफिकेशन) कहते हैं। अपने यहाँ अभिनवगुप्त ने इसे 'शरीरीकरण' कहा है। इस रूप से हमें जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह हमारे मन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्वादन क्रिया का नाम है। जैसे अर्थ। अर्थ अपने पार्थिव शरीर या शब्द का बोधक नहीं बल्कि समझने की क्रिया है। इसी प्रकार वस्तु में प्रतीयमान या प्रत्यक्ष होने पर भी सौंदर्य रसिक की आत्मा की जाग्रत आस्वादन-क्रिया का नाम है।

पुस्तक में अनेक तथ्य और सत्य समाविष्ट हैं, जिनसे हिन्दी-पाठक लाभान्वित होंगे। सौंदर्य एक यथार्थ अनुभव है और वस्तु से लेकर आत्मा के प्रभाव तक उसकी जो लम्बी प्रक्रिया होती है, सौंदर्य-शास्त्र का उद्देश्य उसी को समझाना है, जो एक कठिन ही नहीं, कठोर कार्य भी है। इस क्षेत्र में हिन्दी में अभी पर्याप्त प्रयास की अपेक्षा है।

संस्कृति की भी चर्चा हमारे यहाँ बात-बात में होती है और हर विषय के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है—धर्म और संस्कृति, शिक्षा और संस्कृति, सभ्यता और संस्कृति, साहित्य और संस्कृति, विज्ञान और संस्कृति—आदि इत्यादि। किन्तु उसके व्यापक और प्रकृत स्वरूप की निश्चित धारणा सहज नहीं। आदिमकाल से लेकर आज तक मनुष्य की जो आशातीत उन्नति हुई है, उसकी मुख्यतया दो दिशाएँ हैं। जीवन की मोटी जरूरतों के बाह्य उपादानों के विकास से यह सभ्यता रूप ले सकी है और आध्यात्मिक विकास के फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-कला की जो शाखा पल्लवित हुई है, वह मनुष्य की संस्कृति की दिशा है। विचार और धर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है।

'कला और संस्कृति' में स्वाध्यायशील मनस्वी लेखक ने न केवल विचारों से स्वरूप की विवेचना की है, बल्कि प्राचीन साहित्य, कला और जीवन की साधना से जो उसका एक अखंड अनन्त स्रोत प्रवाहित होता आया है, उसका भी बड़ा मार्मिक विवेचन किया है और सत्य के अनेक ज्ञातव्य दिशाओं का सोदाहरण संकेत किया है, संस्कृति और कला के सम्बन्ध में सुलझे और हृदयग्राही विचार व्यक्त किये हैं। संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है, वह जीवन की प्राणवायु है जो उसके चैतन्य भाव की साक्षी देती है। संस्कृति विश्व के प्रति अनन्त मैत्री की भावना है। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन हलचल का लोकहितकारी तत्त्व उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति कला को जन्म देती है। कला का सम्बन्ध जीवन के मूर्त रूप से है। संस्कृति को मन और प्राण कहा जाय तो कला उसका शरीर है। संस्कृति इसलिए आवश्यक है कि भविष्य में विचारों की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिए आवश्यक है कि यन्त्र की दासता से मनुष्य अपने को बचा सके। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है।

पुस्तक का मूल्यवान अंश विचारों की इन लड़ियों में नहीं, जितना कि लेखक के उन प्रकरणों में है, जहाँ उन्होंने भारतीय सौंदर्य-परम्परा, रूप-विधान की समृद्धि और विकसित सशक्त शब्दावली का मूल्यवान अध्ययन और अनुशीलन उपस्थित किया है। जैसा कि लेखक ने कहा है, बंगाल की अल्पना, राजस्थान के मँहदी माँड़ने, बिहार के ऐंपन, उत्तर प्रदेश के चौक, गुजरात-महाराष्ट्र की रँगोली और दक्षिण भारत के कोलम, इनके वल्लरी-प्रधान और आकृति-प्रधान अलंकरणों में कला की एक अति प्राचीन लोकव्यापी परम्परा आज भी सुरक्षित है। उसे अपनी शिक्षा और सार्वजनिक जीवन में पुनः प्रतिष्ठित करना होगा। इसी प्रकार से वस्त्र, आभूषण, बरतन, उपकरण, चित्र, शिल्प, खिलौने, जहाँ जो सौंदर्य की परम्परा बची है, उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सहानुभूति के साथ समझकर पुनः प्रतिष्ठित करना होगा।

पुस्तक में २७ लेख हैं और समय-समय से लिखे गए होने के कारण उनमें एकतारता अवश्य नहीं है, पर सब-के-सब संस्कृति और शिल्प से ही सम्बन्धित हैं। चाहें तो सबको तीन कोटियों में बाँटकर देखा जा सकता है—भावात्मक, विश्लेषणात्मक और शोध अध्ययन। मनु, पाणिनी, वाल्मीकि, व्यास में अध्ययन और नवीन जीवन दर्शन की छाप है। 'राजघाट के खिलौनों का अध्ययन', 'मध्यकालीन शस्त्रास्त्र', 'भारतीय वस्त्र और सजावट' में भारतीय राष्ट्रीय कला, सौंदर्य-साधना और कला-रचना का शोधपूर्ण विवरण ही नहीं, विचारपूर्ण विवेचन भी है। तथ्यों और उनको रखने की युक्ति में नई दृष्टि के आकर्षण से पुस्तक पठनीय और उपादेय है। इससे लेखक के गम्भीर अध्ययन का ही परिचय नहीं मिलता, नियोजन की नवीन दृष्टि भी मुग्ध करती है।[1]

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

श्रीपतराय

नैराश्य के पुजारी

श्री जैनेन्द्रकुमार हमारे कथा-साहित्य के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। उनकी प्रतिभा अप्रतिम है। एक छोटे उपन्यास 'परख' तथा कुछेक और कहानियों के बल पर जितना यश उन्हें मिला वह अभूतपूर्व है और अनुचित कदापि न था। उनमें बड़ी मौलिकता, विचारों में बड़ी निर्भीकता, उनके लेखन में बड़ी मार्मिकता और शक्ति थी। उनकी शैली का सौन्दर्य सूक्ष्मतम मानवीय मनोभावों में उनकी गहरी पैठ के प्रति प्रेम और आदर जगाता था। उनके विचार गहरे और सुलझे हुए थे। वे एक अनोखी मौलिकता और अभिव्यंजना लेकर साहित्य में आये और खूब चमके। एक समय था कि उनकी शैली के अनुगामी अनेक नवविकसित लेखक थे। इन अनुगामियों की बहुत बड़ी पंक्ति थी। जैनेन्द्रजी सच ही बड़े बुद्धिमान हृदय-धर थे। बुद्धि और हृदय का इतना सफल समागम, सामंजस्य दुष्कर था। उनकी अनेक कहानियाँ, उनके उपन्यास 'परख', 'त्याग-पत्र' सचमुच ही कृतित्व के रत्न हैं। वे हमारे साहित्य की अमूल्य निधि हैं। पर वह सारी चमक, वह सारा चमत्कार गया कहाँ! आज तो उसकी कल्पना भी दूभर है। वे राह शायद वहाँ भटके जहाँ उन्होंने कहानी कहने की कला अथवा क्षमता को गौण मानकर दर्शन के ऊसर मटियाले आकाश में विचरण का स्वप्न देखा। जो वह थे वह कुछ कम स्पृहणीय न था कि वे उसके साथ ही दार्शनिक बनने की आकांक्षा को भी पोषित करते। (साहित्यकार का दर्शन उसका साहित्य क्यों न हो?) वहाँ वे राह भटके तो फिर राह न पाई, न पाई। जीवन में व्यक्ति राह एक ही बार खोता है, क्योंकि फिर और कुछ खोने को बचता ही नहीं।

१. 'कला और मानव'—बाल सीताराम मर्ढेकर
'सौन्दर्य-शास्त्र'—डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
'कला और संस्कृति'—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज यह सोच-सोचकर कलेजा मुँह को आता है कि उनके अन्दर जो कोमल, स्पन्दनशील, विवेक-आप्लावित कलाकार था उसे दर्शन के मिथ्याभिमान ने गला घोटकर मार डाला। आज वह कलाकार दम तोड़ चुका है और लगता है कि अब कोई शक्ति—दैवी या मानवी—उनकी रक्षा नहीं कर सकती। आज हम उनके दो हाल में प्रकाशित उपन्यासों की मीमांसा करेंगे।

उपन्यास शब्द के साथ वास्तविक अनुभव का लगाव आवश्यक है। उपन्यास एक क्रम-बद्ध कथा है जो इतिहास की भाँति चाहे नितान्त घटित न भी हो—होना कुछ आश्चर्यकर भी नहीं है—पर उसका सम्भाव्य होना आवश्यक है। उपन्यास का सबसे सीधा प्रयोजन यह होता है कि वह प्रकृति से लिये हुए चित्रों और दृश्यों के माध्यम से मनोरंजन करे और उन चित्रों अथवा दृश्यों को भावनाजन्य वर्णन में बाँधे। उपन्यास को मैं लेखन-कला का उत्कृष्टतम रूप मानता हूँ। इसे मैं संसार की कल्पना-संस्कृति के आधुनिक युग का सबसे बड़ा उपहार भी मानता हूँ। नाटक, संगीत, चित्र और वास्तु-कला के पीछे विकास का एक बहुत बड़ा इतिहास है जैसा कि उपन्यास के पास नहीं है। उपन्यास का जन्म, ऐतिहासिक मानदण्डों से, अभी बहुत अल्पकालीन है। आज इसका व्यास बहुत बड़ा है और यह सामान्य कथा-उद्घाटन से लेकर दार्शनिक चिन्तन तक को अपनी परिधि में बाँधता है। उसकी सफलता उसमें वर्णित अथवा चित्रित तत्त्वों की मानवीय स्पन्दनशीलता पर आधारित होती है। पर उपन्यास मात्र कल्पना-मिश्रित गद्य नहीं है। वह है मनुष्य के जीवन का गद्य, उसके सम्पूर्ण जीवन को मुखर करने वाला गद्य। इसीलिए केवल ऊपरी चमक-दमक, शैली के चमत्कार से सफल उपन्यास का सृजन नहीं हो सकता; जहाँ केवल शैली का चमत्कार हो वहाँ समझ लेना चाहिए कि और कोई चमत्कार नहीं है। उसके लिए जीवन में गहरी पैठ, गहरी अनुभूति और व्यापक सहानुभूति की माँग पग-पग पर, पल-पल में होती है। और इसीलिए उसका कला-रूपों में इतना ऊँचा और महत्त्वशील स्थान है। और आगे, इसीलिए, उसमें सफलता इतनी दुष्प्राप्य है, उसका लेखन इतना कष्टकर एवं सर्वग्राही। उपन्यास और कला-रूपों से भिन्न इसलिए भी है कि उसमें वह शक्ति है कि जीवन के गोपनीय अन्तरंग—यथा, मानसिक संघर्ष—को भी वह पाठक के सम्मुख उद्घाटित करता है। इस प्रकार यथार्थ का यह चित्रण उससे भिन्न है जो कविता, नाटक, संगीत या चित्र-कला द्वारा होता है। उपन्यास अपनी परिधि में समूचे, अविभाज्य जीवन को समेटता है; कुछ भी नहीं है जो उसकी परिधि से बाहर है—मनुष्य का चेतन, अर्द्ध-चेतन अथवा अचेतन।

जितना पारदर्शी होकर उपन्यासकार का व्यक्तित्व इस माध्यम से सामने आता है उतना सम्भवतः किसी और माध्यम से आ ही नहीं सकता। कारण सरल है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का उपन्यास प्रतिबिम्ब है—किसी तत्त्व-विशेष का नहीं, सम्पूर्ण जीवन का। इससे स्पष्ट है कि उपन्यासकार कुछ भी छिपाकर, बचाकर नहीं रख सकता। और उपन्यासकार के निजी जीवन की सचाई और निश्छलता का उपन्यास से और व्यापक कोई मापदण्ड नहीं है। चाहे अथवा अन-चाहे, उपन्यासकार का समूचा व्यक्तित्व उघड़कर जैसे प्रखर प्रकाश में पाठक के सम्मुख छिद्रा-न्वेषण की भिक्षा माँगता है। एक बार इस माध्यम को अपनाया नहीं कि फिर इसके अपरि-वर्तनीय नियम लेखक पर घटित हुए। कपट, छल, असत्य इस माध्यम के घातक शत्रु हैं। आलोचक चाहे क्षमा कर दे, आँख चुरा ले, पर काल और मानव बड़े कड़े और निर्मम निर्णायक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। लेखक का असत्य, उसका कपट हीरक-कण की भाँति मन की अन्तरतम गहराइयों में भी चमक उठते हैं। कहाँ छिपाये लेखक उनको ? अन्ततोगत्वा, किसी उपन्यास की कसौटी उसका वह स्नेह होता है जो वह पाठक में उपजाता है, वैसे ही जैसे मैत्री या सखा-भाव की, या और भी किसी अन्य उस गुण की जिसे परिभाषा की परिधि में बाँधा न जा सके। उपन्यास की तीक्ष्ण मानवता— या और आगे बढ़कर कहें तो उसकी दमघोंट मानवता—से बचना सम्भव नहीं है। मानवता से हम अपने जीवन में घृणा कर सकते हैं, (वह भी निरापद नहीं है) पर किसी कला-कृति में हमने उसको उन्नत करने का प्रयास किया या उस पर मुलम्मा चढ़ाया कि वह कला-प्रतीक धराशायी हुआ।

द्वितीय महायुद्ध से लेकर अब तक के हमारे उपन्यास-साहित्य में एक असीम निराशा परिलक्षित होती है। एक के बाद दूसरा उपन्यास मेरी इस धारणा को पुष्ट करता है। इसके कारण सामाजिक एवं नैतिक हैं। युद्ध के साथ-ही-साथ जीवन की गति में त्वरा उत्पन्न हुई। नौकरियाँ मिलीं, व्यापार बढ़ा, धन का विनिमय बढ़ा; आवश्यक वस्तुओं के मूल्य आसमान छूने लगे; इसकी आर्थिक प्रतिक्रिया भयानक हुई। चोरबाजारी से पैसा सुगमता से आने की राहें खुल गईं। मनुष्य की निकृष्टतम समाजद्रोही प्रवृत्तियों का नग्न रूप समस्त सामाजिक परम्पराओं को चीरकर उभड़ आया और समादृत हुआ। लेखक इस सारी उथल-पुथल में अपने को असहाय, निरीह, निहत्था महसूस करता था। उसके सारे नैतिक मानदण्ड ध्वंस हो गए। अपने जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के लिए उसे पग-पग पर समझौता करना पड़ा। उसके अन्दर की मानवता, विवेक, का ह्रास हो गया। उसने समझा कि इतने बड़े परिवर्तन के सम्मुख उसका अपना कोई बल नहीं है। कुछ भी नहीं है जिसे वह बदल सके या जिसके विरुद्ध उसकी आवाज़ कारामद हो। इससे उत्पन्न होती है निराशा और कुण्ठा। पुराने नैतिक मानदण्ड ढह गए, नया कुछ अभी तक बना नहीं। निराशा और कुण्ठा, अपने बाह्य और आन्तरिक विश्व के बीच एक भयानक पार्थक्य के अस्तित्व से वह हताश हो उठा। उसे यह तक समझ में नहीं आया कि इन दो विश्वों के बीच एकात्मता, सामंजस्य अथवा पार्थक्य महान् साहित्य के लिए श्रेयस्कर है। इतनी बड़ी विडम्बना के सम्मुख यदि हमारे साहित्यकार दिशा भूल बैठे तो आश्चर्य ही क्या? आश्चर्य यदि है तो केवल इतना ही कि समाज के सबसे प्रबुद्ध वर्ग की हैसियत से वह आज भी मूल्यों के वास्तविक धरातल को नहीं समझते। नहीं समझते कि इसी विसंगति से उनका मोरचा है और उनकी सफलता या अन्यथा इसी के परिणाम पर अवलम्बित है। देश की स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ हमारे जीवन में नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं। काली प्रभुता गोरी प्रभुता से अधिक आक्रामक और नृशंस सिद्ध हुई। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो जन्म से पहले ही हत हो गई। इस नवोदित स्वतन्त्रता की किरणें सामान्य जनता के जीवन को आलोकित न कर सकीं। कुछ परिवर्तन तो अवश्य हुआ पर उससे केवल इतना ही आभास हुआ कि कितने और परिवर्तन की आवश्यकता है। सामाजिक स्वास्थ्य के लिए अभी बहुत रास्ता तै करना था। दार्शनिक नैराश्य ही जीवन का खाद्य, उसका पोषक (अथवा घातक ?) तत्त्व बच रहा। यह नैराश्य धीरे-धीरे आत्मा को जड़ बनाता है, चेतना को कुण्ठित करता है। अवसाद से बढ़कर भयंकर मनःस्थिति और क्या होगी ? इस नैराश्य से व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर अपने ही दुःखों की लम्बमान छाया को यथार्थ मानने लगता है और यह छाया बढ़ते-बढ़ते महान् आकार धारण कर लेती है, जब चेतना के समस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारों को यह छाया बन्द कर देती है। यहाँ से नितान्त व्यक्तिवादी कला का प्रादुर्भाव होता है। जब ऐसा नहीं होता तब कलाकार दिवा-स्वप्न, तिलिस्म और जासूसी की शरण लेता है। स्पष्ट है कि ये मनःस्थितियाँ स्वस्थ नहीं हैं। इनका कला पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है—वह गूढ़, रहस्यमयी एवं प्रतीकात्मक होकर रह जाती है और जन-जीवन से दूर जा पड़ती है और मरणासन्न तो होती ही है। जीवन तो नैराश्य के दूसरे छोर से प्रारम्भ होता है।

श्री जैनेन्द्रकुमार के दोनों उपन्यास 'सुखदा' और 'विवर्त' इसी अभेद्य नैराश्य के परिणाम हैं। दोनों तिलिस्म हैं—दिवा-स्वप्न तक भी वे नहीं हैं क्योंकि स्वप्न में शायद अधिक विश्वसनीयता हो। यहाँ सौन्दर्य तो क्या, काल्पनिक सौन्दर्य भी नहीं है। यथार्थ से वे बहुत दूर हैं—सामाजिक यथार्थ से भी और वैयक्तिक यथार्थ से भी, क्योंकि न वे समाज के प्रति सच्चे हैं, न व्यक्ति के। (क्या व्यक्ति से अलग समाज के प्रति सचाई सम्भव है?) जीवन कहीं उनमें है ही नहीं। जीवन के चित्र वे हैं ही कब? और इतनी बोझिल, गतिहीन तिलिस्मी कहानी पढ़ना धैर्य की परीक्षा नहीं तो क्या है?

सुखदा क्षयग्रस्त होकर चीड़ के वृक्षों से घिरे अस्पताल में अपनी कहानी लिपिबद्ध करती है। नैराश्य और एकाकीपन से कहानी का आरम्भ होता है। वह सम्पन्न घराने की लाड़ों-पली लड़की है। उसका विवाह उसके माता-पिता के स्तर से थोड़ा उतरकर एक अतिशय सहृदय और विवेकशील पुरुष (मेरी दृष्टि में) से होता है। आर्थिक दृष्टिकोणों के वैमत्य के कारण पति-पत्नी में इस प्रश्न को लेकर अनबन होने लगती है। दोनों के आर्थिक स्तरों का यह अन्तर ही आपसी मनोमालिन्य का कारण बनता है, इस प्रसंग को, यद्यपि, लेखक ने बहुत स्पष्ट नहीं किया है। विवाह के डेढ़ वर्ष बाद एक बालक का जन्म होता है। एक दिन एक बीसवर्षीय युवक एक टहलुए का वेश धरकर आता है और इस परिवार में नौकरी चाहता है। वह रख लिया जाता है। सुखदा को प्रारम्भ से ही शक है कि वह किसी क्रान्तिकारी दल का सदस्य है। एक दिन वह काम छोड़कर चला जाता है और उसके दूसरे दिन सुखदा उसकी तसवीरें अखबारों में देखती है कि वह गिरफ़्तार हो गया है। इस एक घटना से सुखदा का जीवन अचानक, अनायास एक नई दिशा पकड़ लेता है और वह क्रान्ति की ओर मुड़ पड़ती है। (क्या क्रान्तिकारी इतने ही तर्कशून्य, नकारात्मक, जीवन से असन्तुष्ट, ऊबे हुए एवं दर्शनरहित होते हैं?) इस लड़के के लिए सुखदा अपार ममत्व से भर जाती है। और यहाँ से उसके राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ होता है और इस जीवन के साथ ही अपने पति से उसकी वितृष्णा भी बढ़ने लगती है।

इस नये क्षेत्र में सुखदा हरीश के सम्पर्क में आती है जो उदात्त क्रान्तिकारी है और घोर व्यक्तिवादी। वह उससे बहुत प्रभावित होती है। हरीश को सुखदा के पति श्रीकान्त पहले से जानते हैं। सुखदा का अनुमान है कि श्रीकान्त उसके राजनीतिक जीवन से असन्तुष्ट हैं यद्यपि उपन्यासकार ने इसके लिए कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया है। यह अस्पष्टता ही सम्भवतः इस उपन्यास का चरम गुण है। यहाँ से कहानी इस लोक से विदा लेकर तिलिस्म की दुनिया में जा पहुँचती है, क्योंकि जब एक दिन सुखदा हरीश से मिलने जाती है तो वे अपने स्थान से जा चुके होते हैं और उनके स्थान पर सुखदा की भेंट एक मि० लाल से होती है जो हरिदा (हरीश) का परिचय-पत्र लाये हैं। यहाँ से उनके नेतृत्व में काम होने लगता है। ये मि० लाल सुखदा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर आसक्त हो जाते हैं।

इन घटनाओं के बीच सुखदा के पुत्र विनोद को पढ़ने के लिए नैनीताल भेजने का हास्यास्पद प्रसंग भी लाया गया है। उससे मूल कहानी का कोई सम्बन्ध नहीं है। मि० लाल अचानक जापान जाने का निश्चय करते हैं। शायद वहाँ सम्पर्क स्थापित करने के लिए ? और सुखदा को एक बहुत ही निजी पत्र लिखते हैं जिसे पढ़कर सुखदा बस उनकी हो जाती है। (ऐसी घटनाएँ जीवन में क्यों नहीं होतीं ?) तभी पता चलता है कि मि० लाल ने दल के साथ द्रोह किया है और उनको दण्डित होना पड़ेगा।

इसके बाद अकस्मात् हरीश फिर इस कहानी में प्रवेश करते हैं। उनके सम्मुख लाल का मुकद्दमा पेश होता है। उन पर सुखदा के प्रति आसक्ति का जुर्म है। हरिदा का निर्णय होता है कि सुखदा लाल को दो दिन अपने पास रखे और प्यार करे। (जी, आप विश्वास नहीं करेंगे न!) फिर इसके बाद थोड़ी जासूसी भाग-दौड़ है। सुखदा अपने को लाल के प्रति समर्पित करती है। पर वे उसे छोड़कर चले जाते हैं। इसके पश्चात् फिर एक बार उनका सुखदा से साक्षात्कार हो जाता है; वह तो आत्म समर्पण के लिए आतुर बैठी है। वे उसे पाश में लेकर लगभग तोड़ डालते हैं, वह गल जाती है, उनका उन्माद उतर जाता है। इस बीच हरिदा ने दल भंग करने का निश्चय कर लिया है और वे उसे भंग भी कर देते हैं। कारण, गांधीवाद। सभी सदस्य तितर-बितर हो जाते हैं।

हरीश श्रीकान्त को विवश करते हैं कि वह हरीश को पुलिस के हवाले करके उनकी गिरफ़्तारी के लिए जो ५,०००) का इनाम है (क्या मैंने बताया नहीं ?) उसे ले ले। श्रीकान्त यन्त्रचालित-से यह कर देते हैं और ५,०००) लाकर घर पर रखते हैं। सुखदा के लिए उसके पति का यह व्यवहार अन्तिम प्रहार सिद्ध होता है। वह पति को छोड़कर अन्तिम रूप से अपनी माँ के पास चली जाती है। उससे आगे क्षयग्रस्त होकर अस्पताल पहुँच जाती है और इस अनर्गल कहानी का अन्त होता है, जैसे मन पर से एक भारी बोझ उतर गया हो।

'सुखदा' की कहानी से बहुत-कुछ मिलती-जुलती कहानी विवर्त की भी है। उसकी भी बानगी देख लीजिए। जितेन साधारण माता-पिता का पुत्र है। पर छोटी उम्र में ही यशस्वी बन सका है। एक अंग्रेजी पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करता है। भुवनमोहिनी एक बड़े आदमी की लड़की है। (कैडिलैक गाड़ी हाँकती है!) उसके पिता रिटायर्ड जज हैं और सर हैं। उनकी पत्नी और पुत्र की मृत्यु आसपास हुई जिसके कारण वे जीवन से उदासीन हो गए। अब उनके जीवन का सहारा भुवनमोहिनी बच रही है। भुवनमोहिनी का प्रेम जितेन से है जो उससे विवाह करना चाहता है। पर जितेन ग़रीब है और वह अमीरज़ादी है इस बात को लेकर दोनों में झगड़ा होता है और मोहिनी विवाह करने से इन्कार कर देती है। तदनन्तर वह अपने पिता-मित्र के पुत्र बैरिस्टर नरेशचन्द्र से विवाह की स्वीकृति दे देती है और वह सम्पन्न भी हो जाता है। वह (लगता है) अपने वैवाहिक जीवन में सुखी भी है। इसके चार वर्ष बाद अचानक जितेन एक क्रान्तिकारी के रूप में, एक मेल ट्रेन उलटकर, पनाह लेने मोहिनी के घर आया है। वह घायल हुआ है और चंदेक दिन मोहिनी के यहाँ रहकर स्वास्थ्य-लाभ करता है और मोहिनी उसकी सेवा-सुश्रूषा बड़े यत्न से करती है। पर जब वह जाता है तो मोहिनी के दस-बारह हजार के ज़ेवरात साथ ले जाता है, अपने दल में लौटता है और ज़ेवरात को बेचकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नक़द बनाने के बजाय यह नायाब नुस्खा पेश करता है कि भुवनमोहिनी को उड़ा लाया जाय और पचास हज़ार की माँग की जाय। मोहिनी पकड़कर लाई भी जाती है। जब वह जितेन के सामने पेश की जाती है तो अपने पुराने प्रेम के वश हो कातर हो उठती है और उसके पैर पकड़ लेती है जिन्हें वह चूमती है और दया की भीख माँगती है। (मैं समझता हूँ कि इससे अधिक घृणित आत्म-समर्पण का उदाहरण शायद साहित्य में कहीं ढूँढ़ने से भी न मिले!) इस बात से जितेन इतना आर्द्र हो आता है कि अपने पूरे दल का भार मोहिनी पर छोड़ देता है और स्वयं आत्म-समर्पण कर देता है। उसके लिए फाँसी की कोशिशें होती हैं पर शहादत न मिलने के कारण उसे फाँसी नहीं लगती। (और वह हमारे गले की फाँसी बना रहेगा!)

इन दोनों उपन्यासों की कहानी में, चरित्रों में, घटनाओं में, दोनों के मौलिक दर्शन में बड़ा साम्य है यहाँ तक कि वे एक-दूसरे की प्रतिलिपि होकर रह गए हैं। और ये दोनों ही जैनेन्द्रजी के और पहले के उपन्यास 'सुनीता' के विकृत रूप हैं। 'सुनीता' में सौंदर्य भी था, अर्थ भी। एक मूलभूत सामाजिक समस्या की ओर अच्छा संकेत था। पर उसकी दो धुँधली और विकृत प्रतिलिपियों से हिन्दी-साहित्य को विभूषित करने की भला क्या लाचारी थी? सिवा इसके कि लेखक के पास नया कुछ कहने के लिए न था, पर कुछ कहना उसके लिए नितांत अनिवार्य था। इन दोनों कहानियों को मैंने आपके सम्मुख इसलिए रखा है कि आप देखें कि ये निरे कल्पना-लोक के चित्रण हैं। न वास्तविक जीवन में ऐसी सुखदा होती हैं, न हरीश, न भुवनमोहिनी, न जितेन। क्रांतिकारियों का—जो हमारे देश के गौरव हैं—इससे बड़ा विद्रूप हमारे इतिहास में कहीं और न मिलेगा। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार के परी-तिलिस्म, जासूस-लोक को भी औपन्यासिक जामा पहनाने का अधिकार लेखक को है; पर यथार्थ और कल्पना का इतना कुरूप और हास्यास्पद घोल प्रस्तुत करने का अधिकार और छूट जैनेन्द्र जैसे ख्याति और यशप्राप्त लेखक को भी नहीं है। क्रांतिकारियों का एक आन्दोलन था, एक सामूहिक अस्तित्व था। उसे इस सीमा तक व्यक्तिगत रूप देना मात्र व्यक्तिवादी विचार-धारा का हीन प्रदर्शन है।

पात्रों की दृष्टि से ये दोनों ही उपन्यास मिथ्या हैं। भाषा तक वे वह बोलते हैं जो जैनेन्द्रजी बोलते हैं—जटिल, अस्पष्ट, ऊबड़-खाबड़, कर्ण-कटु। इन पात्रों का स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं; वे तो केवल अपने नियंता के इशारों पर नक्लो-हरकत करते हैं। जब तक पात्र नितांत स्वाभाविक न हों—यहाँ तक कि पाठक को उनके किसी कर्म से आपत्ति न हो—तब तक वे पाठक की सहानुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। उपन्यास और इतिहास के अंतर को मैं पूर्णतः स्वीकार करता हूँ। पर उपन्यास के पात्र को न केवल स्वाभाविक होना पड़ेगा वरन् उसे विश्वसनीय भी होना पड़ेगा। यह पर्याप्त नहीं है कि अमुक कर्म सम्भव है, यह सिद्ध करना होता है कि वह कर्म सामान्य जीवन की परिधि में आ गया है। इन दोनों ही उपन्यासों के पात्र न केवल सामान्य नहीं हैं और विलक्षण हैं अपितु वे जीवित हाड़-मांस के हैं ही नहीं। वे केवल विचार हैं जो मोम के गुड्डे-गुड़िया बनकर किसी बन्द शीशे की बोतल में उछल-कूद करते हैं और पाठक उनका विमूढ़ दर्शक है। या फिर वे अशरीरी विचार हैं जिनके ऊपर लेखक ने घटनाओं को टाँग दिया है। काल-निरपेक्षिता उपन्यास का गुण कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसका सबसे बड़ा बल मानवता है और मानव-जाति काल-निरपेक्ष नहीं हो सकती। मनुष्य जन्म लेता है, युवावस्था को प्राप्त होता है, मर जाता है। इस क्रम को उलट-पलटकर लेखक हमारी श्लाघा का पात्र नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतिकारियों का जो जीवन, उनका जो दर्शन श्री जैनेन्द्रकुमार ने यहाँ प्रस्तुत किया है वह हमारे ज्ञात इतिहास से मेल नहीं खाता। ये दोनों ही उपन्यास कालातीत और काल-निरपेक्ष हैं। उनसे पता ही नहीं चलता कि वे हमारे सामाजिक जीवन के किस काल-विशेष के चित्र हैं। हरीश और जितेन, सुखदा और भुवनमोहिनी को विश्वसनीय यदि बनाना है तो उनको और मांसल बनाना पड़ेगा। अभी तो वे केवल छायाएँ हैं।

नैराश्य इन दोनों ही उपन्यासों का संदेश है—नैराश्य को यदि यह संज्ञा दी जा सके। यहाँ तक भी मुझे आपत्ति नहीं है—यदि लेखक को चहुँ ओर अंधकार ही दिखाई देता है तो उसे अधिकार है कि वह उसे अन्धकार ही कहे। पर जीवन के जिस प्रशस्त मार्ग से होकर वह अन्धकार तक पहुँचता है उस मार्ग में उसे जो कुछ दिखाई देता है उसे अपने अन्तिम निर्णय अथवा लक्ष्य से कलुषित करने का अधिकार उसे नहीं है। पर जैनेन्द्रजी ने इन दोनों ही उपन्यासों में असंदिग्ध रूप से यही किया है। जीवन को इस प्रकार झुठलाना अनुचित है।

'सुखदा' और 'विवर्त' दोनों ही भारतीय क्रांतिकारियों के वर्णन हैं। पर इस क्रांति की विशेषता शायद यही है कि इनमें वर्णित क्रांतिकारी ही न्यूनतम विश्वसनीय हैं। इनके चरित्-नायक हरीश और जितेन न शक्तिपूर्ण हैं, न विश्वासोत्पादक। वे केवल सपाट चित्र हैं, उनमें गोलाई है ही नहीं। वे पूरे मानव नहीं हैं और इसलिए वे उपन्यास के सफल चरित्र नहीं हैं, और चाहे जो कुछ भी हों।

श्री जैनेन्द्रकुमार निम्न मध्यवर्ग के जीवन के बड़े सफल चितेरे हैं। पर जब वे मध्य अथवा उच्च मध्यवर्ग का चित्रण करते हैं तो सर्वथा कृत्रिम लगते हैं। फिर इन दोनों ही उपन्यासों में इस मध्य और उच्च मध्यवर्ग को चित्रित करने का मोह क्यों?

इन दोनों ही उपन्यासों में नारी का नीचाशय आत्म-समर्पण मन को विषाक्त बना देता है। यह केवल नारी का चरम निरादर नहीं है, यह सारी कला और सत्य का अनादर है। उदाहरण के रूप में 'सुखदा' से ये वाक्य उद्धृत करता हूँ:

मैं उठकर आई और उनके पैरों में बैठकर बोली, 'मुझे मार दो, मुझे मार दो।'

और इसके कुछ और बाद निम्नलिखित वर्णन उपर्युक्त आत्म-समर्पण का भाव्य है:

लगा जैसे जाने क्या ऊपर से उतर गया है, सामने से हट गया है, भीतर से खुल गया है। मानो मैं हलकी हो आई। जैसे मीठी धूप में लजाती, खिलती, इठलाती, हलकी-फुलकी बदली होऊँ।

और 'विवर्त' में इसी प्रबन्ध को कुछ और भद्दा और अश्लील रूप दिया गया है:

मोहिनी ने जितेन के दाहिने हाथ को खींचकर बार-बार मुँह से लगाया, सारे चेहरे से लगाया और सुबकते सुबकते कहा—'जितेन''''जितेन!'

'उठो', जितेन ने कहा—'दरवाज़ा खुला है, बन्द कर दो। इतनी नीच बनती हो! इस में तुम्हें न आए, मुझे शरम आती है।'

इस पर मोहिनी झुककर बूट के तस्मों से कुछ ऊपर पाँव के मोज़ों पर बार-बार जितेन के दोनों पैरों को चूम उठी। (इसके पहले जितेन इसी युवती को अपने पाँवों पर से झटक चुका है और युवकों को आदेश दे चुका है कि वे उसे घसीटकर ले जायँ)।

नारी के निरीह आत्म-समर्पण का यह नग्न चित्र साहित्य में अनजाना है। कहीं यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक की दमित वासनाओं (एवं आकांक्षाओं!) का विस्फोट तो नहीं है? पर कितना अधम, कितना अशोभन! जैसे नारी का कोई व्यक्तित्व हो ही नहीं, वह मात्र कठपुतली हो!

नैराश्य के इन पुजारियों के सम्मुख अन्धकार है, निविड़ अन्धकार। पर जीवन कब अन्धकार में पनप सका है? इसीलिए क्या यह उचित नहीं है कि वे प्रकाश में आएँ जहाँ जीवन है—उद्दाम जीवन, दुर्दमनीय स्फूर्ति! आशा की यह लौ कब बुझी है![1]

नरोत्तम नागर

जैनेन्द्र का सोच-विचार

जैनेन्द्रजी हिन्दी के माने हुए लेखक हैं। आप कहानियाँ लिखते हैं, उपन्यास लिखते हैं, और सोच-विचार करते हैं। यहाँ हम जैनेन्द्रजी के सोच-विचार का 'कुछ' परिचय देने का प्रयत्न करेंगे—'कुछ' इसलिए कि जैनेन्द्रजी बात को तीन-चौथाई कहते हैं और एक-चौथाई अनकही छोड़ देते हैं, और कभी-कभी तो अपनी बात को कहने के लिए मौन का, कुछ संकेतों और ध्वनियों का प्रयोग करते हैं जिन्हें या तो वे खुद समझ सकते हैं या फिर···

जैनेन्द्रजी की दुनिया में एक और भी मुसीबत है। इस दुनिया में आदमी बात को नहीं पकड़ता, बल्कि बात आदमी को पकड़ती है। ऐसी हालत में जबकि, बकौल जैनेन्द्रजी, न तो सत्य को पकड़ा और न ही उसे शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, जैनेन्द्रजी का इतना कुछ लिख डालना (चारों पुस्तकों में कुल मिलाकर १२०४ पृष्ठ हैं) सचमुच में एक इतर-मानवीय करतब है। जैनेन्द्रजी, सचमुच, अद्‌भुत कौशल के धनी हैं। गोगिया पाशा का नाम शायद आपने सुना होगा। आँख पर पट्टी बाँधकर भरी सड़क पर वह साइकल चलाता है। जैनेन्द्रजी का करतब उससे कहीं बढ़ा-चढ़ा है। जैनेन्द्रजी का सोच-विचार, खुद उन्हीं के शब्दों में, "जैसे आदमी दायें और बायें अपने इन दो पैरों पर चलता है वैसे ही बुद्धि 'हां' और 'नहीं' इन दो पैरों पर चलती है।" क्या आपने अपने गाँव में, या नगर में, किसी ऐसे हिरना को किलोलें करते या चौकड़ियाँ भरते देखा है जिसके अगले पाँवों में 'हां' की और पिछले पाँवों में 'नहीं' की चक्की के पाट बंधे हों। भगवान् की कृपा से जब पंगु गिरिवर चढ़ सकते हैं और मूक वाचाल हो सकते हैं तो जैनेन्द्रजी की बुद्धि या कल्पना भी पाँवों में 'हां' और 'नहीं' की चक्की के पाट बाँधकर कुलाचें भर सकती है। इतना ही नहीं, बल्कि जैनेन्द्रजी में इन 'पंगुओं' और 'मूकों' से अधिक गुण हैं। 'हां' और 'नहीं' के पाट बाँधकर आपकी कल्पना कुलाचें ही नहीं भरती, वह दुनिया-भर की समस्याओं का हल भी करती है, या इन समस्याओं को कुछ ऐसा रूप देकर छुट्टा छोड़ देती है कि वे हल होने से सदा इन्कार करती रहें: **"सवाल है ही इसलिए नहीं कि शान्त होकर सो जाय, वह सिर्फ इसलिए है कि दूसरे सवाल को जन्म देता है...."**

इससे भी बढ़कर यह कि **"हमको मान लेना चाहिए कि जो शब्दों में आता है, सत्य उसके परे रह जाता है।..."** सत्य शब्दों में पकड़ाई दे या न दे, इसके बावजूद जैनेन्द्रजी

१. 'सुखदा', 'विवर्त'—लेखक जैनेन्द्र कुमार; प्रकाशक, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत-कुछ कहते और बहुत-कुछ करते हैं। जैसे—वह परिवर्तनों को अपने ऊपर होने ही नहीं देते बल्कि परिवर्तन करते भी हैं···आदमी अपूर्ण रहने के लिए नहीं है, इसलिए वे पूर्णता की ओर बढ़ते हैं···घटनाओं को स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि घटित भी करते हैं···और वह किसी के (चाहे वह भगवान् ही क्यों न हो) केवल उपादान, केवल उपकरण ही नहीं बल्कि कर्ता भी हैं···चीज़ें बदलती हैं, वे सदा बदलती रही हैं, यहाँ तक ही मनुष्य का सत्य नहीं है, इसलिए वह ऐलान करते हैं : "हम चीज़ों को बदलते हैं, हम उन्हें बदलते रहेंगे !"

बदलने बदलाने का यह काम जैनेन्द्रजी इतने सम्पूर्ण रूप में और इतनी खूबसूरती के साथ करते हैं कि उसके बाद और किसी चीज़ की जरूरत नहीं रह जाती; क्रान्ति का तो निश्चय ही नहीं : "अतः क्रान्ति नहीं की जा सकती। वह नहीं की जानी चाहिए। उसका प्रचार अनिष्ट है···जो उसे करना चाहते हैं, वे बादल को मुट्ठी में पकड़कर उसे बरसाना चाहते हैं।" लेकिन, और इसके लिए जैनेन्द्रजी की तारीफ करनी चाहिए कि, वह संकीर्ण नहीं हैं। बावजूद क्रान्ति से इस दो-टूक इन्कार के, 'भाषा में और व्यवहार में" वह उसे सह सकते हैं, बशर्ते कि उसका "प्रयोग कवि-भाषा में ही किया जाय।' जाहिर है कि जैनेन्द्रजी क्रान्ति से भय नहीं खाते : "न समझा जाय कि मैं क्रान्ति से भय खाता हूँ।" बात केवल इतनी है कि क्रान्ति का कोई क्या करेगा जब कि "वह प्रतिक्षण हो रही है। युद्ध प्रतिक्षण हो रहा है। वह कभी समाप्त नहीं होगा···जीवन निरी मुलायम चीज़ नहीं है। वह युद्ध है···जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझौता नहीं, और कोई अन्त नहीं है।"

सो जैनेन्द्रजी डरपोक नहीं, योद्धा हैं। युद्ध की भाषा में बात करना जरूरी समझते हैं, और यह बताने में अनेक पन्ने उन्होंने काले किये हैं कि "युद्ध की परिभाषा में ही जीवन को देखना क्यों ज़रूरी है !" जैनेन्द्रजी योद्धा हैं, और उनका युद्ध निरुद्देश्य नहीं बल्कि सोद्देश्य है। ग़लत न होगा अगर हम यह कहें कि जैनेन्द्रजी, विचारों की दुनिया में, सर्वहारा के योद्धा हैं। विचारों की दुनिया में सर्वहारा कौन होता है ? वह जिसके पास विचार न हों, जो बुद्धि से वंचित हो। बुद्धि के खिलाफ़ जैनेन्द्रजी ने इतना जमकर युद्ध किया है कि उन्हें सहज ही महावीर चक्र प्रदान किया जा सकता है।

यहाँ एक संस्मरण का उल्लेख कर दें। एक बार जैनेन्द्रजी ने स्वर्गीय प्रेमचन्द्र जी से पूछा—"आप बताइए कि अपने सारे लिखने में आपने क्या कहा और क्या चाहा है।" प्रेमचन्द जी ने बिना देर लगाए उत्तर दिया—"धन की दुश्मनी।" जैनेन्द्रजी से भी अगर यही सवाल किया जाय तो वह उत्तर देंगे—"बुद्धि की दुश्मनी।"

किसी को कोई सन्देह नहीं रह जाय, इसलिए जैनेन्द्रजी और भी स्पष्टता के साथ कहते हैं : "तो एक तरह से या दूसरी तरह से, सीधे या टेढ़े, उघड़ी कि लिपटी वही-वही बात मैंने कहनी और देनी चाही है।" वही-वही बात से मतलब है बुद्धि की दुश्मनी की बात, जो जैनेन्द्रजी के समूचे साहित्य में व्याप्त है, और जिसके लिए "जीवन को युद्ध की ही परिभाषा में देखना" जरूरी है।

सचमुच बहुत ही बड़ा काम जैनेन्द्रजी ने अपने हाथों में लिया है। लेकिन इतना बड़ा काम करते हुए भी जैनेन्द्रजी सराहनीय विनम्रता का परिचय देते हैं। यह बहुत बड़ी बात है। कारण कि बुद्धि का दम्भ और अहम् तो खैर जैसा होता है वैसा होता ही है, लेकिन उस मूर्खता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दम्भ भी कुछ कम नहीं होता जो लाठी लेकर बुद्धि के पीछे पड़ जाती है। जैनेन्द्रजी की खूबी यह है कि वह बहुत ही सादगी और विनम्रता से बुद्धि के खिलाफ लाठी चलाते हैं—"मेरी एक कमज़ोरी है। उससे मैं तंग हूँ। पर वह मुझसे छूटती नहीं है। मूर्ख जानना चाहता है और मेरे साथ मूर्खता लगी है कि मैं जानना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि जाना जा भी नहीं जा सकता।" लेकिन यह तो विनम्रता की शुरुआत-मात्र ही है। इसके बाद जैनेन्द्रजी कहते हैं: "जो जानता है कि वह विद्वान् है ऐसे महापण्डित को सँभालने की शायद साहित्य में ताकत नहीं है।" सो जैनेन्द्रजी ने अपने साहित्य और विचारों की दुनिया को, ऐसे पात्रों और चरित्रों से आबाद किया है जो सब-कुछ जानते हुए भी जानने का जानना क्या होता है, यह नहीं जानते।

जैनेन्द्रजी का प्रेमचन्दजी से घनिष्ठ सम्पर्क था। दोनों एक-दूसरे को खूब चाहते थे, बावजूद इसके कि लाठी लेकर बुद्धि का पीछा करने में प्रेमचन्द जी ने जैनेन्द्रजी का कभी साथ नहीं दिया।

जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी पर अनेक लेख लिखे हैं। इन लेखों में उन्होंने, मुख्य रूप में, प्रेमचन्दजी की एक विशेषता का उल्लेख किया है। वह यह कि प्रेमचन्दजी अनेकों में से एक नहीं थे, अनेकों से अलग नहीं थे, अनेकों जैसे थे, अनेकों को अपने हृदय से लगाने में उन्हें कभी किसी हिचक, दुविधा या 'स्व' और 'पर' के झमेले का अनुभव नहीं होता था। प्रेमचन्द के साथ पाठक, जैनेन्द्रजी के ही शब्दों में, **"बहुत सतर्क और उद्बुद्ध होकर नहीं चलता क्योंकि उसे भरोसा होता है कि ग्रन्थकार उसे छोड़कर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा।"** इतना ही नहीं, बल्कि और भी **"स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द सहज ही अविजेय हैं।"** इसी बात को अगर पलटकर जैनेन्द्रजी पर लागू किया जाय तो कहना होगा—**"अस्पष्टता के मैदान में जैनेन्द्रजी सहज ही अविजेय हैं।"** प्रेमचन्दजी के समान **"बात को ऐसा सुलझा कर कहने की आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है······उनकी कलम सब जगह पहुँचती है, लेकिन अंधेरे में भी वह धोखा नहीं देती······अपने पाठकों के साथ मानो वे अपने भेद को बाँटते हुए चलते हैं······प्रेमचन्द में से कहीं कोई वाक्य उठा लें तो जान पड़ेगा कि मानो वह स्वयं सम्पूर्ण है, चुस्त, कसा हुआ, अर्थपूर्ण।"**

जैनेन्द्रजी इस स्पष्टता के अयोग्य हैं, ऐसी कोई बात नहीं। यह बात दूसरी है कि उन्होंने शौक़िया अपने को 'हाँ' 'ना' की चक्कियों से बाँध रखा है। जैनेन्द्रजी में भी इस स्पष्टता के दर्शन होते हैं, विशेषकर उस समय जब वह घर-गिरस्ती की बातें करते हैं—अपनी घर-गिरस्ती की भी और दूसरों की घर-गिरस्ती की भी, जब वह उस पत्नी की बात करते हैं जिसके घर में खाने वाले सात हैं और कमाने वाला कोई नहीं, जब वह खुद अपने उस जीवन का जिक्र करते हैं जब तेइस-चौबीस वर्ष की आयु हो जाने पर किसी काम में न लग सकना उन्हें बुरी तरह अखरता है, माँ की प्रेमभरी दृष्टि हृदय को कुरेदती है, घर पर रहना दूभर मालूम होता है, अपना अधिकांश समय वह किसी पुस्तकालय या मटरगश्ती में काटते हैं, और अन्त में, नौकरी की खोज में, कलकत्ता की यात्रा करते हैं और जो-कुछ अपने पास था उसे भी गँवाकर वापिस लौट आते हैं।

जैनेन्द्रजी की पहली कहानी की कहानी पहले प्रेम की भाँति मधुर है। एक पुराने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथी विवाह करते हैं और एक भाभी को ले आते हैं। भाभी पढ़ी-लिखी थीं। पत्र-पत्रिकाएँ मँगाती थीं, उन्हें पढ़ती थीं और चाहती थीं कि वे भी कुछ लिखें। दोनों लिखने का कार्यक्रम बनाते। भाभी तो कुछ लिख भी लेतीं, लेकिन जैनेन्द्रजी की समझ में न आता कि क्या लिखें। आखिर एक दिन घटी दिलचस्प घटना को ज्यों-का त्यों कागज़ पर उतार डाला। जाकर सुनाया भाभी को (घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी)। भाभी लजाई, मगर खुश भी हुई। यह थी जैनेन्द्रजी की पहली कहानी जो जाने फिर क्या हुई! उसकी एक स्मृति बाक़ी है जो भारतीय परिवार में भाभी के मधुर अस्तित्व की याद दिलाती रहेगी।

इससे भी मधुर स्मृति चार रुपये के उस पहले मनीआर्डर की है जो जैनेन्द्रजी को, बिना माँगे, अपनी कहानी के पारिश्रमिक स्वरूप प्राप्त हुआ था। एक मित्र थे जो सन् २०-२१ की गरमागरम देशसेवा के बाद सन् २६-२७ तक खाली हाथ हो गए। अब क्या करें? नेतागिरी भूखे पेट तो चलती नहीं। सो एक छोटी-सी पाठशाला में पच्चीस या चालीस रुपये पर अध्यापक बन गए। पाठशाला चाहे जितनी छोटी हो, लेकिन उनके विचार बड़े थे। उन्होंने एक पत्रिका निकाली—छपी-छपाई नहीं, बल्कि हाथ की लिखी। उसमें जैनेन्द्रजी की कहानियाँ भी थीं। इनमें से एक कहानी किसी मित्र ने 'विशाल भारत' में भेज दी जो उसमें छपी। फिर एक दिन 'विशाल भारत' से चार रुपये का पहला मनीआर्डर भी आ गया: "मनीआर्डर क्या आया, मेरे आगे तिलिस्म खुल गया······रुपया मेरे आगे फ़रिश्ते की मानिन्द था जिसका जन्म न जाने किस लोक का है। वह अतिथि की भांति मेरे 'लेख' (कहानी का शीर्षक) के परिणामस्वरूप मेरे घर आ पधारा तो मैं अभिभूत हो रहा।"

इसी के साथ-साथ ऐसा भी हुआ है जब, कोशिश करने पर भी, पैसा पाने की इस खुशी को जैनेन्द्रजी प्राप्त नहीं कर सके हैं। जेब में कहानी और हृदय में पाँच रुपये पाने की आकांक्षा लिए उन्होंने पत्र-कार्यालयों का द्वार खटखटाया है। इस सिलसिले में एक सम्पादक का उन्होंने ज़िक्र किया है जो "मालिक भी थे, लेखकों को पारिश्रमिक अवश्य और काफी परिमाण में देना चाहते थे, प्रतीक्षा यह थी कि पत्रिका नफा देने लगे।" जैनेन्द्रजी जानते हैं कि 'पत्रिका के नफा देने' तक प्रतीक्षा करने के क्या मानी होते हैं। और अकेले जैनेन्द्रजी ही क्यों, यह एक ऐसी बात है जिसे आप भी जानते हैं, मैं भी जानता हूँ, वे सब लोग जानते हैं जिन्हें दिन-भर भटकने के बाद भी दो जून चैन से रोटी नहीं मिलती।

जैनेन्द्रजी की आकांक्षा थी कि "ऐसे जिओ जैसे कि फूल जीता है, सूरज, चाँद और तारे जीते हैं, अजगर जीता है, पंछी जीता है"······लेकिन जीवन में गरुड़ जाति के ऐसे लोग भी हैं जो आदमी को फूल, सूरज, चाँद और तारों की भाँति नहीं जीने देते, बल्कि उसे कुएँ का मेंढक या अपनी और दूसरे देशों की जनता का शिकारी बनाकर रखना चाहते हैं: "पेट को खाली रखकर आदमी को आसानी से कुएँ का मेंढक बनाया जा सकता है। उसके साथ जोड़ दीजिए भविष्य की चिन्ता······" आदमी को कुएँ का मेंढक बनाने का कारण है: "सिर के ऊपर गरुड़ की तरह झपटते हुए जो लोग इधर-से-उधर उड़ा करते हैं, ऐसे पुरुषों के भोज्य के लिए ज़रूरी है कि कुछ अंधे कुएँ हों जहाँ काई जमा हुआ करे और आदमी मेंढक हुआ करें।"

लेकिन बात केवल अंधे कुँओं का निर्माण करने और आदमी को मेंढक बनाने तक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित नहीं है। के इसबाद : "शास्त्र सिखाते हैं और प्रचार बताता है कि फौज में मौज है और वहाँ मारने और मरने दोनों में पुण्य है।" सो सैनिक छावनियों और अड्डों का जाल फैलता है : "सेनाएँ इसलिए नहीं कि वे देश की रक्षा करें, बल्कि देश इसलिए कि वे सेनाओं का पालन करें।" जैनेन्द्र का वह रूप जहाँ वह अपने देश से, अपने देश की जनता और उसकी बोलचाल से, अपने देश की आजादी, साहित्य और संस्कृति से प्रेम करते हैं, सीधा हृदय को स्पर्श करता है।

बहुत पहले, शुरू के दिनों में ही, जैनेन्द्रजी ने एक कहानी लिखी थी। "उस कहानी में एक पब्लिक लीडर मंच पर आते हैं जो भारत माता की याद अंग्रेज़ी में ही कर पाते हैं।" इस कहानी को एक पत्र में छपने के लिए दिया गया, लेकिन सम्पादक महोदय ने इस कहानी का इतना संशोधन किया कि वह "शुद्ध तो हो गई, पर मेरी नहीं रही।" लेकिन यह कहानी उस समय लिखी गई थी जब भारत आज़ाद नहीं था। आज़ादी मिलने के बाद भी स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई देता : "हिन्द की धरती पर सुविधापूर्वक यदि वही जी सके जो अंग्रेज़ी जानता है तो यह गुलामी है कि आजादी।"

इसी प्रकार और भी : "सरकार एक बड़ा-सा व्यूह है जिसके ऊपर गांधी टोपी पहने चन्द देशी लोग दीखते हैं, लेकिन उनका मुख्य कलेवर बने हुए नाना अमलदारियों (सर्विसेज़) के वे काले साहब लोग हैं जिन्हें अंग्रेज़ी तौर-तर्ज़ में ढाला गया है। पहले उनका काम राजा और प्रजा के बीच गहरी खाई बनाए रखना था, आज भी वही काम है। उस गहरी खाई के पानी में फाइलें चलती रहती थीं, आज उन फाइलों की गिनती बढ़ गई है। लेकिन वे डोंगियाँ खूबसूरत लाल फीतों की पाल फहराए यहाँ-से-वहाँ और वहाँ से यहाँ विहार करती हुई घूमती रहकर नाना व्यूहों की रचना भला कर लें, वे राजा और प्रजा इन दो तटों के बीच किसी सद्भाव की सृष्टि कर उनमें अभेद लाने की सम्भावना को निकट नहीं लातीं।"

'हाँ' और 'नहीं' के पाटों से मुक्त जैनेन्द्र की लेखनी जब दृश्यमान जीवन के यथार्थ को व्यक्त करती अत्यन्त मुखर होकर हमारे सामने आती है : "गुलामी से छूटना है तो धरती से लगकर रहने वालों की ओर हमें मुँह मोड़ना होगा। जो उन्नत थे, समृद्ध थे, मालिक की जगह पर से हमने उन्हें जान-बूझकर हटा दिया है। अमरीका के वैभव पर हम विस्मय प्रकट कर लेंगे, लेकिन मालिक की जगह उसे नहीं बिठाएँगे।"[1]

१. 'मन्थन'; 'काम प्रेम और परिवार'; 'सोच-विचार'; 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'; लेखक—जैनेन्द्र कुमार; प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गजानन माधव मुक्तिबोध

समीक्षा की समीक्षा

साहित्यिक समीक्षा की समस्याएँ जितनी विविध हैं उतने ही उनसे सम्बन्धित दृष्टिकोण भी। दृष्टिकोण के इस वैविध्य के भीतर बहुधा मात्रवैयक्तिक रुचि और संस्कार की शक्ति ही दिखाई देती है, तो कभी यथार्थदर्शी मौलिक चिन्तन भी प्रकट होता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि समीक्षा के क्षेत्र में विभिन्न मन्तव्यों को प्रकट करने वाला साहित्य भी समीक्ष्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया जाय। इसी दिशा की ओर, हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री प्रभाकर-माचवे कृत 'समीक्षा की समीक्षा' एक ऐसा प्रयास है जिस पर विद्वानों तथा साहित्य के विद्यार्थियों का ध्यान जाना जरूरी है। हिन्दी समीक्षा की सीमाओं और उसकी समस्याओं पर उन्होंने न केवल अपनी टिप्पणी प्रस्तुत की है, वरन् सम्बन्धित प्रश्नों को इस प्रकार रखा है कि पाठक को बरबस उन सबके सम्बन्ध में सोचने-विचारने के लिए उद्यत होना पड़ता है।

समीक्षा के क्षेत्र में इतने मत-मतान्त हैं कि वस्तुतः यह विचारों, निर्णयों और निष्कर्षों का दण्डकारण्य है। 'समीक्षा की समीक्षा' का महत्त्व यही है कि वह इस जंगल में कई पगडण्डियाँ बना देती है। पाठक की गन्तव्य दिशा के ज्ञान पर यह निर्भर करता है कि वह अपने लिए इनमें से कौनसा पथ चुने।

कला के क्षेत्र में इतने मतभेदों से माचवे जी स्वयं सुपरिचित हैं; अतएव उन्होंने इस वैचारिक दण्डकारण्य में अनेक पगडण्डियों के जाल का रूप ग्रहण करना ही स्वीकार किया है। इसका एक कारण यह भी है कि उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों को भी दृष्टि में रखना है। फलतः वह अनेक वादों और मतमतान्तरों से उन्हें परिचित कराना चाहता है। इसलिए, माचवे जी ने प्रभूत सामग्री एकत्र तथा व्यवस्थाबद्ध कर दी है। कला-समीक्षा-सम्बन्धी मूल परिकल्पनाओं का उन्होंने पर्याप्त विस्तार से निरूपण किया है तथा मतों का विस्तृत विवरण देने का प्रयास किया है। अगर हम माचवे जी की पुस्तक को विविध मतों का संग्रह अथवा कोष कहें तो अनुपयुक्त न होगा।

प्रस्तुत समीक्षक इस बात के लिए आतुर जान पड़ता है कि पाठक स्वयं अपने विवेक से किसी भी तथ्य, मत अथवा निष्कर्ष को अपना ले। इसी बात को ध्यान में रखकर, उसने दूसरों के लेख-के-लेख अवतरित किये हैं, जो उसके मतानुसार मूल्यवान हैं तथा जिनका अनुशीलन पाठक के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत समीक्षक पाठक का सतत मार्गदर्शी न बनकर उसका सहचर रहने में ही अपने को कृतकार्य समझता है। इसका फल यह होता है 'समीक्षा की समीक्षा' की उपादेयता और भी बढ़ जाती है।

हर क्षमता की अपनी सीमा है। इललिए, इस कार्य-शैली का भी एक दूसरा पक्ष है, जिसे हम उसकी सीमा कह सकते हैं। पहली बात तो यह है कि इस शैली के अपनाने का एक स्वाभाविक परिणाम तो यह हुआ कि माचवे जी किसी भी एक सिद्धान्त-प्रणाली की विस्तृत रूप-रेखा, उसके मूलाधारों की विस्तृत व्याख्या, किसी दृष्टिबिन्दु का विशद निरूपण और किसी निष्कर्ष का ऊहापोह नहीं कर सके हैं। उन्हें मात्र अपनी टिप्पणियों से ही सन्तोष करना पड़ा है। किन्तु, विषय ऐसा है कि जिसके प्रति योग्य न्याय करने के लिए टिप्पणियों की विशदता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक है। फल उसका यह होता है कि माचवे जी के मतों का औचित्य-मात्र विश्वास का विषय हो जाता है, वैज्ञानिक विवेक का विषय नहीं। कदाचित्, इसका मूल तथा सर्वप्र कारण यह है कि इस समीक्षक को अपने मतों का विशेष आग्रह भी नहीं है, अपने व्याख्या से वे पाठक की बुद्धि को अनुशासित नहीं करना चाहते। इस बात को इस तरह भी कहा सकता है कि इस समीक्षाकार के लिए कोई भी बात मूलभूत अथवा अन्तिम नहीं है, जिसे भी कहा जा सकता है।

इस कार्य-शैली से दूसरी कमजोरी भी आ जाती है जिसकी तरफ हमारा ध्यान जा जरूरी है। वह यह है कि यदि लेखक किसी भी प्रश्न पर विविध मतों और अनेक निष्कर्षों झाँकियाँ प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर वह, अपने अनजाने ही, ऐसे निष्कर्षों और मतों अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है जो उसे अच्छे तो लगते हैं, किन्तु जिनका निरूपण और विश्ले वह सम्यक् रूप से नहीं कर पाता है। बहुत बार इसका परिणाम यह होता है कि वे मत परस्प विरोधी-से प्रतीत होते हैं। हम यहाँ एक उदाहरण लेंगे। रामचन्द्र शुक्ल पर लिखे निबन्ध में कहते हैं; **"शुक्ल जी इस कारण परम्परा को, छायावाद की पलायनवादी वृत्ति को नहीं दे सके।"**[1] दूसरी ओर वे यह कहते हैं : **"वस्तुतः छायावादी काव्य, नैतिक धरातल प जनतान्त्रिक समत्व भावना और व्यक्ति की महत्त्व घोषणा का काव्य है"।**[2] यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि श्री माचवे के अनुसार छायावादी व्यक्ति की महत्त्व-घोषणा का काव्य है उसमें, पूर्वोलिखित मन्तव्य के अनुसार, पलायन-वृत्ति कैसे है और कहाँ है और यदि उ 'पलायन वृत्ति है तो उसमें नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना' कैसे आई। ह है कि माचवे जी को अपने विचारों की विशद व्याख्या करनी चाहिए थी। हुआ यह है छायावाद के सम्बन्ध में यदि एक ओर उन्हें एक विचार भला मालूम हुआ है तो दूसरी ओ उन्हें अन्य विचार भी अच्छा लगा है। फलतः, उन पर उन्होंने अनजाने ही अपनी स्वीकृ प्रदान कर दी है। यदि वे विस्तृत ऊहापोह करते, सम्यक् व्याख्या करते तो यह दोष न आता उनका तरीका वस्तुतः इम्प्रेशनिज़्म का तरीका है, जिससे बहुत बार बहुत से महत्त्वपूर्ण तथ्य भी सामने रख देते हैं (जैसी कि उनकी भूमिका से स्पष्ट है, जो बहुत अच्छी लिखी गई है) उसमें ऐसी असंगतियाँ भी रह जाती हैं। असल बात यह है कि माचवे जी की वृत्ति गुणग्राह सर्वसंग्राहक ही अधिक है।

हम उनकी इस वृत्ति का एक दूसरा उदाहरण भी लेंगे। प्रगतिवादियों की आलोचना प्रारम्भिक प्रस्तावना में उन्होंने हिन्दी के प्रगतिवाद को ऐसी गाली दी है, जिसे हम उनकी अनु कह सकते हैं, किन्तु जब वह व्यक्तिगत प्रगतिवादी आलोचकों की तरफ मुड़े हैं तब उन्होंने इत अनुदारता नहीं बतलाई है। दूसरे, रामविलास शर्मा पर वे काफी बिगड़े हैं। किन्तु, उन शक्ति, उनकी प्रमुख महत्त्वपूर्ण पुस्तकों (जो हमारे समीक्षा-साहित्य की निधि हैं) पर वह हैं। ऐसा क्यों, इतना पक्षपात क्यों? ध्यान में रखना चाहिए कि यदि डॉक्टर रामविलास शर्मा लोगों को काटा है तो यह भी सच है कि प्रगतिशीलों के विरोधियों ने प्रगतिवादियों की भयान रूप से विचित्र भर्त्सनाएँ भी की हैं। ऐसी स्थिति में, सैद्धान्तिक दृष्टि से, माचवे जी को

१. देखिए पृष्ठ २३

२. पृष्ठ २६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए था कि रामविलास जी की क्षमताओं का भी विशद निरूपण करते, जैसा कि उन्होंने नहीं किया।

जहाँ माचवे जी प्रसिद्ध समीक्षा-पुस्तकों की आलोचना को छोड़कर व्यक्तिगत आलोचकों पर उतरते हैं, वहाँ वे बहुत अच्छी तरह अपनी बात कहते हैं। उनकी समीक्षा वहाँ खूब अच्छी तरह गले उतरती है। इसका सबसे बड़ा नमूना उनका लेख है शान्तिप्रिय द्विवेदी पर। 'समीक्षा की समीक्षा' में रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, शचीरानी गुर्टू, लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा हिन्दी के अन्य आलोचकों पर लिखा गया है। प्रथम पाँच बड़े निबन्ध हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट निबन्ध रामचन्द्र शुक्ल और लक्ष्मीनारायण सुधांशु पर है। इन दो में माचवे जी ने साहित्य के विविध प्रश्नों की चर्चा की है। इससे माचवे जी के ज्ञान, पाण्डित्य तथा समीक्षा-बुद्धि की शक्ति का पता चलता है, । मुक्त-छन्द पर माचवे जी के विचार जानने योग्य हैं। शचीरानी गुर्टू और गुलाबराय के सम्बन्ध में माचवे जी ने जल्दबाजी की है। गुलाबराय पर उनका लेख, उस लेखक पर न होकर, अपने ज्ञान-सामग्री का संग्रह प्रकोष्ठ मात्र ही रह गया है। इन पाँच निबन्धों में माचवे जी साहित्य के मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय और दार्शनिक पहलुओं पर उतरे हैं। किन्तु 'समीक्षा की समीक्षा' इतनी संक्षिप्त पुस्तक है कि उसमें सम्बन्धित प्रश्नों का विस्तृत विवेचन होना असम्भव-सा ही था। माचवे जी के समीक्षा-सम्बन्धी मन्तव्यों पर यह कहा जाता है कि उनका झुकाव रसवादी मनोवैज्ञानिक आलोचना की मूलभूत विचार-धारा की ओर ही अधिक है, यद्यपि उन्होंने यत्र-तत्र प्रगतिवादियों द्वारा व्याख्यात मतों और निष्कर्षों को भी राह चलते अपना लिया है।

'समीक्षा की समीक्षा' साहित्य के विद्यार्थी के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और उपयोगी पुस्तक है। यदि एक ओर माचवे जी नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी से मतभेद रखते हैं तो दूसरी ओर, इधर-उधर से घूमघाम कर, उनकी पंक्ति में बहुत बड़े मध्यान्तर के बाद बैठते-से दिखाई देते हैं। उनमें और माचवे जी में अन्तर यह है कि प्रस्तुत समीक्षक को उन आलोचकों से साहित्य के वस्तुवादी सामाजिक पक्ष का आग्रह अधिक है। किन्तु, उनके मूल दार्शनिक विचार क्रोचे आदि भाववादी सौन्दर्यवादी चिन्तकों के समीप ही जा पहुँचते हैं, नगेन्द्र और नन्ददुलारे के नहीं। माचवे जी भी प्रगतिवादियों के उतने ही विरुद्ध हैं, कदाचित् अधिक विरुद्ध हैं, जितने कि ये लोग।

अन्त में, हम यही कहेंगे कि माचवे जी की 'समीक्षा की समीक्षा' पुस्तक अपनी जगह मूल्यवान् तो है ही, यह उसके लेखक से अपेक्षणीय है कि वे स्वयं एक स्वतन्त्र साहित्यिक व्याख्याधार के नाते हमारे सामने समीक्षा-सम्बन्धी एक मूलभूत ग्रन्थ उपस्थित करेंगे, जिससे कि लोगों के सामने उनकी कला-चिन्तना का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत हो सके।

ले०—प्रभाकर माचवे; प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

खण्ड सत्य और निष्प्राण बीज

होवर्ड वेस्ट नामक एक कम्युनिस्ट, उपन्यास-लेखक और आलोचक का कथन है: "सत्य इस शिविर में है या उस शिविर में, और इसके पूर्व कि सत्य की प्रकृति को लेखक सके, उसे पहले शिविर चुन लेना चाहिए, क्योंकि सत्य पक्षधर है तटस्थ नहीं।"

प्रस्तुत उपन्यास इसी धारणा की कथात्मक व्याख्या है। इस कथन के अनुसार यदि कम्युनिस्ट विचारक प्राचीन और वर्तमान साहित्य का अपनी दृष्टि से विश्लेषण कर सकता है, एक अकम्युनिस्ट भी इस कथन का अपने दृष्टिकोण के पोषण के लिए उपयोग कर सकता है विश्व के इस विराट् रंगमंच पर सत्य के साथ यह ठेलाठेली चिन्त्य विषय है। आज 'शां 'मानव एकता', 'सहानुभूति' आदि शब्दों का कोई एक सर्वमान्य अर्थ न होना इसी बात दुष्परिणाम है। 'पार्टीज़न ट्रुथ' का आशय है 'खण्ड सत्य', और 'खण्ड सत्य' साहित्य के अन्ति लक्ष्य—आनन्द—का आधार नहीं बन सकता। राजनीति सामाजिक अस्तित्व का प्रधान अंग है—आज तो वह एक प्रकार से एकमात्र अंग बन गई है—किन्तु दुर्भाग्यवश राजनीति ने साहित्य के गले में जो फाँसी डाल दी है उससे साहित्य-सौंदर्य की निर्जीवता निश्चित है। कहीं तो उससे स्वयं मनुष्यत्व को क्षति पहुँचती दिखाई पड़ती है। यदि एक कवि या लेखक कि वस्तु या घटना को सफ़ेद कहता है, तो दूसरा उसी को मटियाला कहता है। और ताज्जुब यह कि दोनों ही पक्ष वास्तविक सत्य की दुहाई देते हैं। हो सकता है दोनों के कथनों में सत्य का कुछ अंश हो, किन्तु ऐसी परिस्थिति में एक हाथी और सात अंधों की कहानी ही चरितार्थ सकती है। साहित्य के सौन्दर्यमूलक और रसपूर्ण चिह्न चिरंतन और शाश्वत हैं, राजनीति क्षण-परिवर्तनशील और विनश्वर है। युग-वाणी और युग-जीवन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, कि साहित्य को उन्हीं के खूँटे से बाँध देना साहित्य को ग्राम्य-भाव से देखना है।

कुछ दिन हुए मुझसे कहा गया था कि श्री अमृतराय का 'बीज' हिन्दी उपन्यास-साहि के इतिहास में 'Landmark' है और वह प्रेमचन्द की परम्परा को बहुत आगे बढ़ा ले है। स्वभावतः मुझे उत्सुकता हुई और मैंने शीघ्र ही उसे पढ़ डाला, और ध्यानपूर्वक पढ़ा किन्तु जितनी अधिक उत्सुकता हुई थी, उतनी ही अधिक निराशा हुई। और तो किसी दृष्टि वह मुझे 'Landmark' नहीं दिखाई देता, लेकिन खुल्लमखुल्ला, आद्योपान्त और सचेष्ट रूप कम्युनिस्ट राजनीति पर आधारित होने के नाते वह अवश्य 'Landmark' कहा जा सकता है अभी तक जितने पूर्व-'बीज' उपन्यास थे उनमें अन्यथा अकम्यूनिस्ट कथानकों में या तो प्रच्छ रूप में कम्युनिज्म की ओर संकेत-भर कर दिया जाता था अथवा कोई एक शिक्षित मध्यमवर्ग पात्र दबी ज़बान से 'वर्ग-संघर्ष', 'शोषण', 'पूँजीवाद-साम्राज्यवाद', 'सर्वहारावर्ग' आदि उल्लेख कर दिया करता था। 'बीज' का लेखक बधाई का पात्र है कि उसने इस राजनीतिक उप न्यास की रचना करके हिन्दी में 'लाल उपन्यासों' की एक विशिष्ट शाखा को जन्म दिया है किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें 'लैंडमार्क-पन' कहीं नहीं दिखाई देता। उसके द्वारा प्रेमचन्द परम्परा को विकसित होते हुए कहना भी अनुचित ही है। 'गोदान' में जिस संघर्षपूर्ण जीवन चित्रण है, वह 'बीज' में नहीं मिलता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बीज', लेखक के अनुसार, जीवन के संघर्ष का बीज है, कम्युनिज्म 'नये जीवन के विराट् अश्वत्थ', 'नये सुख' और 'नये प्रभात' का बीजारोपण करता है। उसी बीज का प्रस्फुटन आगे होगा, जीवन की अवरुद्ध गति उन्मुक्त होगी। उपन्यास में मध्यमवर्गीय शिक्षित नवयुवक सत्यवान् अनेक पारिवारिक और सामाजिक संघर्षों के बाद जेल में वीरेन्द्र के साथ स्थापित सम्पर्क के फलस्वरूप कम्युनिस्ट विचार-धारा लेकर बाहर निकलता है। उसकी पत्नी उषा मध्यमवर्गीय नारी की भाँति सुखी और समृद्ध पारिवारिक जीवन के स्वप्न देखती है। सत्यवान् उसे निजत्व की संकीर्ण परिधि से निकालकर उसमें सामाजिक चेतना उत्पन्न करना चाहता है। कुछ दिनों तक दोनों में संघर्ष चलता है। अन्त में सत्यवान के जेल जाने के बाद उषा अपने पति के विचारों का महत्त्व समझती है और वह अपने कुण्ठित एवं अवसादपूर्ण श्लथ जीवन को छोड़कर नया जीवन ग्रहण करती है। उपन्यास में स्थान-स्थान पर साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, राष्ट्रीयता, गान्धीजी का अहिंसात्मक आन्दोलन, मार्क्स का कम्युनिस्ट मेनीफैस्टो, समाज में नारी का स्थान, विवाह सम्बन्धी समस्याओं आदि का उल्लेख हुआ है। नया जीवन पाकर उषा अछूतोद्धार का कार्य करते हुए लाठियों के प्रहार तक सहती है। उषा को नये जीवन का प्रकाश कम्युनिज़्म के कारण ही मिल सका था। स्वयं सत्य वीरेन्द्र से यह प्रकाश लेकर जेल से लौटा था। पुस्तक में कम्यूनिज़्म उस पारस पत्थर के रूप में चित्रित किया गया है जिसके स्पर्श करते ही जंग लगा लोहा सोना बन जाता है। सत्य और उषा के अतिरिक्त पार्वती और प्रमिला का व्यक्तित्व भी कम्युनिज़्म के स्पर्श से निखर उठता है। राजेश्वरी और जमुना उस प्रभात के दर्शन न कर सकी थीं, उनमें कम्युनिस्ट सामाजिक चेतना जन्म न ले सकी थी; इसीलिए उन दोनों के जीवन समाज के सड़े-गले संस्कारों और रूढ़ियों तथा परम्पराओं में ग्रस्त रहते हैं। राज महेन्द्र के हाथों गीदड़ों की मौत मरती है और जमुना घरबार छोड़कर केवल ब्याह करने के लिए भाग जाती है। अमूल्य पार्टी का सेक्रेटरी है और वीरेन्द्र सत्यवान् का गुरु। सभी पुरुष और नारी-पात्र कम्युनिस्ट रूप में आशा का सन्देश देते हैं, अन्यथा नहीं।

लेखक को अपने राजनीतिक विचार रखने का पूर्ण अधिकार है। आधुनिक समय में किसी भी लेखक के ऐसे अधिकार पर आपत्ति नहीं की जा सकती। किन्तु जिस बात की ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ वह यह है कि उपन्यास में 'गोदान' जैसा संघर्ष कहीं नहीं दिखाई देता। जो घटनाएँ घटित हुई भी हैं वे परोक्ष रूप में घटित हुई हैं। पाठकों को उनमें भाग लेने का अवसर प्रदान नहीं किया गया। कला की दृष्टि से यह दोष है। यह दोष 'गोदान' में नहीं है। ब्रैंड ह्विट्लौक के अनुसार : '...fiction, on the other hand, calls for the personal participation of the reader in one or many dramatic enterprises; contradictions are created, and the protagonist sets forth to resolve them, and the reader joins in these struggles. The reader participates, and thereby is the unique secret of the art of the story-teller, his ability to project his audience into the dramatic situation he has evoked. The measure of his art is how well he does this, the stature of his art depends upon the type of dramatic comprehension and leadership he can offer his audience, the quality of his art depends upon his own relationship to masses of people.' लेखक स्वयं विचार करे वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहाँ तक हिट्लौक के कथन की पूर्ति करता है। उपन्यास में औपन्यासिक रस की निष्पत्ति कम और कम्युनिस्ट राजनीतिक विचार-धारा की अवतारणा अधिक होती है। होना चाहिए था ठीक इसके विपरीत। यही कारण है कि पात्र सजीव न होकर लेखक की विचार-धारा के प्रतीक मात्र बनकर रह गए हैं। कला की दृष्टि से वीरेन्द्र द्वारा भारतीय राजनीति का कम्युनिस्ट विश्लेषण, प्रफुल्लबाबू, अमूल्य और सत्यवान् के वादविवाद, तीन डायरियों के पन्ने और जेल में लाठी-चार्ज होने के उपलक्ष्य में दिये गए भाषण चिन्त्य हैं। और फिर उपन्यास का अन्त बड़ा हल्का हुआ है। वैसे भी कम्यूनिस्ट विचार-धारा के अनुसार उषा को मजदूरों, जो 'spearhead of the revolution' हैं, की बस्ती में जाना चाहिए था, न कि अछूतों की बस्ती में। अछूतों की समस्या प्रधानतः सामाजिक है, न कि राजनीतिक—अंग्रेजों ने भले ही उसे राजनीतिक रूप दे दिया हो। पृ० ५०५-५०६ पर अछूतों के सम्बन्ध में विश्लेषण प्रस्तुत करते समय गान्धीजी पर जो छींटे फेंके हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि किसी समस्या को विशुद्ध पार्टी-दृष्टिकोण से देखने से कितनी संकीर्णता उत्पन्न हो सकती है। गान्धीजी सफल रहे हों या असफल, अछूतों के प्रति की गईं उनकी सेवाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखी जायँगी। लेकिन आने वाले भारत में न अछूत रहेंगे न अछूतों की समस्या। वह शायद इतनी ज्वलन्त समस्या भी नहीं रह गई है। इसके स्थान पर लेखक ने 'Democracy Vs. Totalitarianism' और 'Individual Liberty Vs. Mass regimentation of mind' की समस्या पाठकों के सामने रखी होती तो अधिक अच्छा होता। भाषा की दृष्टि से लेखक सफल कहा जा सकता है, यद्यपि व्याकरण-सम्बन्धी, विशेषतः लिंग-सम्बन्धी, अनेक अशुद्धियाँ हैं। आशा है अगले संस्करणों में लेखक उन्हें ठीक कर देगा।

संक्षेप में, कथानक पार्टी-दृष्टिकोण की तंग गली से गुजरता है, अनेक स्थलों पर उपन्यास उपन्यास न प्रतीत होकर पार्टी-पैम्फ्लैट मालूम होता है, जीवन को लाल रंग के चश्मे से देखा गया है और उसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत नहीं है। केवल अन्तिम अंश में उपन्यास प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। शेष अंशों में संघर्ष-चित्रण, समस्या के प्रस्तुतीकरण आदि दृष्टि से यह उपन्यास, लेनिन के शब्दों का प्रयोग करते हुए, 'Baby-talk' है।[1]

१. बीज—ले० अमृतराय; प्रकाशक—हंस प्रकाशन, इलाहबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० टीकमसिंह तोमर

'वेलि' का नया संस्करण

प्रस्तुत संस्करण के वास्तविक मूल्यांकन के लिए यह समीचीन प्रतीत होता है कि 'वेलि' के इससे पूर्व प्रकाशित अन्य संस्करणों का भी संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दे दिया जाय। इसीलिए नीचे उनका उल्लेख किया जा रहा है।

अंग्रेजी और हिन्दी भाषा-भाषियों के हितार्थ १९१७ ई० के लगभग डॉ० एस० पी० टैसीटरी ने तीन उपलब्ध प्राचीन टीकाओं तथा कई चारण-कवियों और विद्वानों की सहायता से एक संक्षिप्त भूमिका, मूल कविता तथा अंग्रेजी नोटों के सहित एशियाटिक सोसाइटी ऑव-बंगाल से 'वेलि' का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित कराया था। यद्यपि इस संस्करण की अपनी सीमाएँ थीं, तो भी पाश्चात्य विद्वान् का इस दिशा में अपने ढंग का एक अनूठा एवम् स्तुत्य प्रयास था।

इसके अनन्तर १९३१ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, प्रयाग ने 'वेलि' का एक अधिक महत्त्वपूर्ण संस्करण प्रकाशित किया। इस संस्करण के अनुवादक महाराज श्री जगमालसिंह जी और संशोधक तथा सम्पादक ठा० रामसिंह एम० ए० एवम् पण्डित सूर्यकरण पारीक एम० ए० जैसे ख्यातिलब्ध डिंगल के अधिकारी विद्वान् थे। इस संस्करण के आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका में महाराज पृथ्वीराज के जीवन-चरित्र, व्यक्तित्व, भक्ति-भावना, वीरता आदि गुणों, राजस्थानी भाषा और साहित्य, वेलि की प्राचीन टीकाओं, वेलि के आधार-स्तम्भ ग्रन्थों, ग्रन्थ-नामकरण, कवि की मौलिकता, रस-विवेचन, ऋतु-वर्णन, निर्माण-काल, ग्रन्थ-माहात्म्य, आध्यात्मिक सन्देश, डिंगल छन्द और भाषा, व्याकरण, अलंकार, वयण-सगाई आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार एकेडेमी का उक्त संस्करण सभी दृष्टियों से अधिक उपयोगी एवम् महत्त्वपूर्ण है।

इसके पश्चात् श्री आनन्द प्रकाश जी दीक्षित द्वारा सम्पादित तथा विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'वेलि' का यह संस्करण हिन्दी भाषा-भाषियों के हितार्थ प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् सम्पादक ने इस ग्रन्थ के आरम्भ में लगभग १६२ पृष्ठों की भूमिका में पृथ्वीराज का जीवन तथा उनकी साहित्य-सेवा, वेलिकार की पूर्वकालीन तथा समसामयिक स्थिति, वेलि पर पूर्ववर्ती काव्य का प्रभाव तथा स्वरूप-विधान, राजस्थानी-साहित्य तथा वेलि, वेलि का नामकरण एवम् वेलि-ग्रन्थों की परम्परा, रचना-काल, वेलि की कथा का आधार, वेलि की कथा, वेलि का काव्य-स्वरूप, रस, नखशिख, अलंकार, शब्द-प्रयोग, वयण-सगाई, वेलियो गीत, प्रकृति-चित्रण, वेलिकार की बहुज्ञता, वेलि में भक्ति का स्वरूप, भागवत, नन्ददास के रुक्मिणी-मंगल, नरहरि कृत रुक्मिणी-मंगल, रघुराजसिंह कृत रुक्मिणी-परिणय तथा मराठी रुक्मिणी-हरण काव्य से वेलि की तुलना आदि समस्याओं की सविस्तार व्याख्या की है।

जिस प्रकार एकेडेमी वाली प्रति के सम्पादकों ने डॉ० टैसीटरी के संस्करण का पूर्ण स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है, उसी प्रकार श्री दीक्षित जी ने एकेडेमी के संस्करण से पूर्ण लाभ उठाया है। भूमिका, मूल-पाठ, अर्थ आदि सभी पर आदि से अन्त तक एकेडेमी के संस्करण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की छाप स्पष्ट एवम् प्रधान रूप से वर्तमान है। इसके अतिरिक्त सम्पादक ने टॉड, मोती[लाल] मेनारिया, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल आदि विद्वानों के ग्रन्थों से भी स[हा]यता ली है।

यह सब होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि श्री दीक्षित जी ने इस ग्रन्थ के सम्पाद[न] कार्य में स्तुत्य परिश्रम किया है। साथ ही कतिपय स्थलों पर नई सूझ-बूझ का भी परि[चय] दिया है। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने वेलि-सम्बन्धी कुछ समस्याओं के सम्बन्ध [में] नवीन विचार-धारा और नवीन निष्कर्ष पाठकों के समक्ष रखने की भी चेष्टा की है। सम्भव [है] कि कुछ विद्वान् समालोचक यत्र-तत्र उनके मत से सहमत न हों, तो भी उनका यह सम्पाद[न] कार्य एक नवीन दृष्टिकोण का परिचायक है, इसमें किसी को आपत्ति न होगी।[1]

जनार्दन मुक्तिदूत

सात रेडियो एकांकी

प्रस्तुत पुस्तक 'लहर और चट्टान' में श्री विश्वम्भर मानव के सात एकांकी नाटक संग्रही[त] हैं। यह सारे नाटक जैसा कि उनके विधान से स्पष्ट है रंगमंच के लिए नहीं बल्कि रेडि[यो] प्रसारण के लिए लिखे गए हैं। मानव जी के नाटकों में यही वैधानिक विशेषता (Technica[l] forte) है।

इन नाटकों में 'चट्टानें' और 'प्रेम का बन्धन' सफल नाटक हैं और 'जीवन-साथी' ए[क] सुन्दर प्रहसन, अतएव पहले इन तीनों पर ही विचार करूँगा।

'चट्टानें' की कहानी अशोक नामक एक कवि के गिर्द घूमती है। उसके पास उस[की] प्रेयसी अमिता आती है जो अब किसी प्रसिद्ध और धनी वकील की पत्नी है। उसके पति औ[र] उसके बीच कोई स्वाभाविक आकर्षण (Temprамental affinity) नहीं। वह वैवाहि[क] जीवन से विद्रोह करना चाहती है और इसीलिए वह गृह-त्याग करके अशोक के पास चली आ[ती] है। किन्तु अशोक परमादर्शवादी है। वह माँसलता को हेय समझता है और अमिता [को] अध्यात्म का उपदेश देता है। अमिता वापस लौट जाती है। पर इस बीच अमिता के भृ[त्य] 'माधो' और अशोक की दासी 'फूल' में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। खैर, रहता तो उनका प्रेम [भी] असफल ही है पर उनके सम्वादों द्वारा चट्टानों की कठोर ट्रेजेडी एक सुन्दर सुखान्त के पु[ट] से परिपूर्ण हो उठती है। गम्भीर विषयक नाटकों में ऐसे पात्रों का आविष्कार एक सफल प्रयो[ग] है। मुख्य विशेषता तो चट्टानों का कथानक है जिसे अन्त से आरम्भ (Flash-back) करने [के] विधान के कारण उसमें और भी तीखापन आ गया है।

'प्रेम का बन्धन' भी नया प्रयोग है। गो यह एकांकी समस्यामूलक कतई नहीं औ[र]

1. वेलि क्रिसन रुकमणी री; सम्पादक—श्री आनन्द प्रकाश दीक्षित; प्रकाशक—विश्व[विद्यालय] विद्यालय प्रकाशन गोरखपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाटककार के जरा से चाहने पर ही इसमें 'तलाक' की समस्या आसानी से खड़ी की जा सकती थी पर ज्यादा सोचने पर यह बहुत दूर भी नहीं मालूम होती। पर नाटक के अन्य अंग ही काफी सुन्दर हैं। समस्या की जरूरत भी नहीं है। खास तौर से सम्वादों में घरेलूपन की चाशनी है जो नाटक को आदि से अन्त तक पढ़ने पर विवश कर देती है। प्रत्येक युवती का चरित्र-चित्रण काफ़ी मँजा हुआ है। इस प्रकार के नाटक इतने सरल और स्वाभाविक ढंग से इधर काफ़ी दिनों से कम ही पढ़ने को मिले हैं। हाँ, उर्दू में ऐसे बहुत नाटक लिखे गए हैं।

'जीवन-साथी' एक प्रहसन है जिसमें चार कुमारियाँ चार युवकों से समझ-बूझकर विवाह करती हैं। एक युवक कवि है जिसकी पत्नी सदा 'उसकी (स्त्रियों में) लोकप्रियता को' सन्देह की दृष्टि से देखती है। दूसरा धनी व्यक्ति है जो सुख को सोने की तुला पर तोलता है। तीसरा जोड़ा साधारण गृहस्थ होकर कहीं गर्क हो जाता है। सच्चे अर्थों में चौथा युवक और उसकी पत्नी परम सुखी हैं। पति साधारण क्लर्क है पर उसे सुख की कुंजी मालूम है। वास्तव में सुख की कुंजी सन्तोष है। यही नाटक का सार है।

बाकी चार नाटक **'संकीर्ण', 'दो फूल', 'भीगी पलकें', 'सन्देह का अन्त'** बहुत ही साधारण कोटि के नाटक हैं या ध्वनिरूपक हैं जिनका उपयोग रेडियो पर 'नाटकों के लिए नियत' समय को भरने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि रेडियो के अत्यधिक प्रचार के बाद हिन्दी जगत् में रेडियो-नाटकों या ध्वनि-रूपकों की बाढ़-सी आ गई है। प्रतिवर्ष सारे केन्द्रों के लिए लगभग चार सौ छोटे-बड़े एकांकी लिखे जाते हैं, पर इन नाटकों में कठिनाई से ही दस-पाँच अच्छे बन पाते हैं, बाकी नाटकों का स्तर रेडियो अधिकारियों के बुद्धिस्तर से भले ही मेल खाता हो, कम-से-कम उन्हें नाटक-शास्त्र की कसौटी पर कस सकना कठिन है।

ये चार नाटक रेडियो की माँग पूरी करने के लिए 'कट टू आर्डर' (cut to order) लिखे गए हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि नाटककार अपने गहन उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है।

उदाहरण के लिए—

'दो फूल' एकदम अविश्वनीय और तीसरे दरजे की प्रेम-कहानी है। चम्पा एक धनी पिता की पुत्री है और वह घर के नौकर गुलाब से प्रेम करती है (वर्ग-संघर्ष की प्रतीक न हो कहीं यह घटना ?)। पिता काफ़ी क्रोध के बाद गुलाब को दामाद बनाना स्वीकार तो कर लेते हैं पर शर्त यह रखते हैं कि वह हजार रुपये मासिक कमाने लगे। सो भी कुल एक वर्ष की मियाद में (यह भारत है जहाँ क्लर्क की पीढ़ियाँ १०० रुपये पर जीवन समाप्त करती हैं)। गुलाब अपना भाग्य आजमाने बम्बई आता है और वह एक अभिनेत्री के घर नौकरी कर लेता है। अभिनेत्री फ़िल्मी ढंग से गुलाब को प्यार करने लगती है और उसे पार्श्वगायक नायक और अन्त में हजार रुपये मासिक का कलाकार बनवा देती है। वर्ष के अन्तिम दिन गुलाब चम्पा के पास पहुँचता है और उसके पिता को कन्ट्रेक्ट दिखाता है पर उससे कह दिया जाता है कि चम्पा का विवाह हो चुका। गुलाब विष खाकर मर जाता है। चम्पा भी उसी विष से फ़िल्मी ढंग से मर जाती है और तब तक जीवित रहती है जब तक वह पिताजी से यह वचन नहीं ले लेती कि उसे और गुलाब को एक ही चिता पर जलाया जाय। इस तरह **दो फूल** आधुनिक शीरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़रहाद बन कर रह जाता है। फ़रहाद पहाड़ तोड़कर नहर लाता है पर मज़ाक़ में शीरी की मृत्यु सुनने पर उसी फाँवड़े को (जिससे वह पहाड़ तोड़कर नहर लाया है) सर में मारकर मर जाता है।

इसी प्रकार 'भीगी पलकें' में नायिका की मृत्यु यद्यपि होती है वृक्षों के गिरने से (आँधी भी सुविधानुसार आ जाती है) पर सुबह जब चौकीदार उसकी लाश को सड़क के किनारे पड़ा पाता है तो उसे वृक्ष द्वारा लगे घाव नहीं दिखाई देते, पर भीगी पलकें दिखाई दे जाती हैं और वह कहता है कि मालूम होता है कि बेचारी रोते-रोते मरी है तभी तो इसकी पलकें भीगी हैं।

यह सातों नाटक मूल में विभिन्न प्रिय कहानियाँ हैं। प्रेम से कोई एतराज़ या परहेज़ थोड़े ही है और न प्रेम-कहानी के माध्यम द्वारा कुछ कहना अस्वीकार। लेखक चाहे जैसे भी गतिशील जीवन प्रस्तुत करे। हमें उसका स्वागत करना चाहिए। बोतल के पुराने लेबिल से चौंक कर अन्दर की नई शराब छोड़ने के पक्ष में मैं नहीं हूँ और इसीलिए तीन सुन्दर नाटकों में एक नाटक ऐसा भी है जिसका पुराना लेबिल देखकर आम पाठक उसे छोड़ देना चाहेंगे।

अपनी दुर्बलता को भूमिका की ढाल से छिपाना कम-से-कम मुझे पसन्द नहीं है। मानव जी ने भूमिका में लिखा है:—

"जीवन को क्षति पहुँचाकर कुछ भी करने के पक्ष में नहीं हूँ (बिरादर! यह भारत अमेरिका नहीं।) अतः दुःख में मुझसे कुछ भी करते नहीं बनता···।" "हर्र लगे न फिटकरी रंग चोखा" साहित्यकारों के लिए यह कहावत पाश्चात्य देशों में भी कभी लागू न हो सकी। साहित्य के लिए साधना की नितान्त आवश्यकता है।

भूमिका ही में 'दो फूल' के विषय में मानव जी ने लिखा है कि वह एक सत्य घटना के आधार पर लिखा गया है। हमें आपत्ति क्यों हो। आप कहीं से प्रेरणा ग्रहण करें किन्तु सत्य घटनाओं को ज्यों-का-त्यों रख देना सामयिक (Journalese) महत्त्व की वस्तु हो सकती है कला की नहीं। कला फ़ोटोग्राफ़ी को नहीं कहते। कैनवेस पर कूची लेकर सृजन करने को कहते हैं। इस तरह बाकी के चार नाटकों के लिए मैं भूमिका की कोई सिफारिश स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। मैंने नाटकों को पढ़ा है और मैंने उन्हें भूमिका की कसौटी पर नहीं बल्कि नाटक-शास्त्र की कसौटी पर कसा है। तीन खरे उतरे चार खोटे। इसमें लेखक को कोई शिकायत न होनी चाहिए।

१. लेखक—विश्वम्भर मानव एम० ए०; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विष्णु स्वरूप

सृष्टि का रथ

आदिवासियों के एक वर्ग—गोंडों के जीवन का विषय—जिसकी एक झलक श्री देवेन्द्र-सत्यार्थी, अपनी तेरह वर्ष में लिखी गई पहली कहानी 'अन्न देवता' में प्रस्तुत कर चुके थे, अनुभव और चिन्तन के द्वारा वृद्धि पाकर एक नये और बड़े कैन्वेस पर 'रथ के पहिये' के रूप में सात वर्ष के लम्बे परिश्रम के परिणामस्वरूप अंकित हुआ है।

उनकी दृष्टि इन आदिवासियों की जीवन-प्रक्रिया में एक 'सांस्कृतिक और कलात्मक थाती' के दर्शन कर पाई है। उनकी आशंका भी यथार्थ है कि कहीं अवहेलना के कारण वह जीती-जागती संस्कृति मोहनजोदड़ो की सभ्यता की भाँति जमीन के नीचे न दब जाय। यही आशंका प्रस्तुत उपन्यास की आधार-शिला है। किन्तु सत्यार्थी जी के अनेक निबन्धों और कहानियों की भाँति प्रश्न को केवल छूकर, किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँचने के बजाय भावनामय भूलभुलैयों में खो जाने की प्रवृत्ति उनकी इस रचना में भी स्पष्ट है।

कथानक का मोहनजोदड़ो से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि गोंड-जीवन के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए पाठक के मन में आधार-भूमि तैयार की जा सके और तुलना द्वारा यह समझाया जाय कि 'गोंडों की तहजीब मोहनजोदड़ो से भी पुरानी कही जा सकती है। जिन्दा इन्सानियत एक उदास कब्रिस्तान से कहीं बढ़कर होगी, लेकिन इसके लिए उपन्यास के आरम्भ में काफी दूर तक मोहनजोदड़ो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए, वहाँ के क्यूरेटर के चरित्र को उभारने का प्रयास, (जिसका कि आगे के कथासूत्र से सम्बन्ध नहीं रह जाता), पाठक के मन में यह भ्रम उत्पन्न करने के अतिरिक्त कि उपन्यास का कथानक कहीं मोहनजोदड़ो पर ही तो आधारित नहीं है, अन्य कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं करता। इसी प्रकार धनकुण्डी के मालगुजार की डायरी के उद्धरणों में आवश्यकता से अधिक उलझाव कथाप्रवाह में व्यर्थ रुकाव उत्पन्न करता है।

गोंड-जीवन के विकास के अपने मानसिक आदर्श को लेखक ने दो प्रधान-पात्रों में मूर्त किया है। आदिवासियों के प्रति देश के कर्तव्य एवं उनके कलात्मक विकास तथा आर्थिक उत्थान के लिए आवश्यक कार्य-पद्धति की कल्पना का प्रतिनिधित्व एक आदर्शवादी युवक 'आनन्द' करता है; और स्वयं आदिवासियों की आन्तरिक चेतना का प्रतिनिधित्व एक सम्वेदनशील गोंड युवती 'रूपी' करती है। इस प्रकार के पात्र यथार्थ न होकर यथार्थ की सम्भावना ही हो सकते हैं, फिर भी दोनों पर्याप्त व्यक्तित्वपूर्ण हैं। वस्तुतः 'रथ के पहिये' के सभी पात्र विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न दीख पड़ते हैं, और कथारस के अभाव की बहुत-कुछ पूर्ति इनके द्वारा हुई है। शिक्षिता गोंड-युवती रूपी के सहयोग में सक्रियता ही नहीं, मधुरता भी है—क्रमशः विकसित होते हुए प्रेम की मधुरता। साथ ही उसके कलाकार मित्र सोम का एक मान्य गोंड-कन्या फुलमत के साथ विवाह में परिणत होने वाला मधुर सम्बन्ध, दोनों के द्वारा कथानक के वातावरण में सरसता उत्पन्न की गई है।

कथासूत्र के समानान्तर चलने वाला बूढ़े चुन्नूमियां का चरित्र भुलाया नहीं जा सकता। अपनी छज्जेदार दाढ़ी पर हाथ फेरकर हर बात में अल्ला पाक की पसन्द-नापसन्द की इनकी खोज कम मनोरञ्जक नहीं। क्रूर मालगुजार धनपाल का चरित्र लालाराम की सरलता के परिपार्श्व में काफी उभड़कर आया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर के हिन्दी कथा-साहित्य में लोक-तत्त्व के समावेश की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है, जो कि कलाकार के जीवन से निकट सम्पर्क को सूचित करती है। लोकजीवन के आशा-विश्वासों के साथ ही प्रदेश-विशेष के रहन-सहन, रीति-रिवाज, चिन्तन पद्धति आदि विभिन्न जीवन-प्रक्रियाओं का यथार्थ चित्रण, कथानक को ताजगी देता है। नागार्जुन के 'बलचनवा' और शिवप्रसाद 'रुद्र' के 'बहती गंगा' नये उपन्यासों में इस दृष्टि से मुख्य हैं। 'रथ के पहिये' इस आधार पर निश्चय ही काफी आगे बढ़ा हुआ है। यद्यपि यह बहुत-कुछ कथानक के अनुरोध-मात्र से सम्भव हुआ है, किन्तु सत्यार्थी जी द्वारा आदिवासियों के और विशेष रूप से करंजिया प्रदेश के गोंड-जीवन के व्यापक एवं सूक्ष्म निरीक्षण का प्रतिफलन ही इसमें हुआ है। उपन्यास आरम्भ करने से पूर्व लेखक ने साहित्यिक और कलात्मक तकाजे को मानकर उस जीवन का कष्ट उठाकर पुनः विशेष निरीक्षण किया था और इसी कारण वहाँ की प्रादेशिकता को उपन्यास में मुखर कर पाया है। लामसेना की विचित्र प्रथा (वर द्वारा कन्या के निर्दिष्ट मूल्य को पूरा करने के लिए विवाह के पूर्व एक निश्चित अवधि तक कन्या के पिता की सेवा करना), करमा नृत्य, सर्पदंशन के विष को उतारने की अद्भुत प्रणाली आदि के चित्रण ने 'रथ के पहिये' के प्रादेशिक रंग (regional element and local colour) को काफी गहरा बना दिया है। फिर भी ऐसे स्थानों पर हृदय को छू सकने वाली मार्मिकता बहुत कम अंशों में ही उत्पन्न हो पाई है।

सत्यार्थी जी ने आदिवासियों की सांस्कृतिक प्रगति को मानव-मात्र की सांस्कृतिक प्रगति के एक चिरन्तन गतिशील सत्य के परिपार्श्व में देखने का प्रयास किया है। रथ के पहिये उसी गतिशीलता के प्रतीक हैं। इसकी प्रेरणा का आधार वह गोंड-गीत है जिसमें चन्द्रमा और सूर्य के पहियों वाले उस चिरन्तन सृष्टि-रथ की व्यापक कल्पना है जिसमें दिन और रात के बैल हैं और मानव-पुत्र जिसका सारथी है। लेखक उसकी गतिशीलता के प्रति पूर्व आस्थावान है—"रथ नहीं रुक सकता, कोई रथ से उतर जाय, चाहे कोई रथ पर सवार हो जाय, पहिये चलते रहें, पहिए रुकने न पाएँ, कभी हौले-हौले, कभी तेज़-तेज़।" इसीलिए सारे उपन्यास के वातावरण में जैसे उन पहियों की ध्वनि परिव्याप्त है—'रीरीना, रीरीना राजा रीरीना।'[1]

मार्कण्डेय

चाँदनी रात और अजगर

अश्क की रचनाओं के सम्बन्ध में द्विविध प्रतिक्रियाएँ रही हैं। जिनके मन में रूप का अत्यधिक आग्रह है वे मुँह बिचकाकर विमुख हो जाते हैं और जो वस्तु के प्रेमी हैं (कविता और समाचार-पत्र के सम्पादकीय में अन्तर न मानने वाले) वे झण्डा खड़ा कर देते हैं, क्योंकि अश्क की प्रस्तुत पुस्तक 'चाँदनी रात और अजगर' का प्रकाशन भी हिन्दी कविता के इसी विवाद-ग्रस्त युग में हुआ है।

---

१. रथ के पहिये; लेखक—देवेन्द्र सत्यार्थी; प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक में खासे सुरुचिपूर्ण कवरपृष्ठ और फ्लैप से लगे हुए वातायन से झाँकती हुई चाँदनी के साथ उदास रोगी-व्यक्ति के रेखा-चित्र के बाद कवि का एक भव्य फोटो है और उसके बाद दो भूमिकाएँ। पहली स्वयं अश्क की है जो इनकी अन्यान्य भूमिकाओं की तरह दम्पती चर्चा से बोझिल होते हुए भी अपनी कविता की बात को बहुत हद तक साफ करती है। हाँ, आत्मिक वस्तुपरकता या व्यक्तिवादी समाजवाद का जो नया रूप इधर बहुतेरी प्रगतिशील कृतियों या कृतिकारों में परिलक्षित हुआ है और जिसने कृतित्व को ओछा और हलका प्रचारवादी बनाया है, का संकेत हमें इस भूमिका में भी मिलता है। दूसरी भूमिका खासी जोरदार शब्दावली में अन्धाधुन्ध लिखी हुई तारीफ एवम् परिचय ही मानी जाय तो इससे शायद कवि और आलोचक दोनों को प्रसन्नता होगी। वैसे चौहानजी ने कविता की विषय-वस्तु और शैली दोनों की चर्चा की है। विषय-वस्तु में जनवादी होना ही काफी है ? पर शैली के लिए उन्होंने 'फैज', 'पंत' और 'महादेवी' की शैलियों से प्रेरणा ग्रहण करके छन्द में नये प्रयोगों की भी सराहना की है। ऐसी अवस्था में छन्द-विधान को संश्लिष्ट और जटिल कहना कोरा वाग्जाल ही लगता है।

प्रस्तुत कविता, (जिसे भूमिका-लेखक ने गत जीवन के संस्मरणों, अभावों और भावी जीवन के स्वप्नों द्वारा गूथी कहानी (?) कहा है) रोग-शय्या पर पड़े व्यक्ति की मानसिक वृत्तियों की संस्मरणात्मक अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है। पूरी कविता में सजगता की एक यूनिटी है, जो अपने में, अपने दुःख में, अपनी आशाओं में मन के पास तक पहुँचने की कोशिश करती है पर जैसे ही उसमें रूमानी भावुकता का विद्रोही स्वर आता है वह मासूम बच्चे के बनावटी क्रोध या हवाई उड़ान-सी लगने लगती है। एक उदाहरण लीजिए—

बनूं महाकवि मैं 'ठाकुर' सा
औ' इनाम 'नोबुल' सा पाऊँ।
जमुना तट पर शान्ति निकेतन
ही सा मैं फिर नगर बसाऊँ।
माता पिता चाहते—बेटा
करे परिश्रम जान तोड़ कर,
बैठे कम्पटीशन में औ'
बने कलक्टर और कमिश्नर।

इस तरह के अनेक स्थल पुस्तक में भरे पड़े हैं जो अत्यन्त आरोपित हैं—और प्रारम्भिक काव्य-गठन और उठान को बीच-बीच में तोड़ते चलते हैं। बीच में संस्मरणों के सिलसिले में जब लेखक पारिवारिक कहानी कहने लगता है तो वह एक आग्रह-सी ज्ञात होती है और यही शायद इसके काव्य-कथा कहलाने का भ्रम भी पैदा करती है। दूसरी बात यह कि इसमें कथा का रस और वर्णन की सूत्रात्मकता भी नहीं है जो पाठक को बाँधे। स्पष्टतः यह यह टूटी हुई कल्पनाएँ हैं जो खंडित प्रतीकों की तरह रुक-रुककर नया रूप धरती चलती हैं।

संस्मरण, अभाव और भावी जीवन के स्वप्न, तीनों ही इस कविता की बुनाई में प्रस्तुत हैं, पर इनका गुम्फन अभिव्यक्ति की गहराई में नहीं उतर सका है। जैसा ऊपर संकेत हो चुका है कि कहीं-कहीं व्यक्तिगत दुःख, साहस और संघर्ष का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन हुआ है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे कवि की स्वस्थ मानसिक वृत्ति का पूरा परिचय मिलता है। अन्त में जब अभाव और शोषण से मुक्त होकर जन-जागरण का प्रतीकात्मक चित्र आता है तब कविता एकाएक बहुत ऊपर उठ जाती है क्योंकि यहाँ भी प्रारम्भ की भाँति अभिव्यक्ति की गहराई अत्यन्त आत्मिक हो उठी है :

सोच रहा हूँ—
यह असीम बल
परिमिति-हीन समूह शक्ति का,
शोषण से हो मुक्त
पुष्ट हो श्रम के फल से
एक सूत्र में बँध स्वेच्छा से
पाकर निज आकार भव्यतर
जब होगा मथने को तत्पर
वक्ष धरणि का
अम्बर का उर
सरिता सागर
क्या क्या रत्न न यह लाएगा।

कहीं-कहीं अभाव का भी मार्मिक चित्र उभरकर सामने आता है, लेकिन सम्पूर्ण रूप से यह लम्बी कविता विस्तार अथवा कथात्मकता के मोह में बिखरकर प्रभावहीन हो गई है।

जहाँ तक भाषा और शैली की बात है उसमें सच्चाई के साथ दो मत नहीं हो सकते कि अश्क की कविताओं में नई कविता के परिमार्जित एवम् सहज-शब्द-विन्यास का पूर्ण अभाव है। लगता है जैसे मनोवेगों को छू सकने के लिए कवि के पास शब्द और संगीत दोनों का अभाव है। साफ-सुथरे शब्दों की तोड़-मरोड़ और इनके कतिपय ग़लत प्रयोगों के साथ टूटे हुए मीटर में जो मनमानी कवि ने की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शौकिया और कभी-कभी ही कविता लिखता है। न तो वह काव्य की दिन-प्रतिदिन अग्रसर होने वाली प्रवृत्ति अथवा शैली के साथ है, न उसे जानना ही चाहता है।

अन्त में यह कहना जरूरी है कि कविता केवल शैली का चमत्कार ही नहीं है, पर कविता घोषणा-पत्र भी नहीं है। इन दोनों का स्वस्थ सामञ्जस्य ही किसी रचना को पाठक के हृदय तक पहुँचा सकता है। 'अश्क' की प्रस्तुत पुस्तक अपनी स्वस्थ और जागरूक काव्य-वस्तु के लिए पढ़ी जानी चाहिए और यह भी कहा जा सकता है कि जिज्ञासु पाठक उसमें यत्र-तत्र भीगेगा भी।[1]

१. लेखक—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'; प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन गृह, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ REFRENCE BOOK

प्रभाकर माचवे

भारतीय सन्तों की वाणी

'सन्त सुधासार' में बड़े परिश्रम और गहरी श्रद्धा के साथ वियोगीहरिजी ने दो सिद्ध (सरहपा और तिलोपा), दो जैन मुनि, गोरख (नाथ), नामदेव, कबीर, रैदास और कबीरपंथियों और दूसरे निर्गुनियों में १५ बाबा और साहबों की बानी संग्रह की है। साथ ही गुरु-बानी में १२ सन्त आदि-ग्रंथ से सम्बन्धित दिये गए हैं जिनमें 'जपुजी' और नानक से शेख फ़रीद तक के पंजाबी पदों के सम्पूर्ण अर्थ भी नीचे पाद-टिप्पणियों में दिये गए हैं। वैसे कठिन शब्दों के अर्थ सर्वत्र नीचे दिये हैं और हर सन्त के साथ-साथ 'चोला-परिचय' और 'बानी-परिचय' भी दिया गया है, जो कि संक्षिप्त है और केवल रस-ग्रहण में सहायक हो इस दृष्टि से है।

प्रकाशकीय में कहा गया है कि पुस्तक आध्यात्मिक क्षुधा की शान्ति की दृष्टि से भी प्रकाशित की गई है। यद्यपि आध्यात्मिक क्षुधा से हम विशेष संपीड़ित नहीं—क्योंकि क्षुधा-मात्र न जाने किस पाप को करने के लिए उत्प्रेरण दे—और आत्म-लाभ की कांक्षा भी सन्तों को पढ़कर कम ही होती है; फिर भी मन्त्री जी की श्रद्धा को ठेस न लगाते हुए निवेदन है कि पुस्तक ज़रा झीने टाइप में छपकर ग्यारह रुपये खर्च कर सकने वालों से अधिक संख्या में सहज-सुलभ हो सकती थी। परन्तु 'सस्ता' होने पर भी प्रकाशन आखिर प्रकाशन जो है। यानी सन्त-मत का अनुसरण पूर्णतः करें तो 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का क्या हो ? लगता है पाठकों को तो होगा ही, प्रकाशक को भी 'आत्म-लाभ' हुआ है। विनोबा ने (पृ० १२ पर) कहा है : **"आजकल हमने सार्वजनिक सेवा का एक आडम्बर-सा बना रखा है।"**

हमें पुस्तक पढ़कर परम सन्तोष हुआ। इतना अध्यवसाय और इतनी व्यापक रस-ग्राहकता इधर हिन्दी-पुस्तकों में (विशेषतः जल्दी-जल्दी में पाठ्य-पुस्तकों की तरह बनाये गए संकलन-संग्रहों में) कम मिल पाती है, इसलिए और भी सुख हुआ। केवल सम्पादकजी से हमारा ज़रा-सा मतभेद नानक, गुरु अर्जुनदेव आदि के पंजाबी पदों को हिन्दी मानने पर है। यदि पंजाबी भाषा को सम्पादकजी स्वतन्त्र भाषा न मानकर राजस्थानी, मैथिली, अवधी, व्रज की तरह हिन्दी ही की एक शाखा मानते हों तो बात दूसरी है। लगता है इसमें पंजाबी भाषा (विभाषा नहीं) के साथ कुछ अन्याय होता है। हम आशा करते हैं कि 'सन्त सुधासार' का क्रम वियोगीहरि जी चालू रखें और अगले खण्ड में मणिक, चक्रधर, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, रामदास, दक्षिण के आलवार और तमिल शैव-सन्त यथा मणिक्कवाचकम्, संभधर आदि, तेलुगु वेमना और पोतन्ना, कन्नड़ बसवेश्वर, कनकदेव और अक्का महादेवी, गुजराती 'आखो', नरसी मेहता आदि भी उसमें ले आएँगे, क्योंकि सन्तों के निकट निर्गुण-सगुण की रेखा बहुत झीनी है।

यहीं पर पुस्तक की अत्यन्त मूल्यवान और मौलिक चीज विनोबाजी की दस पृष्ठ की भूमिका की ओर मैं दर्शन और साहित्य के सभी सुधी मर्मज्ञों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। विनोबाजी ने लिखा है : **"कुछ ज्ञानी निर्गुण-निराकार का ध्यान करते हैं, जो सब कल्पनाओं से रहित है। उसका ध्यान करने वाले अकसर 'ओंकार' को पसन्द करते हैं।"** ओंकार के विषय में प्रा० गोरे के एक मराठी लेख में २१-४-४८ को विनोबाजी ने **"ॐ नमः सिद्धम्' जैन गुरुओं की छाप है। परन्तु जैन-गुरु इतने नम्र थे कि उन्होंने श्रीगणेशाय नमः**

यह पुस्तक वितरित न की जाय NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद उसे स्थान दिया।" जो विधान किया है, उसके प्रत्युत्तर में लिखा है कि जैनधर्मी 'नमो अहिंताणं' के बाद 'नमो सिद्धाणं' कहते हैं। अर्हतों की अपेक्षा सिद्ध अधिक पूर्णा को पहुँचे हुए हैं, ऐसा इसका अर्थ है। श्री बी० शेषगिरि राव ने 'दक्षिण भारत में जैन-धर्म अभ्यास' में लिखा है कि 'सिद्ध नमः' का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। तेलुगु लोग अपनी वर्णमा के आरम्भ में 'ॐ नमः शिवाय सिद्ध नमः' कहते हैं। कलिंग देश के उड़िया लोग वर्णमा के आरम्भ में सिद्धिरस्तु कहते हैं। सातवाहन संस्कृति 'सिद्ध नमः' से व्यक्त हुई है चालुक्य 'ॐ नमः शिवाय सिद्धम् नमः' से। एलिस गेटी ने अपने ग्रंथ 'गणेश' में पृ० ४ पर प्रो० प्रबोधचन्द्र बागची का एक पत्र दिया है जिसके अनुसार 'सिद्ध' का जो द्वितीया रहता है और 'शिवाय' की तरह से चतुर्थी रूप नहीं हुआ इसका कारण यह है कि प्राचीन काल से हिन्दुओं के मूलाक्षरों का नाम 'सिद्ध' था। विल्सन कालेज, बम्बई के प भार्गवशास्त्री जोशी व्याकरणाचार्य के अनुसार महाभाष्यकार पतंजलि ने 'सिद्धे शब्दार्थ सम्ब में 'सिद्ध' मांगल्यसूचक अव्यय माना है। उत्तरप्रदेश के 'रामसुती, सरसुती, ओनामासी का 'ओनामासीधं' महाराष्ट्र में भी है। डेविड डिरिंजर के ग्रन्थ "दी अलफाबेट, ए की हिस्ट्री आफ मैनकाइंड" में गुप्त लिपि से सिद्धमातृका लिपि के द्वारा देवनागरी लिपि ईसा छठी शती में आई ऐसा प्रतिपादित है। तोशाय ओ३म् नमः सिद्ध' में सिद्धमात्रिका लि का ही चयन हो। अस्तु, यह अवांतर चर्चा मैंने 'ओंकार' और 'सिद्ध' शब्द के कारण आनुषंगि समझकर की। विद्वज्जन इस पर सोचें।

विनोबाजी की भूमिका में जहाँ ईश्वर के सम्बन्ध में यह एकदम नवीन और मौलि विचार इस चार्ट के रूप में मिलता है कि :

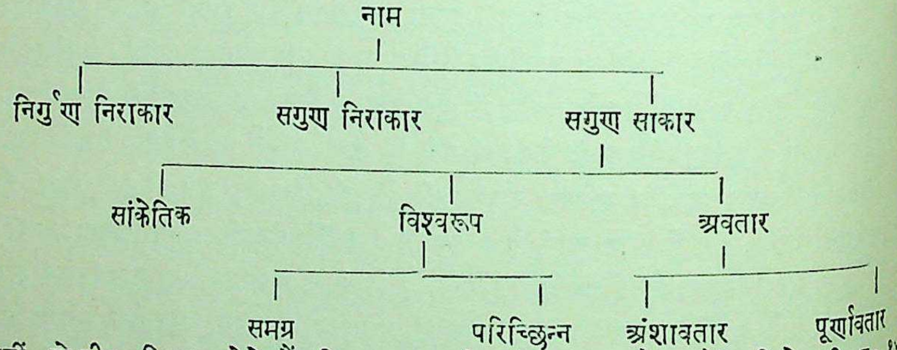

वहीं दो-तीन विधान ऐसे हैं जिन पर मतभेद हो सकता है। जैसे विनोबाजी पृ० १ पर कहते हैं—"दुनिया के सारे साहित्य में निर्गुण निराकार का सबसे श्रेष्ठ प्रतिपाद उपनिषदों में मिलता है।" यह विनोबाजी का अपना मत हो सकता है। अनीश्वरवादी दर्शनों में निर्गुण निराकारत्व 'नैरात्मा' की स्थिति तक पहुँचा है। उपनिषदों में काव्यगुण अवश्य है परन्तु निर्गुणत्व और निराकारत्व का प्रतिपादन बौद्ध शून्यवादियों ने अधिक सूक्ष्मता से किया है, ऐसा मेरी अल्पमति के अनुसार मुझे लगता है।

और विनोबाजी के जिन दो विधानों को लेकर मैंने उनसे कुछ पत्र-व्यवहार किया वे मूल में इस प्रकार से हैं : (१) "उपनिषद् में निर्गुण-निराकार के साथ सगुण-निराकार की पुष्टि करने वाले वचन भी पाए जाते हैं, जिनको रामानुज आदि भाष्यकार विशेष महत्त्व देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम और ईसाई मत इसीको मानते हैं। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इत्यादि आधुनिक समाज सगुण-निराकार की भूमिका पर खड़े हैं।''[1] और (२) ''कुछ विचारक और उपासक ऐसे ज़रूर होते हैं जो अपना-अपना आग्रह रखते हैं। जैसे मोहम्मद पैगम्बर सगुण-निराकार मानने वाले थे। यद्यपि निर्गुण निराकार का वे निषेध नहीं करेंगे, किन्तु सगुण-साकार का अवश्य निषेध करते हुए दीख पड़ते हैं। वैसे कुरान में वज्हुल्लाह याने 'अल्लाह का चेहरा' ये शब्द कई जगह आए हैं, जिनके आधार पर मूर्तिपूजा की अतिशयता का तो बचाव नहीं होगा, लेकिन सगुण-साकार का प्रवेश हो जायगा। कुरान का कुल मिलाकर भाव मैं यही समझा हूँ कि मोहम्मद के सामने विकृत मूर्तिपूजा खड़ी है, जिसके साथ उनके अनेक भ्रष्टाचार जुड़ गए हैं; उस सब का वे निषेध करना चाहते हैं। आखिर, ईश्वर का शब्द वे सुनते थे, 'वही' उन्हें प्राप्त होती थी, उसमें वे भावित होते थे, उसका उनके शरीर पर असर होता था; कुछ रूह, कुछ प्रभा, कुछ आभास, जो भी कहो, उनके अन्तर्-मानस में प्रकट होती थी। यह सब देहधारी मनुष्य कैसे टालेगा?''

विनोबा के मूल अवतरण पाठकों को मेरे पत्र-व्यवहार की शंकाओं को समझने में सहायक हों, इस हेतु से दिये हैं। उन्हें इस अंश को लेकर जो पत्र मैंने लिखा। उसमें 'यदुहुल्लाह' (अल्लाह का हाथ) आदि का आधार देकर कुरान में अल्लाह के सगुणपन के विषय में शंका व्यक्त की थी।

विनोबाजी ने उत्तर में जो पत्र लिखा उसका उपयोगी अंश इस प्रकार है जो इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि वह विषय को समझ सकने में अधिक सहायक सिद्ध हो सके :—

''सगुण-निर्गुण-भेद का मर्म जान सकना याने ईश्वर में प्रवेश ही पाना है। ईश्वर तत्त्व केवल अचिंत्य है, शब्द से परे है। तिस पर भी उसके वर्णन के लिए शब्दों का उपयोग किया जाता है तो ईश्वर वह सहन कर लेता है। विष्णुसहस्र नाम में ईश्वर के दो नाम ही यों दिये हैं—''शब्दातिगः शब्दसहः।''

अकसर लोग निराकार याने निर्गुण, और सगुण याने साकार ऐसा ही मान लेते हैं। पर निर्गुण निराकार और सगुण साकार से भिन्न सगुण निराकार भूमिका है। पैगम्बर की यही भूमिका मैं समझा हूँ। मैंने यह नहीं कहा कि वे सगुण साकार को मानते हैं। लेकिन वज्हुल्लाह आदि शब्दों के आधार पर अगर कोई समन्वय करना चाहे तो सगुण साकार के साथ समन्वय हो सकेगा, इतना ही मैंने सूचित किया था। आपने परमेश्वर के जो विशेषण कुरान के दिये हैं वे बहुत सारे निराकार होते हुए भी सगुण हैं। जैसे 'अररज्जाक' याने रोजी देने वाला। निर्गुण किसी को रोजी नहीं दे सकता। निर्गुण का वर्णन तो नकार से ही हो सकेगा।

सगुण निराकार मानने वाले जितने होते हैं उनकी भूमिका सबकी एक ही होती है, सो बात नहीं है। उनमें से कोई साकार का निषेध करते हैं। कोई साकार का निषेध करते हुए भी, इन्सान के लिए ही क्यों न हो, साकारवाची शब्द सहन करते हैं। कोई साकार को मानसिक आकार देते हैं। कोई उसको भौतिक रूप देते हैं। कोई उसकी उपासना के लिए मूर्ति भी अज्ञान दशा के लिए मान्य कर लेते हैं। ऐसे सब भेद होते हुए भी ये सारे सगुण निराकारवादी

१. पृ० १४
२. पृष्ठ १५-१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं। इस्लाम, ईसाई, रामानुज ब्राह्मो-प्रार्थना समाजी आदि ये सारे जितने भी उपास
ग्रन्थ हैं सब सगुण भूमिका पर खड़े हैं, ऐसा ही मैं समझता हूँ।

राम, कृष्ण ये शब्द भी मूलतः अमूर्तवादी सगुण शब्द हैं। याने सगुण निराकार है
उस पर आकार का आरोपण पीछे से किया गया है। राम याने रमने वाला। कृष्ण याने
आकर्षण करने वाला। 'हर हर महादेव' याने अक्षरशः 'अल्लाहो अकबर।' महादेव और
अकबर एक-दूसरे के तर्जुमे समझिए।

जहाँ तक ज्ञानदेव का ताल्लुक है, निर्गुण, सगुण और साकार तीनों में वह कोई
फर्क नहीं करता है। अलंकार के आकार में सुवर्ण रहता है। और सुवर्ण में सुवर्णत्व है। हम
अक्षर की आकृतियाँ देखते हैं। उन आकृतियों में हम अक्षर पढ़ते हैं। और उन अक्षरों से
हम अर्थ ग्रहण करते हैं। अर्थ निर्गुण है। अक्षर-ध्वनि सगुण है। अक्षर-आकृति साकार है।
राजा का पत्र हम फाड़ डालते हैं तो राजा का अपमान होता है।

कुरान में एक जगह मुहम्मद ने अपने अनुयायियों से कहा है कि मूर्तिपूजकों के
देवताओं की तुम निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे अल्लाह की निन्दा करेंगे। कोई भी नहीं
कहता कि व्यभिचारियों के व्यभिचार की निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे सदाचार की निन्दा
करेंगे। ज़ाहिर है कि इसमें मुहम्मद ने मूर्ति-पूजा को अधर्म नहीं माना है, बल्कि परधर्म माना
है। यह सारी मेरी समझने की दृष्टि है। गीता ने 'ओ३म् तत् सत्' इस महामन्त्र में निर्गुण,
सगुण और साकार का उत्तम समन्वय किया है। उसकी कुछ चर्चा अपने 'स्थित प्रज्ञ-दर्शन' में
मैंने की है। सगुण-निर्गुण-उपासना की एकता, जैसी मैं समझता हूँ, 'गीता प्रवचन' में प्रकट
की है। मैं नहीं जानता कि इतने से आपका समाधान हो सकेगा या नहीं। आखिर यह अनुभव
का विषय है और शब्द-शक्ति की एक सीमा है।"[1]

1. संकलनकर्ता : वियोगीहरि; प्रस्तावना—आचार्य विनोबा; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय

खोज की पगडण्डियाँ

ले०—श्री मुनि कांतिसागर; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी;

प्रस्तुत पुस्तक मुनि कांतिसागरजी के बारह लेखों का संग्रह है। ये लेख कला, पुरातत्व एवं यात्रा-विषयक हैं।

उपर्युक्त लेखों में पहला लेख सबसे बड़ा है। उसमें जैन चित्रकला की प्राचीनता और उसके क्रमिक विकास का विस्तृत विवेचन किया गया है। विद्वान् लेखक ने मुगल काल के पहले की जैन चित्रकला के सम्बन्ध में कई नवीन बातों पर प्रकाश डाला है। दूसरा लेख बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकला पर है। इसमें विविध प्रकार के बौद्ध-चित्र तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चित्रपटों के सम्बन्ध में मुनिजी के विचार विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। ललित-कला विषयक अन्य तीन लेखों में कई ज्ञातव्य तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। छठे, सातवें और आठवें लेखों में क्रमशः दो ताम्रपत्रों तथा रोहण खेड़ के एक मक़बरे पर प्राप्त विचित्र ढंग की लेखन-प्रणाली की चर्चा की गई है।

पुस्तक का अन्तिम भाग भौगोलिक तथा यात्रा-विषयक है। मुनिजी पर्यटक के रूप में प्रसिद्ध हैं। परन्तु उनका पर्यटन घुमक्कड़ों की श्रेणी में नहीं आता। वह अपनी यात्राओं में प्राचीन अवशेषों का सम्यक् निरीक्षण करते हैं और उनके सम्बन्ध में आवश्यक बातें नोट करते हैं। अनेक बार उन्हें भयावने और बीहड़ स्थानों में भी पुरातत्व की खोज में जाना पड़ा है। प्राचीन स्थलों का प्रत्यक्ष वर्णन मुनिजी ने अपने यात्रा-सम्बन्धी लेखों में बड़ी खूबी के साथ किया है। वर्णन-शैली रोचक है। इस पुस्तक में नालंदा, विंध्याचल, मैहर तथा पाटलिपुत्र के मनोरंजक वर्णन मिलते हैं।

पुस्तक में कुछ कमियाँ रह गई हैं। चित्र-कला तथा शिल्प-सम्बन्धी आवश्यक चित्रों का न होना खटकता है। जिन मुख्य कलाकृतियों तथा भौगोलिक स्थलों के उल्लेख पुस्तक में हुए हैं यदि उनके चित्र दे दिये जाते तो पुस्तक की शोभा और उपादेयता निस्सन्देह बढ़ जाती। प्रूफ़ की भी कुछ गलतियां रह गई हैं—विशेषकर व्यक्तियों और स्थानों के नामों की। इस प्रकार की उपयोगी पुस्तक के अन्त में अनुक्रमणिका का न होना भी खटकता है। लेखक ने 'म्यूजियम' के लिए 'आश्चर्य गृह' शब्द का प्रयोग किया है। इसके स्थान पर 'संग्रहालय' या 'कलाभवन' नाम अधिक उपयुक्त रहता। आशा है अगले संस्करण में इन कमियों को दूर किया जा सकेगा।

हम मुनिजी का इस उपयोगी पुस्तक की रचना के लिए साधुवाद करते हैं। उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ पुरातत्व और कला-सम्बन्धी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री को अपनी इस कृति में संग्रहीत किया है।

—कृष्णदत्त वाजपेयी

अर्वाचीन और प्राचीन के परे

लें०—गोपीकृष्ण 'गोपेश'; प्र०—आर्ट प्रिण्टर्स, इलाहाबाद।

अर्वाचीन और प्राचीन के परे १४ पौराणिक रूपकों का संग्रह है जो रेडियो के लिए लिखे गए हैं। रेडियो-रूपक अपनी अजीब-सी सीमाओं में पलते हैं, मूर्त होते हैं। बिना कुछ दिखाए ही नाटककार से उसका श्रोता सब-कुछ देख लेना चाहता है—वह भी कानों से।

पर रेडियो रूपककार को कुछ छूट मिलती है। उसे कुछ और अधिकार मिलते हैं। वह स्वयं एक प्रवक्ता बनकर अपने चरित्रों और श्रोताओं के बीच में आता है—रूपक के वातावरण और कथासूत्र का परिचय देने, इतिवृत्त को बढ़ाने, सँवारने। इतिवृत्त के बीच प्रमुख घटनाएँ, वाणि-अभिनय, वार्तालाप, संगीत, ध्वनि आदि से नाटकीय रूप-रेखा में बाँधी जाती हैं।

इन रेडियो-रूपकों में उक्त सभी मान्यताएँ सफलता से चरितार्थ हुई हैं। इनमें कभी वर्णनकार आकर हमारी समस्त सांस्कृतिक वृत्तियाँ जगा देता है और साथ-ही-साथ वातावरण-निर्माण के बीच वस्तुस्थिति पर अपना आलोक फैला देता है; जैसे—'विजया दशमी' में 'सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र' में, 'नल दमयन्ती', 'सावित्री सत्यवान' और 'पालने में भूले नंदलाला' आदि में। दूसरी ओर रूपककार अपने को वर्णनकार के रूप में न लाकर वहाँ स्त्री-पुरुष के स्वरों से कार्य लेता है—यह विधान अपेक्षाकृत नाटकीय, सफल और कलात्मक है; जैसे, 'महाराज दिलीप' में, 'महाराज उद्धव व्रज से मथुरा में।'

इन समस्त रूपकों का भाव-क्षेत्र हमारी भारतीयता, हमारे आदर्श और हमारी संस्कृति है। रूपककार ने इस मर्यादा को सर्वत्र निभाया है। रूपककार मूलतः कवि है। इस दिशा में यह कृतित्व उसकी प्रथम देन है। कथानक पुराने हैं, इन पर बहुत लिखा गया है, लिखा जायगा, क्योंकि यही वह क्षेत्र है, जहाँ हमें आज भी गति मिलती है। इस प्रथम देन के लिए रूपककार साहित्य-जगत् की ओर से बधाई का पात्र है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

बदलती राहें • मधु

लेखक—यज्ञदत्त; प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन दिल्ली।

'यज्ञदत-साहित्य' के अन्तर्गत दो उपन्यास 'बदलती राहें' और 'मधु' सामने हैं। 'बदलती राहें' में लेखक ने कथा का निचोड़ काफी जोरदार शब्दों में भूमिका-रूप में पहले दे दिया है। इस उपन्यास में सन् सत्तावन से लेकर आज तक की इस लम्बी अवधि पर नजर दौड़ाकर स्वप्नमूलक आदर्शवादिता के जोश में कुछ कहने की कोशिश की गई है। एक पृष्ठ की भूमिका में आत्मा, प्रगति, रूढ़ि और त्याग आदि जिन शब्दों के प्रयोग द्वारा कथा की भव्यता प्रदर्शित की गई है वे सब अन्त तक पहुँचते-पहुँचते निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं; जिसके मूल में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, विवेचन, कहने की शैली और संवेदनात्मक स्थलों की पकड़ का अभाव है।

इतनी विशाल पृष्ठभूमि और इतनी ज्वलंत सामयिक समस्याओं को उठाने के पीछे लेखक की सजगता का तो आभास मिलता है, आदर्शवादी स्थापनाओं द्वारा उसकी आस्था का भी परिचय मिलता है, परन्तु जिस रूप और शैली में यह कथा प्रस्तुत की गई है उसे उपन्यास की संज्ञा देने में हिचक होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐकारान्त सम्बोधनों का प्रयोग और पात्रों का आँखों-में-आँखें डाल देना अत्यन्त हास्यास्पद हो जाता है। भाषा यदि निर्जीव न कही जाय तो सशक्त या व्यञ्जनात्मक भी नहीं है।

'मधु' उपन्यास पर नजर पड़ते ही कवर पेज का चित्र सामने आता है जो हल्केपन का परिचायक है। कुछ सम्मतियाँ हैं और फिर डॉ० राकेश गुप्त की कथा की परिचयात्मक आलोचना। गुप्तजी ने टी० एस० इलियट के एक वाक्य को उद्धृत करके उसे स्पष्ट किया है, पर 'अधिकारपूर्वक' नहीं। और उससे जो निष्कर्ष निकाला है वह एक पृथक् विवाद का प्रश्न है। खैर···

तो कथा आरम्भ होती है प्रकृति-वर्णन के साथ और नौ पंक्तियों के बाद ही गीत प्रारम्भ हो जाता है। गीतों की भरमार और स्थलों पर उन्हें रखने के ढंग से ऐसा लगता है जैसे उपन्यासकार और सिनेमा के 'स्क्रिप्ट' लेखक में कोई अन्तर ही न हो। अतिनाटकीय-शैली और पौराणिक नाटकों की तरह बालिके, चण्डिके आदि सम्बोधन, अमूर्त अदृश्य में भावारोपण करके वार्तालाप, स्थान-स्थान पर नायिका का अचेत हो जाना आदि उबाने के लिए पर्याप्त हैं।

अन्त में यह कह देना भी आवश्यक लगता है कि प्रतिष्ठित सम्मतिकारों को अपनी उदारता का उस हद तक परिचय नहीं देना चाहिए जिससे कथा-साहित्य के पाठकों को ग़लत और भ्रमपूर्ण मार्ग-निर्देश मिले।

—कमलेश्वर

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग)—एक परिचय

सं०—उदयसिंह भटनागर, साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान और विशेषकर मेवाड़ के विभिन्न संग्रहालयों और व्यक्तियों के पास प्राप्त ५०६ ग्रंथों की विवरणात्मक सूची एवं उनके प्राप्त स्थान दिये गए हैं। इन ग्रंथों के रचयिता ३२५ व्यक्ति हैं। ग्रंथों का विवरण अकारादि-क्रम से तीन शीर्षकों के अंतर्गत दिया गया है:—

(क) अध्यात्म, धर्म, दर्शन, भक्ति-सम्प्रदाय, पंथ आदि····८१ ग्रंथ।

(ख) काव्य, साहित्य-शास्त्र, इतिहास आदि····६१ ग्रंथ।

(ग) ख्यात वृत, कथा-काव्य, जैन-रास, जीवन-चरित्र आदि····७६ ग्रंथ।

इस खोज विवरण में कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय 'पृथ्वीराज रासो' की नवीन प्राप्त प्रतियाँ हैं। खोज में सम्पादक को पाँच प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। रासो के संपादन और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'रामसागर' है जिसके रचयिता कबीर कहे गए हैं। लेखक ने प्रति का लिपिकाल सं० १३४२ (?) माना है। दस पत्रों में सीमित यह एक छोटी सी रचना है और विवरण में पूरी-की-पूरी उद्धृत कर दी गई है। यदि यह कबीर की प्रामाणिक रचना है तो इसका विशेष महत्त्व है। कबीर की प्रामाणिक रचना न होने पर भी यदि इसका लिपिकाल सं० १३४२ है, जैसा कि संपादक का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमान है, तो इसका भाषा एवं लिपि की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसके अध्ययन की आवश्यकता है।

प्राचीन ब्रजभाषा एवं राजस्थानी गद्य की दृष्टि से जहाँ प्राप्त वार्ताएँ एवं ख्यात आदि महत्त्वपूर्ण हैं, वहाँ कुछ प्राचीन टीका-ग्रंथ विशेष रूप से भागवत् एवं भगवद्गीता-टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। अंत में, अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंश इसका परिशिष्टांश है जिसमें विभिन्न लिपिकाल के विभिन्न गुटकों में प्राप्त मीरा के अभी तक के प्रकाशित पद संग्रहीत हैं। इस प्रकार से यह ग्रंथ खोज के विद्यार्थियों एवं प्राचीन साहित्य के अध्ययन करने वालों के लिए बहुमूल्य है। इसके लिए लेखक एवं साहित्य-संस्थान बधाई के पात्र हैं।

—मिथिलेश कांति

रीतिकालीन हिन्दी कविता और सेनापति

ले०—रामचन्द्र तिवारी, एम० ए०; प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

सेनापति की रचना 'कवित्त रत्नाकर' के इधर प्रकाशित हो जाने पर इस कवि के अध्ययन की ओर हमारा ध्यान पहले से अधिक आकृष्ट होने लगा है। पुस्तक परीक्षा-सम्बन्धी पाठ्य-ग्रंथों में आ चुकी है और इस कारण अनुशीलन की यह प्रवृत्ति अभी तक सोद्देश्य है और इसका क्षेत्र भी सीमित है। फिर भी सेनापति का आविर्भावकाल भक्ति-युग एवं रीति-युग के बीच में पड़ता है और इस रचना पर इन दोनों युगों का सम्मिलित प्रभाव है, अतएव, इस कवि के विषय में लिखते समय, अपने दृष्टिकोण को व्यापक एवं संतुलित बनाये रखना अनिवार्य हो जाता है। आलोच्य पुस्तक के रचयिता ने इस प्रकार की सभी बातों को अपने ध्यान में रखा है। इसके तीन खंडों में से पहले में रीतिकालीन हिन्दी कविता की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है जो संक्षिप्त होता हुआ भी सुन्दर है। दूसरे खंड में सेनापति के जीवन वृत्त, उसकी रचनाओं तथा उसके व्यक्तित्व का परिचय दिया गया है जो, पर्याप्त सामग्री के अभाव में अनिवार्यतः अधूरा-सा लगता है। परन्तु तीसरे खंड के शीर्षक काव्य-समीक्षा के अंतर्गत लेखक ने कवि की रचनाओं पर प्रायः सभी दृष्टियों से विचार किया है और वह औचित्यपूर्ण भी है। पुस्तक परीक्षार्थियों के अतिरिक्त हिन्दी-काव्यरसिकों के लिए भी सर्वथा उपादेय है, इसमें सन्देह नहीं।

—परशुराम चतुर्वेदी

महाकवि श्री निराला अभिनन्दन ग्रन्थ

कलकत्ता के साहित्यिकों ने श्री निरालाजी के सम्बन्ध में यह संस्मरणात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत कर हिन्दी-जगत् का बहुत उपकार किया है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री बरुआ लिखते हैं कि इस कृति की योजना तैयार करने में उन्हें '२५०० मील रेल यात्रा, ५०० मील ट्राम यात्रा और ५०० मील पैदल यात्रा करने का अलभ्य बड़भाग मिला है।' सम्पूर्ण ग्रन्थ के दो भाग हैं: प्रथम भाग के ११४ पृष्ठों में विभिन्न साहित्यिकों द्वारा श्री निरालाजी पर लिखे गए निजी संस्मरण शब्द-चित्र और श्रद्धांजलियाँ हैं जिनमें सर्वश्री बा० गुलाबराय एम० ए०, पं० श्रीराम शर्मा, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पं० गांगेयनरोत्तम शास्त्री, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, वाचस्पति पाठक, गंगाप्रसाद पांडेय, अमृतलाल नागर, बेढब बनारसी, जयगोपाल शिवगोपाल मिश्र, जानकीवल्लभ शास्त्री, रत्नशंकर प्रसाद, भदन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनन्द कौसल्यायन तथा उदयनारायण तिवारी एम० ए० डी० लिट्० के संस्मरण, शब्द-चित्र एवं श्रद्धांजलियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रारम्भ में श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्रीमती महादेवी वर्मा तथा कुछ अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों की प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ की आयोजना पर बधाइयाँ तथा शुभकामनाएँ हैं। श्री निरालाजी के प्रति लिखित दो कविताएँ भी हैं।

द्वितीय भाग के १८८ पृष्ठों में श्री बरुआ द्वारा लिखित "कलकत्ता में श्री निरालाजी (१०१ संस्मरण)" हैं, जिसमें लेखक ने श्री निरालाजी के सम्पर्क में आये हुए विभिन्न साहित्यिकों और विद्वानों द्वारा लिखित संस्मरणों को एक सूत्र में पिरोया है। इन संस्मरणों में श्री निरालाजी के उस समय के साहित्यिक उत्कर्ष के संघर्षमय जीवन की रोचक कहानी है, जब वे कलकत्ता में थे। इन्हें पढ़ने में एक महान् उपन्यास का-सा आनन्द आता है क्योंकि श्री अमृतलाल नागर के शब्दों में 'निरालाजी का जीवन किसी भी महान् औपन्यासिक 'हीरो' से कम नाटकीय नहीं।' इनमें सर्वश्री इलाचन्द्र जोशी, आचार्य शिवपूजन सहाय, पं० परमानन्दशर्मा, बाबू श्यामसुन्दरदास खत्री, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा, प्रो० रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल' और यशपाल जैन के संस्मरण उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में ३०० पृष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त आर्ट पेपर पर छपे छोटे-बड़े, सादे और रंगीन १०५ चित्र भी हैं जिनमें कवर-पृष्ठ तथा द्वितीय भाग का मुखपृष्ठ भी सम्मिलित हैं। ६५ चित्र स्वयं श्री निरालाजी के हैं, अथवा उनसे सम्बन्धित हैं जो विभिन्न अवसरों तथा समयों पर लिये गए हैं। इनके अतिरिक्त श्री निरालाजी के एक पत्र तथा उनकी कुछ कविताओं की हस्तलिपियाँ भी हैं। इस सारी प्रचुर सामग्री से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी और उपादेय हो गया है। किन्तु इसमें दो कमियाँ बहुत खटकती हैं। एक, अच्छे काग़ज़ की, दूसरी, जिल्द की। यदि यह अच्छे काग़ज़ पर छपा और मज़बूत जिल्द में बँधा होता, तो अधिक टिकाऊ होता।

—श्याममोहन श्रीवास्तव

प्रेमचन्द के पात्र

सम्पादक—कोमल कोठारी; प्रकाशक—प्रेरणा प्रकाशन, जोधपुर।

हिन्दी-आलोचना बहुत-से विद्वानों के सत्प्रयत्नों के बावजूद अब भी बहुत वैज्ञानिक नहीं हो सकी है, ऐसा कहना कदाचित् बहुत असंगत न होगा। जिस क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित समीक्षा की आवश्यकता, साहित्य के स्वस्थ तथा संतुलित विकास के लिए आवश्यक होती है, उस श्रेणी की समीक्षा हमारे यहाँ अभी पर्याप्त मात्रा में तैयार नहीं हो सकी है। ऐसी स्थिति में जब कोई वैज्ञानिक पद्धति पर आलोचना-कृति हमारे सम्मुख आती है, तो उसके लिए हमारे मन में श्रद्धा एवं सहानुभूति स्वभावतः जाग्रत होती है। 'प्रेरणा' का विशेषांक 'प्रेमचन्द के पात्र' बहुत कुछ ऐसी ही पुस्तक या पत्रिका है। इस में हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण पात्रों की पर्याप्त रूप से सुव्यवस्थित समीक्षा प्रस्तुत की गई है। सारी सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया गया है, कहानियों के पात्र, उपन्यास के पात्र तथा विशेष। इसमें तीसरा और अन्तिम भाग कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस भाग के अंतर्गत प्रेमचन्द के पात्रों का विशेष अध्ययन कुछ सीमित एवं निश्चित शीर्षकों में किया गया है। ये शीर्षक हैं प्रेमचन्द के स्त्री-पात्र, प्रेमचन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साहित्य में भारतीय जनता का चित्रण, नाम संस्कार का सर्वश्रेष्ठ पुरोहित प्रेमचन्द तथा कथा-साहित्य और पात्र (सम्पादकीय) ।

महत्त्व एवं रोचकता के आधार पर ही इस पत्रिका में प्रेमचन्द के कुछ विशिष्ट पात्रों का चयन किया गया है। चरित्रों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों ही पृष्ठभूमियों में हुआ है; फिर भी इस अध्ययन को अधिक गहरा एवं विस्तृत बनाया जा सकता था, इसमें कोई सन्देह नहीं, कुछ पात्रों की समीक्षा सानुपात नहीं हो पाई है। उदाहरणार्थ, 'प्रेमाश्रम में लाला प्रभाशंकर का चरित्राध्ययन अपेक्षाकृत हल्के ढंग से हुआ है। समीक्षा भी विशुद्ध साहित्यिक शैली में व बहुत-से स्थानों पर अंग्रेजी शब्दों या मुहावरों के प्रयोग आपत्तिजनक कहे जा सकते हैं। सम्पादकीय में, बिना हिन्दी पर्याय दिये हुए 'प्रोम्प्ट', 'माउथपीस', 'ब्रेक', 'निहिलिस्ट', 'बण्डल ऑफ स्टिम्स', 'क्रिएशन ऑफ प्लॉट' तथा 'पोर्ट्रेट' जैसे—अपेक्षाकृत अपरिचित एवं विशिष्ट अर्थ देने वाले शब्दों का प्रयोग बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कहीं-कहीं अहिंदी कथा-साहित्य-सम्बन्धी हल्के अज्ञान का परिचय मिल जाता है। उदाहरण के लिए, स्वयं सम्पादकीय में ही शरद के 'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी को देवदास से सम्बद्ध बताया गया है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट पात्रों का अध्ययन उपस्थित करने वाले निबन्धों में, विषय-वस्तु तथा शैली दोनों के ही दृष्टिकोण से अधिक गम्भीरता अपेक्षित है।

फिर भी इन सब कमियों के बावजूद, इतना सुन्दर एवं सुव्यवस्थित विशेषांक निकालने के लिए, 'प्रेरणा' का संपादक तथा लेखक-मण्डल, जो अपेक्षाकृत बहुत कम व्यक्तियों में सीमित है, प्रेमचन्द के पाठकों तथा आलोचकों की बधाई का पात्र है। आशा है कि भविष्य में इस पत्रिका के माध्यम से हमें हिन्दी-आलोचना के अन्य क्षेत्रों में भी विशिष्ट, वैज्ञानिक तथा अधिक गम्भीर अध्ययन उपलब्ध हो सकेंगे।

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

अवन्तिका : काव्यालोचनांक

टिप्पणी : जगदीश गुप्त

'अवन्तिका' के नववर्ष-प्रवेश के अवसर पर प्रकाशित काव्यालोचनांक उसकी प्रगति के पथ में एक निश्चित सीमाचिह्न के रूप में स्मरणीय रहेगा, यह असंदिग्ध है, किन्तु इसके अतिरिक्त साहित्य-समीक्षा के विस्तृत क्षेत्र में उसका क्या महत्त्व है, यह अधिक विचारणीय है। प्रस्तुत अंक की सामग्री का संकलन तीन खण्डों में, जिनका पृथक्करण सूक्ष्मता से देखने पर ही सम्भव होता है, तीन दृष्टियों से किया गया है। पहले खण्ड में दस लेख हैं जिनमें संस्कृत काव्य-शास्त्र के सुपरिचित अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि सम्प्रदायों से सम्बद्ध समस्याओं का विवेचन मिलता है। इन लेखों में कई लेख पाण्डित्यपूर्ण हैं, परन्तु 'साधर्म्य अथवा उपमा' शीर्षक डॉ० ओमप्रकाश का लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'ध्वनि' जैसे अनिवार्य महत्ता के सिद्धान्त की उपेक्षा इस खण्ड में चिन्त्य प्रतीत होती है।

दूसरे खण्ड की सामग्री को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संकलित किया गया है। सिद्ध कवियों से लेकर हिन्दी काव्य की अत्याधुनिक प्रवृत्तियों तक का इसमें समावेश है। बदलती हुई काव्य-परम्परा का परिचय देने के अतिरिक्त काव्य की आलोचना के क्षेत्र में और विशेषकर काव्य की समस्याओं तथा मूल्यों के विवेचन में इस ऐतिहासिक दृष्टि की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती। वीर-काव्य तथा प्रेममार्गी काव्य के प्रतिनिधित्व के सर्वथा अभाव में इसे पूर्ण भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस ऐतिहासिक क्रम को पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने के लिए ही कुछ ऐसे लेखों का भी संग्रह इसमें कर लिया गया है जो अंक के उच्च स्तर को सहसा नीचे ले आते हैं। 'हिन्दी के बृहत्त्रयी—सूर तुलसी और कबीर'—तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' जैसे लेखों को अन्य कहीं अधिक श्रेष्ठतर लेखों 'रीतिकाल का नया मूल्यांकन' (दिनकर), 'प्रपद्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' (केसरी कुमार) आदि के साथ संग्रहीत देखकर आश्चर्य होता है।

तीसरे और अन्तिम खण्ड में संसार के कुछ विशिष्ट आलोचकों के सिद्धान्तों के विषय में परिचयात्मक लेख संग्रहीत हैं। इसमें भी रिचर्ड्स तथा सार्त्र के दृष्टिकोण का अभाव खटकता है। 'इलियट की आलोचना-प्रणाली' शीर्षक लेख इलियट के काव्य-सिद्धान्तों के महत्त्व को देखते हुए अपर्याप्त प्रतीत होता है। 'हिन्दी आलोचना : अगला कदम' में डॉ० देवराज ने जो हिन्दी आलोचना में 'प्रौढ़ि और परिपक्वता' की कमी की ओर इशारा किया है वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं। इस प्रश्न को यदि अवन्तिका काव्यालोचनांक तक ही समाप्त न कर के आगे भी उठाये तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

यत्र-तत्र यत्किंचित् अभाव के बाद भी 'सुधांशु जी' जैसे हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक के सम्पादन में प्रकाशित 'अवन्तिका' के इस विशेषांक का स्वागत होना चाहिए। विवशताओं को स्वीकार करते हुए जिसे सम्पादक ने 'एक प्रयत्न-मात्र' कहा है वह वस्तुतः अनेक दृष्टियों से एक सफल और सशक्त प्रयत्न है।

—जगदीश गुप्त

'नवनीत' दीपावली विशेषांक

नवनीत का दीपावली विशेषांक विशेष आकर्षक है। लेख, कहानी, कविता, प्रवचनों का संकलन विविध विषयों को दृष्टि में लेकर किया गया है। वैज्ञानिक, साहित्यकार, कहानीकार, कवि, चित्रकार, गायक अपनी रुचि के अनुकूल 'इस संचयन' में से कुछ-न-कुछ पा लेता है। एक ओर संगीतज्ञ मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की 'गुज़र चुकी फस्ले बहार' है तो दूसरी ओर हिंसक पशुओं का साम्राज्य भी है...।

हिन्दी, बंगला, मराठी के सुप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं के अतिरिक्त रूसी, फ्रेञ्च, अंग्रेज़ी, तमिल के विख्यात लेखकों की, जिनमें श्री मेक्सिम गोर्की, रोम्या रोलाँ, बर्टेंड रसेल प्रमुख हैं, कहानियाँ भी हैं। एक ही स्थान पर विभिन्न प्रान्तों, विभिन्न देशों के साहित्य से हमें परिचय मिल जाता है। नवनीत हिन्दी पाठक की अभिरुचि को सुसंस्कृत बना रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

—उमा भटनागर।

'पांचजन्य' (अर्थ अंक)

'पांचजन्य' का अर्थ-अंक हिन्दी में अर्थ-शास्त्रीय सिद्धान्तों और आधुनिक अर्थ-नीतियों पर विचार करने वाला शायद पहला प्रकाशन है जिसमें कई मतों के लेखकों को एक साथ स्थान दिया गया है। यही इसका गुण भी है और इसकी कमजोरी भी।

सम्पादकों के अनुसार भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के लिए उसका 'अध्यात्मीकरण' होना आवश्यक है। इस अध्यात्मीकरण का समर्थन जिन लेखों में किया गया है उनमें से श्री कुन्दन राजा का 'अर्थ-सिद्धान्त : भारतीय दृष्टि में', श्री रामचन्द्र तिवारी का 'मार्क्सवाद की वेदान्तीय समीक्षा' और श्री कुमारप्पा का 'नियोजन का गांधीवादी दृष्टिकोण' नामक लेख उल्लेखनीय हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि सर्वोदय का अर्थशास्त्र पश्चिमी अर्थशास्त्र को भारत की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक नई देन है और सर्वोदय अर्थशास्त्र की बहुत-सी बातें सिद्धान्ततः काफ़ी लोग मानने लगे हैं। लेकिन अभी तक किसी ने भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में सर्वोदय या अध्यात्मवाद पर विचार नहीं किया है। इस विषय पर भी दो-एक लेखों को सम्मिलित कर लेने से अंक का महत्त्व बढ़ जाता।

अंक के सबसे महत्त्वपूर्ण लेख भारत की पंचवर्षीय योजना पर हैं। विशेषतः श्री अघौलिया और श्री वी० के० आर० वी० राव के लेखों में योजना का सविस्तार और सारगर्भित विवेचन किया गया है। हिन्दी में योजना का ऐसा गम्भीर अध्ययन अन्यत्र नहीं है। सोवियत अर्थनीति पर श्री पीटर वाइल्स का लेख अपने विषय पर नई सामग्री प्रस्तुत करता है।

अनुवादों की भाषा में अधिक सावधानी बरतनी चाहिए थी। 'पर्ज' के लिए 'शुद्धि' शब्द का प्रयोग भ्रमोत्पादक है। एक ही वाक्य में 'टैक्स' और 'कर' नहीं होने चाहिएँ थे। 'ट्रेड-यूनियन' का अनुवाद आसानी से हो सकता है, लेकिन उसे ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया है। 'कन्सेन्ट्रेशन कैम्प' के लिए 'सामूहिक श्रम शिविर' लिखना हास्यप्रद है।

आरम्भ की कविताएँ न होतीं तो अच्छा था।

—सुरतदास श्रीवास्तव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यालोचना

श्री सम्पादक 'आलोचना',
इलाहाबाद

मान्यवर महोदय,

आलोचना में मेरी पुस्तक 'व्यक्ति और वाङ्मय' की डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखित आलोचना पढ़ी। अन्य बातों में बहुत-सा मतभेद होने पर भी डॉ० वार्ष्णेय का आलोचक के स्वतन्त्र विचार रखने का अधिकार है, अतः मैं कुछ नहीं कहूँगा। उसमें केवल एक बात का स्पष्टीकरण मैं देना चाहता हूँ। विद्वान् आलोचक ने शंका उठाई है कि मैं मराठी की बात हिन्दी में अधिक करता हूँ, पता नहीं हिन्दी की बात मराठी में करता हूँ या नहीं। कुछ तथ्य अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए रख दूँ।

प्रभाकर माचवे ने हिन्दी लेखकों के परिचय, उनकी रचनाओं के अनुवाद, उनके साहित्यिक मत आदि के विषय में अब तक मराठी पत्र-पत्रिकाओं में जितना लिखा है, उसे पुस्तकाकार छापा जाय तो ५०० पृष्ठों की पुस्तक अवश्य होगी। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं के प्रकाशन की तिथि और नामोल्लेख कर देना पर्याप्त होगा :

क्रमांक	नाम	प्रकाशन तिथि
(१)	हिन्दी साहित्यिकांची प्रभावक : गुप्तबन्धु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द पर विशेष लेख	१९३७
(२)	दीपावली के ललित कला विशेषांक में कई अनुवाद : सुमित्रानन्दन पन्त, प्रेमचन्द आदि	१९३९
(३)	१९४० चे हिन्दी साहित्य	१९४०
(४)	राहुल सांकृत्यायन (व्यक्तिचित्र)	१९४३
(५)	जैनेन्द्रकुमार का 'त्याग पत्र'	१९४१
(६)	'निराला' और 'अज्ञेय' (रेखाचित्र)	१९४७, १९५१
(७)	'साहित्य प्रवाह' भारतीय साहित्य संस्कृति,	१९३९ से
(८)	उपवनांतील वारें इत्यादि नियमित स्तम्भ	१९४८ तक
		विजयदशमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) हिन्दी साहित्यांचा इतिहास १६५२

अश्क, यशपाल, अमृतराय की कहानियों के अनुवाद भी छापे।

पुस्तकों के अनुवादों का जहाँ तक प्रश्न है, उपन्यासों में 'गोदान' का एक मराठी अनुवाद मैंने 'रिवाइज़' किया; 'शेखर' का अनुवाद एक मित्र से करा रहा हूँ; 'बाणभट्ट की आत्मकथा' प्रो॰ तारा पोद्दार, नागपुर, मेरी सहायता से करना चाहती हैं। हिन्दी नाटकों में से मराठी में शायद ही कोई अनुवाद रुचे; डॉ॰ रामकुमार वर्मा का 'चारुमित्रा' हुआ है। कविता का अनुवाद कठिन है, कुछ मैंने किया है। एक सज्जन कल्याणराय ने समूची 'भारत-भारती' चार वर्ष पूर्व भारती में समश्लोकी अनूदित की थी, पर प्रकाशक नहीं मिल पाया। प्राचीन ग्रन्थों में से 'तुलसी रामायण' का 'सुश्लोकमानस' अनुवाद श्री खण्डेजी ने किया है। निवेदन इतना ही है कि इस विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करके वह व्यंग्य-प्रहार मुझ पर किया जाता तो अच्छा होता! आशा है कि वह व्यंग्य नहीं है और हिन्दी भाषियों की सर्वसामान्य अन्य भारतीय भाषाओं के विषय में अज्ञता-मात्र है।

—प्रभाकर माचवे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

१. मानस में रामकथा : डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता । २. मानस की रामकथा : परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, प्रयाग । ३. आचार्य चाणक्य : जनार्दन नागर, साहित्य संस्थान, उदयपुर । ४. मुनिया की शादी; महल और मकानः इन्क़लाब : यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । ५. पंजाब की कहानियाँ : बलवन्त सिंह, लहर प्रकाशन, प्रयाग । ६. लोमड़ी का मांस : केशवचन्द्र वर्मा, प्राची प्रकाशन, कलकत्ता । ७. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड : डॉ० रांगेय राघव, सरस्वती पुस्तक सदन, मोदी कटरा, आगरा । ८. चाँद सूरज के बीरन; बाजत आवे ढोल : देवेन्द्र सत्यार्थी, एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली । ९. रजवाड़ा : देवेशदास, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १०. वितस्ता की लहरें : लक्ष्मीनारायण मिश्र, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । ११. कबीर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १२. चीनी जनता के बीच : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, पी० प० हाउस, बम्बई । १३. संताप : बालकृष्ण बल्दुवा, नरेन्द्र बुक-डिपो, कानपुर । १४. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य : डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, चौधरी मानसिंह प्रकाशन, अजमेर । १५. नज़ीर की बानी, फ़िराक : ला जर्नल प्रेस, प्रयाग । १६. आँखों में; बन्दना के बोल : हरिकृष्ण प्रेमी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १७. धर्म की धुरी; अपना पराया : राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, राजेश्वरी साहित्य मन्दिर, पटना । १८. परिव्राजक की प्रजा : शान्तिप्रिय द्विवेदी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग । १९. उर्दू और उसका साहित्य : गोपीनाथ अमन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली । २०. तमिल और उसका साहित्य : पूर्ण सोमसुन्दरम्, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली । २१. भारतीय शिक्षा : डॉ राजेन्द्रप्रसाद, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । २२. वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, प्रयाग । २३. नये नगर की कहानी : रावी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । २४. रोते हैं, हँसते हैं : हरिशंकर परसाई, सुषमा साहित्य मन्दिर, जबलपुर । २५. संघर्ष के बाद : विष्णु प्रभाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी । २६. पर्दे के पीछे : उदयशंकर भट्ट, मसिजीवी प्रकाशन , दिल्ली । २७. अन्तरिम क्षतिपूर्ति योजना; प्रयाग दर्शन : List of technical terms प्रकाशन विभाग, केन्द्रीय सरकार, दिल्ली । २८. सार्थवाह : डॉ० मोतीचन्द, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना । २९. हर्षचरित : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना । ३०. मां दुर्गे : हरिनारायण मैणवाल, ला जर्नल प्रेस, प्रयाग । ३१. गद्य-पथ : सुमित्रानन्दन पन्त, साहित्य भवन प्रयाग । ३२. महावीर वाणी : डॉ० बेचरदास, जैन महामण्डल, वर्धा । ३३. भगवान् महावीर और उनका मुक्तिमार्ग : ऋषभदास राँका, जैन महामण्डल, वर्धा । ३४. चिनगारियाँ : ताराचन्द एल० कोठारी, जैन महामण्डल, वर्धा । ३५. इन्द्र धनुष : श्री हरिशंकर, हिन्दीपीठ, बम्बई । ३६. स्तालिन : राहुलसांकृत्यायन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पी० प० हाउस, बम्बई। ३७. निबन्ध-संग्रह : डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, डॉ० श्रीकृष्णलाल, साहित्य भवन, प्रयाग। ३८. महाकवि भूषण : भगीरथ प्रसाद दीक्षित, साहित्य भवन, प्रयाग। ३९. प्रेत बोलते हैं : राजेन्द्र यादव, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली। ४०. परेड ग्राउण्ड : हंसराज रहबर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। ४१. साहित्य साधना की पृष्ठभूमि : भैरवनाथ झा ज्ञानपीठ, पटना। ४२. तुलसीदास : स्नेह ओझा, साहित्य संस्थान, उदयपुर। ४३. चाकलेट : उग्र, टण्डन ब्रदर्स, कलकत्ता। ४४. माटी का सत : रामअधार सिंह, प्र० दिनेशसिंह काशी। ४५. चार के चार : कमल जोशी, विभा प्रकाशन, जमशेदपुर। ४६. जिन्दगी के अनुभव : नमिता लुम्बा, सेन्ट्रल बुकडिपो, प्रयाग। ४७. गुरु दक्षिणा : सन्तराम वत्स्य, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। ४८. मानिनी गोपा; कृष्ण वियोगिनी : हरिनारायण मैणवाल, ला जर्नल प्रेस, प्रयाग। ४९. पत्थर के देवता : ६ यूरोपीय लेखक, प्राची प्रकाशन, कलकत्ता।

विश्वविद्यालय पुस्तकालय कांगड़ी, हरिद्वार
६०८ ६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक माला के पाँच महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियां

भूमिका : डॉ० रघुवंश

लेखक—प्रभाकर माचवे, डॉक्टर जगदीश गुप्त, विजय चौहान, नामवरसिंह, राजनारायण बिसारिया। मूल्य २)

हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियां

भूमिका : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

लेखक—नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, ठाकुरप्रसाद सिंह, बच्चनसिंह, विजय-शंकर मल्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी। मूल्य २)

हिन्दी के गौरव-ग्रन्थ

भूमिका : डॉ० व्रजेश्वर वर्मा

लेखक—डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० रांगेय राघव, विश्वम्भर 'मानव', विजयेन्द्र स्नातक, गोपाल कृष्ण कौल। मूल्य २)

हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियां

भूमिका : डॉ० देवराज

लेखक—शिवनाथ, डॉ०जगदीश गुप्त, विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, शम्भूनाथ सिंह, नलिनविलोचन शर्मा। मूल्य २)

पाश्चात्य आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियां

भूमिका : डॉ० एस० सी० देब

लेखक—डॉ० जयकान्त मिश्र, डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा, विजयदेव नारायण साही, हर्षनारायण, राजनारायण बिसारिया, रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ रामअवध द्विवेदी, केशव आनन्द, यदुपति सहाय। मूल्य ३)

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचना

हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ : भूमिका डॉ० रघुवंश २)

हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ : भूमिका डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय २)

हिन्दी के गौरव ग्रन्थ : भूमिका डॉ० व्रजेश्वर वर्मा २)

हिन्दी-आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ : भूमिका डॉ० देवराज २)

उर्दू और उसका साहित्य : गोपीनाथ 'अमन' २)

तमिल और उसका साहित्य : पूर्ण सोमसुन्दरम् २)

तेलुगु और उसका साहित्य : हनुमच्छास्त्री 'अयाचित' २)

मालवी और उसका साहित्य : श्याम परमार २)

मेघदूत : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ४)

साहित्य साधना की पृष्ठभूमि : बुद्धिनाथ झा कैरव ६)

रीतिकालीन कविता एवं शृंगार का विवेचन : डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ६।।)

प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड : डॉ० रांगेय राघव ४)

हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र १२)

प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ : डॉ० रामविलास शर्मा ३।।)

रेवातट (पृथ्वीराज रासो २७वां समय) : सं० डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी ६)

मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ : डॉ० सावित्री सिन्हा ८)

कामायनी दर्शन : कन्हैयालाल सहल, विजयेन्द्र स्नातक ४)

हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल १०)

द्विवेदी युगीन निबन्ध-साहित्य : गङ्गाबख्शसिंह ३)

महाकवि भूषण : भगीरथ प्रसाद दीक्षित २।।)

निर्गुण काव्य दर्शन : सिद्धिनाथ तिवारी

समीक्षा-शास्त्र : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

गद्य-पथ : सुमित्रानन्दन पंत

निबन्ध संग्रह : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री कृष्णलाल

भाषालोचन : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

संस्कृति : इतिहास

माताभूमि : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : डॉ० रांगेय राघव

भारत का सांस्कृतिक विकास : शिवशेखर मिश्र

आदि भारत : अर्जुन चौबे कश्यप

पातञ्जलि योगदर्शन : हरिहरानन्द आरण्य

भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश

सार्थवाह : डॉ० मोतीचन्द्र

भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार

भारत का प्राचीन इतिहास : डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार

भारतीय शिक्षा : डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

शिल्पलोक : रामचन्द्र शुक्ल

कविता

विदेह : पोद्दार रामावतार अरुण

मर्म-स्पर्श : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

दिवालोक : शम्भूनाथ सिंह

मंगल-गीत : राजेन्द्र शर्मा

दीवान-गालिब : 'गालिब'

नज़ीर की बानी : 'फ़िराक' गोरखपुरी

राग-विराग : 'फ़िराक' गोरखपुरी

धरती की करवट : 'फ़िराक' गोरखपुरी

जंजीरें टूटती हैं : 'फ़िराक' गोरखपुरी

विनोद और व्यंग्य : 'अकबर' इलाहाबादी

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली—बम्बई

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश
डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

२० आलोचना

R
२८
दि
अंक-२०

...ी साहित्य का इतिहास : मध्ययुग	सम्पादकीय
...ी-साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्य-युग	डॉ० राजबली पाण्डेय
...ावादी काव्य-दृष्टि	डॉ० रामरतन भटनागर
...न्यास-कला का आभ्यन्तरिक प्रयाण	देवराज उपाध्याय
अंग्रेज़ी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी	यदुपति सहाय
वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन	आई० ए० एक्स्ट्रास
सन्तुलन का प्रश्न	सुमित्रानन्दन पन्त
कला, सौन्दर्य और संस्कृति	हंसकुमार तिवारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक २ पूर्णाङ्क १० जनवरी, १९५४

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ३)

सूची

▲सम्पादकीय

—हिन्दी-साहित्य का इतिहास : मध्ययुग --- १

▲निबन्ध

—हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्ययुग : डॉ० राजबली पाण्डेय --- ४

—छायावादी काव्यदृष्टि : डॉ० रामरतन भटनागर --- २३

—उपन्यास-कला का आभ्यन्तरिक प्रयाण : देवराज उपाध्याय --- ३१

—अंग्रेजी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी : यदुपति सहाय --- ४८

▲प्रस्तुत प्रश्न

—वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन : आई० ए० एक्स्ट्रास --- ५६

—सन्तुलन का प्रश्न : सुमित्रानन्दन पन्त : --- ७०

▲अनुशीलन

—भक्ति-भावना और रीतिकालीन कवि : डॉ राकेश गुप्त --- ७५

—स्त्रियों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण : डॉ हरदेव बाहरी --- ७६

▲मूल्यांकन

—कला, सौंदर्य और संस्कृति : हंसकुमार तिवारी --- ८९

—नैराश्य के पुजारी : श्रीपतराय --- ९९

जैनेन्द्र का सोच-विचार : नरोत्तम नागर --- १०२

—समीक्षा की समीक्षा : गजानन माधव मुक्तिबोध --- १०७

—खण्ड सत्य और निष्प्राण बीज : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय --- ११०

—'वेलि' का नया संस्करण : डॉ० टीकमसिंह तोमर --- ११३

—सात रेडियो एकांकी : जनार्दन मुक्तिदूत --- ११४

—सृष्टि का रथ : विष्णुस्वरूप --- ११७

—चाँदनी रात और अजगर : मार्कण्डेय --- ११८

—भारतीय सन्तों की वाणी : प्रभाकर माचवे --- १२१

▲परिचय --- १२५

▲प्रत्यालोचना --- १३३

▲प्राप्ति-स्वीकार --- १३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी
R
८४
वि ३७आ
४५,४६८

आलोचना

सम्पादकीय

हिन्दी-साहित्य का इतिहास : मध्ययुग

सामाजिक परम्परा के सन्दर्भ में सांस्कृतिक मूल्यांकन ही किसी कलाकृति की सौन्दर्य-शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक समीक्षा को वास्तविक आधार प्रदान करता है। किन्तु हिन्दी-साहित्य की समीक्षा में—चाहे वह सैद्धान्तिक हो अथवा व्याख्यात्मक—सबसे बड़ी त्रुटि यही रह गई है कि उसका याथातथ्य ऐतिहासिक मूल्यांकन नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहास लिखे गए, उनमें मध्ययुग के कवियों और काव्य-धाराओं के ऐतिहासिक विवेचन की प्रवृत्ति भी विकसित हुई, तथापि मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य का इतिहास जो यथार्थ में मध्ययुग के इतिहास का अभिन्न अंग कहा जा सके अब भी लिखा जाना शेष है। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों—तासी, सेंगर आदि—ने केवल संक्षिप्त विवरण और अधिक हुआ तो स्फुट उदाहरणों के साथ कवियों की सूचियाँ प्रस्तुत कर दी थीं। ग्रियर्सन, ग्रीव्स और के ने इतिहास का काल-विभाजन और उसके अन्तर्गत विविध प्रवृत्तियों का संकेत भी किया, किन्तु उनके पास साहित्य की सामग्री अधिक नहीं थी, इतिहास की सामग्री की ओर उनका ध्यान भी नहीं था और सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित और संकीर्ण था। साहित्य-सामग्री की दृष्टि से मिश्र-बन्धु का चार जिल्दों में विभाजित 'विनोद', अनेक नितान्त स्पष्ट चिन्त्य भूलों के बावजूद, पर्याप्त सम्पन्न था। उन्होंने इतिहास के काल-विभाजन में मौलिकता लाने की चेष्टा अवश्य की, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनमें साहित्य के समूहगत पर्यालोचन तथा किसी क्रम-व्यवस्था से उसके परीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण कर सकने का यथेष्ट वैज्ञानिक विवेक नहीं था। सामाजिक इतिहास की उपलब्ध सामग्री को साहित्य के इतिहास में नियोजित करने की चेतना का उनमें सर्वथा अभाव था।

आचार्य शुक्ल का 'इतिहास' हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन का प्रथम सीमा-चिह्न है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर काल-विभाजन, विभिन्न कालों का आकर्षक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामकरण, कवियों का वर्गीकरण और उनकी व्यक्तिगत समीक्षा में अन्तर्दृष्टि तथा साहित्यिक परम्पराओं के क्रम-विकास का निर्देश—इन अनेक नवीनताओं से समन्वित उनका ऐतिहासिक अध्ययन साहित्य-समीक्षकों के एक बड़े समूह का धर्म-शास्त्र रहा है। किन्तु जहाँ एक ओर शुक्लजी के इतिहास का व्यापक रूप में अनुकरण और अनुचरण हुआ, वहाँ दूसरी ओर यह अनुभव करने में भी देर न लगी कि इतिहास-लेखन की दृष्टि से यह अध्ययन निर्दोष नहीं है। व्यक्तिगत कवियों की सूक्ष्म और गम्भीर समीक्षा तथा उनकी रचनाओं से उत्तम उदाहरणों का संकलन अपने में उपयोगी और रोचक अवश्य है, किन्तु उनसे ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप में भारी बाधा पड़ती है। इतिहास-लेखन की यह शैली पुरानी थी। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने इस त्रुटि को तुरन्त समझ लिया और शुक्लजी के इतिहास-प्रकाशन के दूसरे ही वर्ष अपना 'हिन्दी भाषा और साहित्य' प्रस्तुत कर दिया जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप को उपर्युक्त बाधा से मुक्त किया और साथ ही शुक्लजी द्वारा निर्णीत साहित्यिक धाराओं के विकास-क्रम निर्देश में आदि, मध्य और आधुनिक के ऐतिहासिक काल-विभाजन की सीमाओं तक को मिटा दिया। साहित्य के इतिहास में हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक इतिहास को जोड़ना आचार्य श्यामसुन्दरदास की एक ऐसी मौलिकता थी जिसका औचित्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि भाषा के इस इतिहास में हिन्दी के अभ्युदय की ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों और कारणों का विवेचन होता, तब अवश्य साहित्य के इतिहास के साथ उसकी संगति मिल जाती। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में ललित कलाओं के इतिहास को भी सम्मिलित किया गया था। यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी, किन्तु इस इतिहास को साहित्य के इतिहास के साथ अविच्छिन्न और अविकल रूप से मिलाकर परखने की आवश्यकता थी। भाषा-शैली और समीक्षा-दृष्टि के महत्त्वपूर्ण अन्तरों के अतिरिक्त शेष बातों में शुक्लजी और श्यामसुन्दरदास जी के इतिहासों में कोई मौलिक अन्तर नहीं थे। किन्तु गम्भीरता और प्रतिभा-सम्पन्न अन्तर्दृष्टि से लिखे जाने के कारण आचार्य शुक्ल के ही 'इतिहास' के दोष भी अधिक देखे गए।

हिन्दी-साहित्य के और भी महत्त्वपूर्ण इतिहास प्रकाशित हुए। महाकवि हरिऔध के 'विकास', डाक्टर रामकुमार वर्मा के 'आलोचनात्मक इतिहास', डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री के 'विवेचनात्मक इतिहास' तथा कुछ अन्य ने भी अपनी-अपनी मौलिक विशेषताओं के लिए प्रसिद्धि और लोकप्रियता प्राप्त की। परन्तु इन सब में साहित्यिक सौन्दर्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति इतनी प्रधान थी कि उनके ऐतिहासिक पुनर्संगठन की थोड़ी-बहुत मौलिकता अथवा नवीनता की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। इस बीच हिन्दी-साहित्य में अनेक नवीन अनुसंधान हो चुके थे, नवीन सामग्री सम्मुख आई थी, पुरानी का परीक्षण-विश्लेषण हुआ था। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इस नवीन कार्य का भरपूर उपयोग किया और प्रारम्भ में जो छोटी-मोटी-भ्रान्तियां रह गई थीं उन्हें भी द्वितीय संस्करण में सुधार लिया। 'आलोचनात्मक इतिहास' साहित्य की प्रचुर सामग्री एक स्थान पर सँजोकर आलोचना और इतिहास दोनों क्षेत्रों के विद्यार्थी की सहायता करता रहा है। इस इतिहास में 'चारणकाल' के अंतर्गत महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा किये गए अनुसंधानों का प्रचुर प्रयोग किया गया था तथा अपभ्रंश के सिद्ध और जैन साहित्य को भी हिन्दी में शामिल कर लिया गया था। स्वयं राहुलजी ने अपनी 'काव्य धारा' में अपभ्रंश के कवियों की ऐतिहासिक समीक्षा में आर्थिक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों को नियोजित करके एक व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप का परिचय दिया। उन्होंने भाषा-परिवर्तन के सामाजिक कारणों को भी उद्घाटन करने की चेष्टा की। परन्तु राहुलजी की ऐतिहासिक दृष्टि में निष्कर्ष और निर्णय तथ्य और वस्त्वाधार के पहले आ जाते हैं, अतः वे इतिहास और साहित्य की सामग्री का संकलन अपने उद्देश्य की ही दृष्टि से करते हैं। फलस्वरूप ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप की व्यापकता उद्देश्य की संकीर्णता में विलीन हो जाती है।

आज से चौदह वर्ष पूर्व आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' लिखकर साहित्यिक इतिहास की एक नवीन दिशा का संकेत किया और उसमें इस आदर्श की पूर्ति का प्रयत्न किया कि 'प्रत्येक देश का साहित्य, समाज, संस्कृति और चिंतन, एक अविच्छिन्न विचार-परम्परा का और उसमें होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिबिम्ब हुआ करता है जिसे गति देने में भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, और वैयक्तिक कारण काफ़ी हिस्सा लेते हैं।' यह सही है कि 'भूमिका' इस आदर्श की आंशिक पूर्ति ही कर सकी; उसमें प्राचीन परंपरा का दिग्दर्शन ही अधिक हुआ, उसे गति देने वाले उपर्युक्त कारणों का पर्यवेक्षण और विश्लेषण कदाचित् काफ़ी न हो सका। इस महत्त्व-पूर्ण कृति ने शुक्लजी के 'इतिहास' की उन त्रुटियों की ओर भी संकेत किया जिन्हें अन्य विद्वान् भी अनुभव करते आ रहे थे। 'भूमिका' के आधार पर हिन्दी-साहित्य के वास्तविक इतिहास की आशा बँधी थी। अब द्विवेदीजी के 'आदिकाल' तथा 'हिन्दी-साहित्य' के प्रकाशन से प्रतीक्षा की अवधि समाप्त हुई है। शुक्लजी के 'इतिहास' की अनेक त्रुटियों को द्विवेदीजी ने स्पष्ट रूप में इंगित किया है। काल-विभाजन, कालों के नामकरण, महान् कवियों और प्रवृत्तियों के मूल्यांकन तथा प्राचीन परम्पराओं एवं तत्कालीन सामाजिक और वैयक्तिक परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के इतिहास का विन्यास, अनेक बातों में द्विवेदीजी ने शुक्लजी से मतभेद प्रकट किया है तथा इतिहास-लेखन के आदर्श को आगे बढ़ाया है। उनके निष्कर्षों और तर्कों के पीछे नवीन सामग्री के अनुसंधान, पुरानी सामग्री के पुनर्मूल्यांकन तथा साहित्य-समीक्षा की अधिक व्यापक और उदार अंतर्दृष्टि है। साहित्य के इतिहास और समीक्षा के क्षेत्र में सम्भवतः आचार्य द्विवेदी का कार्य द्वितीय सीमा-चिह्न कहा जायगा। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'हिन्दी-साहित्य' में साहित्य-सामग्री के संकलन, वर्गीकरण और उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने में वह सतर्कता और संतुलन नहीं दिखाई देता जिसकी आशा की जा सकती थी। राहुलजी की भाँति निर्णय देने में वह भी कभी-कभी जल्दबाजी कर सकते हैं और जिस प्रकार राहुलजी का निश्चित उद्देश्य उनसे तथ्य की उपेक्षा करा सकता है, उसी प्रकार द्विवेदीजी का उत्साह उनसे तर्क की भ्रांति। किन्तु 'हिन्दी-साहित्य' की आलोचना के लिए अभी बहुत समय बाकी है।

अस्तु, मन्तव्य यह है कि हिन्दी-साहित्य के जितने इतिहास लिखे गए, विभिन्न धाराओं और व्यक्तिगत कवियों के जो अध्ययन प्रस्तुत किये गए, उनके बावजूद यह एक अप्रिय और कठोर सत्य है कि हिन्दी के पुराने साहित्य को, जिसे हम मध्य-युग का साहित्य कहते हैं, यथा-तथ्य ऐतिहासिक व्याख्या नहीं हुई।

इसके लिए साहित्य और इतिहास के सम्मिलित अध्ययन की आवश्यकता है। जहाँ तक साहित्यिक अनुसंधान का सम्बन्ध है, कुछ कवियों और काव्य-धाराओं के एकात्मक, विश्लेषणात्मक और विशिष्ट अध्ययन अवश्य किये गए। किन्तु मध्य-युग के साहित्य की अपार सामग्री अब भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अँधेरे और अज्ञात कोठों में पड़ी कीड़ों-मकौड़ों का शिकार बन रही है, थोड़ी-बहुत ज्ञात सामग्री संग्रहालयों और भण्डारों में बन्द उद्धार की प्रतीक्षा में है, और जो-कुछ प्रकाश में आई है, उसमें बहुत कम ऐसी है जिसका प्रामाणिक सम्पादन और पाठालोचन हुआ हो। इस स्थिति में साहित्य के इतिहासों में चन्द, कबीर, सूर, मीरां तथा अगणित अन्यान्य कवियों के सम्बन्ध में परम्परा से उन बातों को दुहराया जा रहा है जिनकी यथार्थता की परीक्षा हुई ही नहीं। और साहित्य के इतिहास को भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में उपस्थित करने की चेष्टा तो और भी कम हुई। ऐतिहासिक समीक्षण तभी पूर्ण हो सकता है जब हम कवियों के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व के अधिकाधिक अनुसंधान, उनकी प्रामाणिकता की स्थापना तथा उनके वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता की अपेक्षा तत्कालीन समाज की सर्वांगीण परिस्थिति में अंगांगी रूप से साहित्य तथा अन्यान्य कलाकृतियों को विन्यस्त करने और इस प्रकार युग के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को पुनर्निर्मित करके उपस्थित करने की आवश्यकता का महत्त्व कम न समझें। निःसन्देह यह कठिन कार्य साहित्यिकों और इतिहासकारों के सम्मिलित उद्योग से ही हो सकता है। जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड में विगत शताब्दी से ही साहित्य के अध्ययन द्वारा इतिहास-लेखन में एक सर्वथा नई पद्धति अपनाई जाने लगी थी। किन्तु भारतीय मध्य-युग के इतिहासकारों ने हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों की प्रायः उपेक्षा ही की है।

भारतीय इतिहास के मध्ययुग (आठवीं से उन्नीसवीं शताब्दी) के लगभग बारह सौ वर्षों के दीर्घ काल-विस्तार में राजनीति, समाज, धर्म और संस्कृति में इतने महान् परिवर्तन और उत्थान-पतन हुए कि उन सब का एक साथ विचार कर सकना भी सम्भव नहीं है। आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के पूर्व मध्ययुग की विशृंखल सामंती व्यवस्था—अथवा अव्यवस्था—के काल में धर्म और समाज के क्षेत्र में भी विघटन, विभाजन, आंतरिक संघर्ष और असामाजिकता का क्रम तेजी से क्रियाशील हो रहा था। इस काल का सांस्कृतिक अधःपतन उन वामाचार-पूर्ण गुह्य तान्त्रिक क्रियाओं में देखा जा सकता है जिन्होंने बौद्ध और वैदिक दोनों धर्मों को आच्छन्न कर लिया था। इन पाँच सौ वर्षों की लम्बी अवधि तक भारत बाह्य संसार से प्रायः पूर्णतया विच्छिन्न रहा। बाह्य संकटों से सुरक्षा की भावना ने निःसन्देह भारतीयों में कूप-मण्डूकता, कलहशीलता, अहम्मन्यता और आत्म-तुष्टि की भावना को प्रोत्साहन दिया होगा, जैसा कि अलबेरूनी ने लिखा है कि भारतीयों को अपने देश के अलावा किसी दूसरे देश के अस्तित्व का ज्ञान नहीं है तथा वे अपने धर्म के समान किसी धर्म को नहीं मानते। किन्तु इस काल के इतिहास को जानने की सामग्री बहुत कम है। भारत में इतिहास-लेखन की प्रणाली सर्वथा भिन्न थी। इतिहासकारों ने उस सामग्री को जो पुराणों से प्राप्त हो सकती है समुचित उपयोग नहीं किया और न वे तत्कालीन साहित्य, संगीत, मूर्ति, स्थापत्य आदि कला-कृतियों का सामाजिक इतिहास के साथ संयुक्त करके समग्रीकृत अध्ययन ही संतोषजनक रूप में कर सके। यही वह काल है जिसमें संस्कृत भाषा और साहित्य—अपनी कृत्रिमता, आडम्बरप्रियता, पंडिताऊपन तथा पंडितों द्वारा एकाधिकृत हो जाने के कारण—संभवतः जन-समाज से पूर्णतया विच्छिन्न हो गए थे और वे परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं जिनमें जन-भाषा उत्तरोत्तर विकास करके संस्कृत का स्थान लेने की तैयारी कर रही थी। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए इस काल का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसी समय उस सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना की तात्कालिक भूमिका तैयार हुई जिसका प्रतिफलन आगे भक्ति-आंदोलन में हुआ। किन्तु शुक्लजी ने केवल 'अपभ्रंश काल' के नाम से कुछ सिद्ध और जैन कवियों के नामों और स्फुट उदाहरणों के उल्लेख-मात्र कर दिए हैं। राहुल जी ने अपने दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर ही सामाजिक समीक्षा की है और इसे 'सिद्ध-सामन्त काल' का नाम दिया है। द्विवेदीजी ने भी यही नाम स्वीकार किया, परन्तु वे राहुलजी की एकांगी स्थापनाओं से कहाँ तक सहमत हो सकते हैं, यह स्पष्ट नहीं हो सका। द्विवेदीजी ने सिद्ध और नाथ साधनाओं का गहरा अध्ययन किया है, किन्तु उनके भी अपने मोह और अभिनिवेश हैं, जिनका संतुलित ऐतिहासिक विवेचन पर प्रभाव पड़ता है।

बारहवीं शताब्दी में ही लगभग समस्त उत्तर भारत मुस्लिम विजेताओं के अधिकार में आ गया था और पुनः केन्द्रीय सत्ता के भारतव्यापी अधिकार-विस्तार के प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे। किन्तु इसके क्रम में कितना नरसंहार, कला और संस्कृति की अपार सामग्री का विध्वंस तथा धन-संपत्ति का भीषण विनाश हुआ इसका अनुमान कर सकना भी सम्भव नहीं है। पहले कठोर मुस्लिम सैनिक शासन और फिर शिष्ट प्रशासन-व्यवस्था में प्रयत्नशील मुग़ल साम्राज्यशाही का यह मध्य-मध्ययुग अनेक राजनीतिक संघर्षों और उत्थान-पतन के साथ सत्रहवीं शताब्दी तक रहा। किन्तु भारत के राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस का यह काल ही विलक्षण रूप से उस नवीन चेतना और सांस्कृतिक नवनिर्माण का काल है जिसमें भक्ति आन्दोलन ने समस्त उत्तर-भारत की आध्यात्मिक एकता, सामाजिक भावना और जीवन की सोद्देश्यता के नये मूल्य प्रदान किये थे। आगे चलकर जब चेतना की लहर मन्द पड़ गई तथा भावना रूढ़िग्रस्त और जड़ होने लगी, तब निर्माण की शक्तियाँ भी क्षीण हो गईं। वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर-मध्य से ही पुनः राजनीतिक विघटन, सामाजिक अव्यवस्था और सांस्कृतिक ह्रास के उत्तर-मध्य युग का क्रम प्रारम्भ हो गया जो अठारहवीं शताब्दी तक चरम सीमा को पहुँच गया। इतिहासकारों ने इन दोनों मध्य मध्य और उत्तर-मध्य युगों के अध्ययन में सबसे अधिक उपयोग मुस्लिम इतिहासकारों का ही किया है, जो स्वयं अपने-अपने पूर्वग्रहों से ग्रस्त थे। भारतीय भाषाओं के साहित्यों की तो उपेक्षा की ही गई, फ़ारसी साहित्य का भी ऐतिहासिक अध्ययन नहीं हुआ। वस्तुतः समस्त कलाकृतियों के समग्र रूप में अध्ययन के द्वारा ही समाज और संस्कृति-सम्बन्धी उन अनेक असंगतियों और अन्तर्विरोधों को सुलझाया जा सकता था जो हमारे साहित्य के इतिहासकारों के लिए एक विचित्र पहेली बन गई हैं। इतिहास और संस्कृति की सामग्री के पूर्ण और समन्वित अध्ययन के अभाव में ही अपनी-अपनी रुचि और दृष्टिकोणों का आसानी से आरोप करके साहित्य के इतिहास को विकृत किया गया है। किस प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में उस काल के मनुष्य का आदर्श साधक कवि के रूप में मूर्तिमान हुआ और उसने एक नई भाषा को जन-मुख से उठाकर नवीन जीवन्त भावना से अनुप्राणित कर दिया तथा सर्वथा नये प्रकार की साहित्य-सृष्टि कर डाली, इसकी जिज्ञासा अब भी ज्यों-की-त्यों बनी है।

निःसन्देह मध्ययुग के इतिहासकारों ने कला और साहित्य का इतिहास-निर्माण में समुचित उपयोग नहीं किया। परन्तु साहित्य के इतिहासकारों ने इतिहास की उपलब्ध सामग्री की और भी अधिक उपेक्षा की है। उन्होंने साहित्य को शीर्ष स्थान पर रखकर अपनी रुचि, योग्यता अथवा साहित्य-बाह्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्यों के अनुकूल सामाजिक निष्कर्ष निकाल कर, विच्छिन्न रूप से ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा उनकी पुष्टि कर दी और इसी को 'साहित्य का इतिहास' नाम से चलता कर दिया। एक ओर साहित्य को समाज का प्रतिबिंब कहा जाता है और दूसरी ओर साहित्य के इतिहास को समाज के रंगमंच का एक अभिनेता-मात्र कहकर इतिहास का केवल पृष्ठभूमि के रूप में और वह भी अपनी रुचि के अनुसार, उपयोग किया जाता है। परिणाम यह होता है कि ऐतिहासिक तिथियों, नामों और घटनाओं के साथ साहित्य-कृतियों का मनमाना सम्बन्ध जुड़ जाता है और दोनों में कारण और कार्य का नाता कल्पित कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए राजनीतिक इतिहास की पुस्तकों से यह जानकर कि बारहवीं शताब्दी में महमूद गज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी के नेतृत्व में मुसलमानों ने भारत पर अनेक आक्रमण किये थे, यह कल्पना कर ली जाती है कि ऐसे वातावरण में जनता वीरता की भावना से अनुप्राणित हो गई होगी और मुस्लिम संघर्ष के फलस्वरूप कवियों ने उत्साह-वर्धक वीर रसात्मक रचनाएँ की होंगी। प्रायः साहित्य के वास्तविक अध्ययन से पुष्ट किये बिना ही ऐसे प्रवाद व्यापक रूप में प्रचलित हो जाते हैं। इसी प्रकार आक्रमणकारी मुस्लिम विजेताओं के अत्याचारों के संयोग के आधार पर समस्त भक्ति-साहित्य को निराशाजन्य पलायनवादी साहित्य समझ लिया जाता है। अथवा भक्ति के परवर्ती शृङ्गारी साहित्य को मनःकल्पित विलासी वातावरण का परिणाम मान लिया जाता है। पृष्ठभूमि के रूप में इतिहास-प्रयोग के इन उदाहरणों में किंचित् अतिरंजना भले ही दिखाई दे, किन्तु ऐसी अतिरंजना आचार्यों के प्रामाणिक इतिहासों के सूत्र-रूप कथनों के आधार पर अनुचर इतिहास-कारों ने वास्तव में की है। दूसरी ओर, प्राचीन परम्परा के ज्ञान और अनुराग में अभिनिविष्ट इतिहासकार 'साहित्य की विविध' धाराओं की शृंखला दूरातिदूर अतीत तक ढूँढ़ने में इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि उनके सम्मुख तत्कालीन इसिहास की ज्वलन्त घटनाओं का कोई मूल्य नहीं रहता। भक्ति-साहित्य के उद्गम-स्रोत 'भागवत', नारद और शांडिल्य के सूत्रों, ब्रह्मसूत्र की भक्तिपरक व्याख्याओं, पुराणों, 'भगवद्गीता', 'महाभारत' और वेदों तक तो ढूंढ़े जाते हैं, किन्तु जिन सामयिक परिस्थितियों में उस साहित्य की रचना हुई उनका अन्वेषण-अध्ययन थोड़े-से चलताऊ प्रवादों को दुहरा देने में ही सीमित रह जाता है।

साहित्यिक इतिहास के इन असत्य और अर्द्ध-सत्य निष्कर्षों और निर्णयों के उत्तर-दायित्व से साहित्य का इतिहासकार और समीक्षक बच नहीं सकता। ऐतिहासिक तथ्यों की खोज, उनके सम्यक् अनुशीलन तथा साहित्य और अन्य कला-कृतियों के साथ उन्हें सम्बद्ध करके तत्कालीन जीवन के पुनर्निर्माण के बिना न तो वास्तव में सामान्य इतिहास की रचना हो सकती है और न साहित्य के इतिहास की। साहित्य और इतिहास में अभिन्नता और अन्योन्य सम्बन्ध है। मनुष्य की समस्त कलाकृतियाँ सामान्य रूप में तथा साहित्य विशेष रूप में व्यक्ति और समाज का आन्तरिक इतिहास निर्मित करते हैं और आन्तरिक व्यक्ति और समाज की ही स्थूल अभिव्यक्ति उसकी विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा सभ्यता के अन्य उपकरणों के रूप में होती है। मानव-जीवन के जिस इतिहास में युग-जीवन को पुनर्निर्मित करने की चेष्टा नहीं की जाती वह नामों, तिथियों और घटनाओं के समूह से अधिक और क्या है? और, ऐसे इतिहास को साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित करना तो और भी अनर्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

डॉक्टर राजबली पाण्डेय

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्य युग

: १ :

विश्व के इतिहास का मध्य युग सातवीं-आठवीं शती से प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहास में भी मध्य युग के लक्षण सातवीं शती के मध्य से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। इसलिए ऐतिहासिकों ने सुविधा के लिए ६५०—१२०० ई० के काल को पूर्व-मध्य युग और १२००—१७०० ई० के काल को उत्तर-मध्य युग माना है। परन्तु मध्य युग की कल्पना केवल तिथि-क्रम के ऊपर अवलम्बित नहीं है; उस युग की प्रमुख राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों के कारण उसे मध्य युग कहते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन एक विचित्र प्रकार से किया जाता है। हिन्दी-जैसी लोक-भाषाओं का उदय स्वयं मध्य युग की एक प्रक्रिया है। भारत में मध्य युग सोलहवीं शती के बाद भी प्रलम्बित रूप से बना रहता है, क्योंकि भारत पर बर्बर आक्रमणों ने देश में अन्धयुगीन अवस्था उत्पन्न कर दी और वैज्ञानिक तथा सामाजिक क्रान्ति के अभाव में प्रायः १८५७ ई० तक मध्य युग का ही प्रभाव रहा। इस प्रकार हिन्दी का अपभ्रंश-काल, वीर-गाथा-काल, भक्ति-काल तथा रीति-काल सभी मध्य युग के अन्तर्गत आ जाते हैं और हिन्दी के मोटे तौर पर दो ही काल हो सकते हैं—मध्य युग और आधुनिक युग।

पुष्यभूति (वर्द्धन) साम्राज्य के पतन के बाद सम्पूर्ण उत्तर भारत प्रान्तीय और वंशगत राज्यों में बट गया था। बारहवीं शती तक ये राज्य बराबर आपस में लड़ते रहे। परस्पर ध्वंसकारी युद्धों में शूरता-प्रदर्शन ही इनका आदर्श था और एक-दूसरे की सम्पत्ति तथा कन्याओं का अपहरण ही राजाओं का पुरुषार्थ। जनता के राजनीतिक जीवन का आन्तरिक सन्तुलन भी नष्ट हो चुका था। प्राचीन भारत में राजतन्त्र और गणतन्त्र एक-दूसरे के ऊपर नियन्त्रण रखते थे, जिससे जनता में सार्वजनिक राजनीतिक चेतना बनी रहती थी और वह राज्य के उत्थान और पतन में उसके साथ समवेदना रखती थी। गुप्त-सम्राटों ने गणों का विनाश किया। उसके बाद राजतन्त्र क्रमशः अप्रतिबन्ध होते गए और पूर्व-मध्य काल में वे प्रायः बिलकुल निरंकुश हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अथवा व्यक्ति-सम्मान, देश-भक्ति और राजनीतिक जागरूकता के स्थान पर राज-भक्ति, आत्म-समर्पण और राजनीतिक उदासीनता ने जनता में घर कर लिया। प्रान्तीय और वंशगत राज्यों की संघटना भी सामन्तवादी थी। छोटे-छोटे राज्य कई छोटे-छोटे उपराज्यों में बटे हुए थे। जनता की भक्ति अपने मण्डल और स्थानीय सामन्त के प्रति होती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण राज्य की उनके मन और भावना में कोई कल्पना नहीं थी। इस परिस्थिति में इस काल के प्रशस्तिकारों और कवियों के सामने कोई अखिलदेशीय और राष्ट्रीय कल्पना नहीं थी। वे स्थानीय राज्यों और राजाओं के गुण-गान करने में ही अपनी प्रतिभा की सफलता मानते थे अथवा सामन्ती ठाठ-बाट और विलासिता का चित्रण करने में आनन्द लेते थे। लगभग पाँच सौ वर्षों के लम्बे काल में केवल कान्य-कुब्ज के यशोवर्मन के राजकवि भवभूति ने और प्रतिहार-वंश के कुलगुरु राजशेखर ने 'रामायण' और 'महाभारत' के राजनीतिक आदर्शों का स्मरण अपने 'महावीर चरित' तथा 'उत्तररामचरित' और 'बाल भारत' तथा 'बाल रामायण' में दिलाया। अधिकांश कवि और लेखक अपने प्रश्रयदाता राजाओं के जीवन-चरित्र में उनके यश ही गाते रहे। इस मध्ययुगीन परम्परा को बाणभट्ट ने प्रारम्भ किया। बाणभट्ट का 'हर्षचरित', वाक्पतिराज का प्राकृत-काव्य 'गौडवहो', परिमल गुप्त का 'नवसाहसाङ्क चरित', बिल्हण का 'विक्रमाङ्क देव चरित', सन्ध्याकर नन्दी का 'रामचरित', हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित' तथा 'प्राकृत द्वयाश्रय काव्य', जयानक का 'पृथ्वीराज विजय', सोमेश्वर की 'कीर्ति-कौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्त्तन', जयसिंह का 'हम्मीरमद मर्दन', मेरुतुङ्ग का 'प्रबन्ध चिन्तामणि', नयचन्द्र सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य', जयसिंह सूरि का 'वस्तुपाल चरित', आनन्द भट्ट का 'बल्लाल चरित' तथा गंगाधर पण्डित का 'मण्डलीक महाकाव्य' आदि काव्य संस्कृत और प्राकृत में राजाओं की यश-गाथाओं के रूप में लिखे गए। इसी परम्परा के अनुकरण में हिन्दी के उदय काल के कवियों ने वीर-गाथा और वीर-गीति-शैली के अनेक रासों का निर्माण किया। इन हिन्दी के कवियों के सामने दो प्रकार के राजनीतिक दृश्य थे। एक तो भारतीय राज्यों का परस्पर युद्ध और दूसरे भारतीय राज्यों का अरबों, तुर्कों और पठानों से युद्ध। दोनों प्रकार के युद्धों में शूरता-प्रदर्शन का काफ़ी अवसर था और कवियों के लिए पर्याप्त सामग्री। इन काव्यों का मुख्य विषय थे—प्रेम और युद्ध तथा उनके स्थायी भाव थे शृङ्गार और वीर।

बारहवीं शताब्दी के अन्त में दिल्ली और कन्नौज के हिन्दू-साम्राज्यों के नष्ट हो जाने के बाद यद्यपि ठेठ उत्तर भारत में मुसलिम सत्ता का प्रतिरोध बड़े पैमाने पर बन्द हो गया तथापि राजस्थान, मध्य भारत, गुजरात और उड़ीसा के भारतीय राज-वंश बराबर मुसलमानों का विरोध करते रहे। इस्लाम की राजनीतिक शक्ति और धर्म का जितना विरोध भारत में हुआ उतना अफ्रीका और एशिया महाद्वीप के किसी देश में नहीं। प्रान्तीय और वंशगत राज्यों ने परस्पर युद्धों और सामूहिक भावना के अभाव से मुसलमानों को भारत में घुस आने का अवसर तो दिया परन्तु उनमें वंशगत अभिमान और स्वार्थ के साथ देश, धर्म और जाति की भावना (कम-से-कम विदेशियों के सामने) अवश्य थी और उनमें व्यक्तिगत शूरता और कष्ट-सहन की योग्यता की कमी न थी। अतः वे सोलहवीं शती के मध्य तक बराबर मुसलिम राज्यों से संघर्ष करते रहे। इस प्रकार विरोध का क्षेत्र कम हो जाने पर भी जनता की मानसिक स्थिति इस काल में वही रही, जो दशवीं शती से बारहवीं शती तक थी। राजस्थान और गुजरात के बहुत-से रासो इसी काल में लिखे गए और पहले के लिखे हुए परिवर्द्धित हुए।

सोलहवीं शती के मध्य में मुगल-साम्राज्य के स्थापित हो जाने पर भी हिन्दुओं की ओर से विरोध और संघर्ष बन्द न हुआ। मेवाड़ के राजा संग्रामसिंह ने फिर एक बार हिन्दुओं की राजनीतिक शक्ति का संघटन किया और अपनी राजनीतिक कुशलता से मुगलों के विरुद्ध पठानों को भी अपनी ओर मिला लिया। पानीपत के द्वितीय युद्ध में भारत के अन्तिम नरेश विक्रमादित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेमचन्द्र (हेमू) ने फिर मुगलों का विरोध किया। यद्यपि मुगलों का साम्राज्य पहले के मुसलिम राज्य से विस्तृत था, फिर भी साम्राज्य-विस्तार तथा प्रतिरोध और विद्रोह को दबाने के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध जारी रखना पड़ा। इसके कारण औरंगजेब के समय तक मुगलों की शक्ति शिथिल और हिन्दुओं के राजनीतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। इस काल की राजनीतिक घटनाओं ने हिन्दू जनता के हृदय को दो प्रकार से स्पर्श किया। जिन राज्यों और व्यक्तियों ने मुगल सत्ता के सामने समर्पण किया उनको तो आत्म-ग्लानि और भर्त्सना ही मिली। जिन्होंने उसका विरोध किया वे ही जनता के हृदय-सम्राट् और आदर्श थे। राणा प्रताप, शिवाजी, दुर्गादास, राजसिंह, सिख गुरु, विद्रोही मराठे और जाट—ये ही जनता के हृदय को स्पर्श कर सके। हिन्दी-साहित्यकारों की यही राजनीतिक पृष्ठभूमि थी। वे विदेशी सत्ता के अन्त और हिन्दुओं के पुनः एक सुव्यवस्थित साम्राज्य का स्वप्न देख रहे थे।

हिन्दी-साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने, सम्भवतः फर्कुहर और मैकनिकॅल आदि के विचारों से प्रभावित होकर भक्ति-साहित्य के उदय पर लिखते हुए उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थिति की गलत व्याख्या की है। आचार्य शुक्ल जी अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं :

"इतने बड़े राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू-जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[१]

किन्तु वास्तव में मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन उत्तर भारत में न प्रारम्भ होकर सुदूर दक्षिण में शुरू हुआ था; राजनीतिक पराधीनता से प्रभावित होकर नहीं, किन्तु वहाँ की शुद्ध वैष्णव-परम्परा में धार्मिक धारा के रूप में। इस नव-जाग्रत वैष्णव-धर्म ने उत्तर भारत की राजनीति को प्रभावित किया। यद्यपि उत्तर भारत में हिन्दू राज-वंश तो तेरहवीं शती के प्रारम्भ में ही समाप्त हो गए थे तथापि ऐसे छोटे-छोटे जमींदार बने रहे, जिनके पास सैनिक शक्ति भी थी और वे बराबर मुसलिम सत्ता से विद्रोह करते रहे। जहाँ तक जनता का प्रश्न है, (विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में) धार्मिक दृष्टि से इस्लाम से उसने कभी हार न मानी। उसके बहुत-से मन्दिर तोड़े गए, किन्तु उसने बराबर नये मन्दिरों का निर्माण किया और अपनी धार्मिक चेतना बनाये रखी। राजनीतिक आदर्श और आशा भी कभी लुप्त नहीं हुई। राणा संग्रामसिंह और हेमचन्द्र (हेमू) के बाद भी जब अकबर का प्रबल प्रताप चारों ओर फैल रहा था तब रानी दुर्गावती तथा राणा प्रताप आदि ने स्वतन्त्रता की आग बुझने नहीं दी। असफलताएँ हुईं, किन्तु निराशा ने भारतीय जनता को कभी आक्रान्त नहीं किया। इस काल के निर्गुणी भक्त (नानक, कबीर तथा दादू आदि) प्राचीन वेदान्त, योग, ज्ञानाश्रयी भक्ति आदि परम्परा की उपज थे, यद्यपि उन पर सूफ़ी मत का पुट कुछ चढ़ गया था। ये व्यक्तिवादी मस्त सन्त थे, राजनीति से इनको कोई मतलब न था। नव-जाग्रत वैष्णव-धर्म लोक-संग्रही था, जिसके उन्नायक इस युग में रामानन्द और तुलसीदास हुए। इन वैष्णव भक्तों की प्रपत्ति, दैन्य और दास्य भगवान् के सामने थे, जिसमें सभी ऐश्वर्यों की भावना पुञ्जीभूत होती है; मनुष्य के सामने (जिनमें मुगल-सम्राट् भी सम्मिलित थे) इन्होंने मस्तक नहीं नत किया। 'वीर-गाथा' और 'रासो' की अल्पता को वे समझते थे, क्योंकि

१. **पूर्व-मध्य काल, प्रकरण १, पृ० ६०।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके पहले के राज-वंश और योद्धा भी व्यक्तिवादी थे, जिनकी शूरता के होते हुए भी देश का विशृङ्खलन और पतन हुआ। तुलसीदास तो अपने 'कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछुताना।' में स्पष्ट इस ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार 'कलपहिं पन्थ अनेक' में निर्गुणियों के ऊपर व्यंग्य है। उनकी 'रामायण' में भक्ति की प्रधानता होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय लोक-मर्यादा और लोक-संग्रह है। अन्याय के दमन और राम-राज्य की स्थापना के लिए सामूहिक चेतना, शौर्य, संगठन-शक्ति और नीतिमत्ता की आवश्यकता होती है, जिनकी प्रतिध्वनि 'रामायण' में पद-पद पर मिलती है। महाराष्ट्र के सन्त समर्थ गुरु रामदास का 'दास बोध' तो राजनीतिक दृष्टि से पतित जाति को उठाने का अमोघ मन्त्र था। लोक-संग्रही विष्णु की कल्पना में उदासी और निराशा का कहीं नाम भी नहीं है। इस प्रकार सगुण-भक्ति-आन्दोलन का सम्बन्ध उस राजनीतिक प्रक्रिया से है जिसने भारत में मुगल-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। मध्य युग तक संसार की सबसे प्रबल भावना और प्रेरक-शक्ति धर्म था, वह राजनीति और साहित्य सभी को प्रभावित करता था।

सत्रहवीं शताब्दी के बाद से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक राजनीतिक परिस्थिति को हम मुगलों का ह्रास, नवाबी का उदय, हिन्दू-राजनीतिक शक्तियों का पुनरुत्थान और यूरोपीयों का आगमन कह सकते हैं। प्रथम दो राजनीतिक शक्तियाँ पतनोन्मुख थीं। उन्होंने अति भोग और विलासिता को जन्म दिया। उनके प्रभाव से साहित्य भी विलास की सामग्री बन गया। उसमें प्रेम, शृङ्गार और आमोद-प्रमोद की प्रधानता हुई। जीवन के राजनीतिक संकोच, धार्मिक शैथिल्य और भोग-विलास के आधिक्य ने रीति-काल की कविता को जन्म दिया। पुनरुत्थानी राजनीतिक वातावरण में वीर-रस की कविताएँ होती थीं, जो शृङ्गार की पूरक मानी जाती थीं। भारत में यूरोपीय जातियों ने अपनी अर्थ-नीति और कूट-नीति की प्रधानता के कारण अपने जीवन से काव्य को कोई प्रेरणा न दी।

समाज-संगठन का सैद्धान्तिक आधार अब भी वर्णाश्रम-व्यवस्था थी, जैसा कि इस काल में लिखित 'स्मृतियों' से प्रकट होता है; परन्तु वर्ण के रूप में कई दूर-व्यापी परिवर्तन हुए। एक तो अब वर्णों का उत्कर्ष अर्थात् निम्न वर्णों से उच्च वर्णों में जाने का मार्ग बन्द हो गया; अपकर्ष अर्थात् ऊपर से नीचे उतरने का मार्ग खुला रहा, यद्यपि इस प्रवृत्ति के भी कुछ अपवाद पाये जाते हैं। जाति ने वर्ण पर विजय प्राप्त कर ली। जाति-प्रथा का विस्तार और प्रसार बहुत जोरों से होने लगा। वैश्य वर्ण की बहुत-सी जातियाँ (जो कृषि, गो-रक्षा तथा शिल्पादि का काम करती थीं) जैन-वैष्णव-आचार के कारण और व्यवसाय में सत्यानृत (सच और झूठ) के भेद के कारण वैश्य-वर्ण से गिरकर शूद्रों में गिनी जाने लगीं। इसी प्रकार बहुत-से वर्ण-च्युत और जाति-च्युत लोग शूद्रों में शामिल होने लगे। परन्तु 'शूद्र' के अर्थ में भी परिवर्तन हुआ। अब शूद्र केवल पारिवारिक दास या खेतिहर श्रमिक नहीं था। वह कोई भी आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था कर सकता था; शूद्र शब्द का केवल लांछन-मात्र उसके ऊपर लग जाता था। अतिशूद्रों और अन्त्यजों की अवस्था कुछ भिन्न अवश्य थी। अभी वे समाज के छोर पर ही पड़े हुए थे और सवर्ण समाज उनके साथ वर्जनशीलता का व्यवहार करता था। इसी युग में वर्णों और जातियों की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटीं, कुछ व्यवसाय, कुछ आचार, कुछ सम्प्रदाय, कुछ अन्तर्जातीय विवाह, कुछ नई प्रथाओं को लेकर। इस काल की 'स्मृतियाँ' सामाजिक नियमों और उपनियमों का विस्तार के साथ विधान करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और समाज की प्रत्येक इकाई को उसकी सीमा के भीतर कसकर रखना चाहती हैं। भाष्यकारों और निबन्धकारों ने इस बन्धन को और भी दृढ़ किया। मुसलिम आक्रमण के बाद रक्षात्मक शुद्धि और वर्जनशीलता के कारण सामाजिक प्रतिबन्ध और भी कड़े होते गए तथा सामाजिक जीवन में वर्ग-वर्ग और व्यक्ति-व्यक्ति का भेद बढ़ता गया। परन्तु यह सारा भेद भारतीय समाज का आन्तरिक था। इसके ऊपर एक भारतीय सामाजिकता थी और उस समाज की एक केन्द्रीय कल्पना थी। ऊँच-नीच-भेद-भाव होते हुए भी उसके बहुसंख्यक सदस्य उसे स्वीकार करके चलते थे; जो उससे असन्तुष्ट थे वे उसकी आलोचना करके भी उसके बाहर नहीं जाते थे। इस्लाम के आने के बाद इस परिस्थिति में परिवर्तन हुआ। इस्लामी सामाजिक व्यवस्था भिन्न थी। उसमें विभिन्न जातिगत भावना होते हुए भी खान-पान, विवाह-शादी तथा पूजा-पाठ का भेद-भाव नहीं के बराबर था। हिन्दू-समाज के असन्तुष्ट व्यक्तियों के बाहर जाने का रास्ता इस्लाम ने खोल दिया, यद्यपि अधिकांश नवमुसलिम दबाव अथवा प्रलोभन से मुसलमान हुए थे। इसका फल यह हुआ कि सामाजिक नियमों की व्यक्तिगत अवहेलना और समालोचना पहले से अधिक बढ़ गई।

यद्यपि मीमांसक अथवा वैदिक-धर्म के अनुष्ठान तथा भोजन एवं विवाह आदि में नियमों की कठोरता थी, परन्तु अन्य सामाजिक कर्तव्यों पर वर्णगत अथवा जातिगत कोई बन्धन नहीं था। जिस सम्प्रदाय अथवा धार्मिक मत को कोई अपनाना चाहे उसको पूर्ण छूट थी। यह सामाजिक संकोच और धार्मिक स्वतन्त्रता इस युग में भारतीय जीवन के मुख्य अंग बन गए। भागवत धर्म ने सामाजिक बन्धन को कुछ ढीला किया, क्योंकि भगवान् के सामने सवर्ण-असवर्ण तथा आर्य और म्लेच्छ सभी बराबर थे। इसी प्रकार कई शैव सम्प्रदायों ने भी परम्परागत सामाजिक रूढ़ियों का परित्याग किया। सिद्धों, योगियों और अन्य ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी निर्गुणी धार्मिक सम्प्रदायों ने भी सामाजिक उदारता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। परन्तु इन सामाजिक स्वतन्त्रता-वादी लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। इनमें प्रायः समाज के निम्न स्तर के लोग थे, यद्यपि इनके नेताओं में उच्च वर्ण के भी व्यक्ति थे। समाज का अधिकांश भाग सिद्धान्ततः स्मार्त अर्थात् स्मृतियों में विहित वर्णाश्रम-व्यवस्था को मानने वाला था। यही कारण है कि मध्य युग में तुलसीदास जी की 'रामायण' सामाजिक दृष्टि से सबसे अधिक प्रिय हुई, यद्यपि उसके ऊपर वैष्णव धर्म का गहरा पुट चढ़ा हुआ था।

हिन्दू-समाज में विवाह-संस्था बहुत प्राचीन और दृढ़ थी। किन्तु पूर्वमध्य-काल में युद्ध तथा विलास का वातावरण होने से गान्धर्व तथा राक्षस-विवाहों का ही अधिक वर्णन मिलता है। स्वयंवर की प्रथा क्षत्रियों में तब भी प्रचलित थी। 'नैषध' में दमयन्ती के स्वयंवर का वर्णन श्रीहर्ष ने संस्कृत में किया। 'पृथ्वीराज रासो' में संयुक्ता का स्वयंवर लोक-प्रसिद्ध हुआ। लोक में स्त्री के दो रूप थे—एक तो सामाजिक सम्बन्धों में कन्या, पत्नी तथा माता के रूप में और दूसरे शुद्ध स्त्री या यौन रूप में। प्रथम रूप में तो वह वात्सल्य, प्रेम तथा आदर की पात्र थी और दूसरे रूप में वह भोग और विलास की सामग्री। मानवी प्रेम और दैवी प्रेम दोनों में उसका स्थान ऊँचा था। वह प्रेम की प्रतीक और स्वयं प्रेम-रूपा थी। प्रेमाश्रयी कवियों ने इसी रूप में स्त्री का उपयोग किया था। जीवन में स्त्री निःस्वार्थ प्रेम, त्याग, तपस्या तथा कष्ट-सहन की प्रतिमूर्ति मानी जाती थी। तुलसीदास ने सीता के रूप में ऐसी ही स्त्री की रचना की। मुगल-साम्राज्य की विलासिता के बाद फिर पूर्वमध्य-काल की अवस्था समाज में लौट आई। शारीरिक प्रेम और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकर्षण की तृप्ति के लिए अनेक प्रकार की नायिकाओं की कल्पना की गई। नवाबों के जनानखाने तथा राजाओं के अन्तःपुर का जीवन कवियों के काव्य की सामग्री बन गया। प्रेम के भीतरी मनोवैज्ञानिक दाव-पेंच और बाहरी प्रसाधन सब वहीं से आते थे।

: २ :

मध्य युग में राजनीति और सामाजिक जीवन से साहित्य को जितनी प्रेरणा मिली उससे कहीं अधिक प्रेरणा धर्म से मिली। इस युग की प्रधान धार्मिक भावना भक्ति थी, यद्यपि इस मुख्य धारा के अगल-बगल में दूसरी भावनाएँ भी काम कर रही थीं। देव, ईश्वर, जिन तथा बुद्ध आदि सभी ने भगवान् का रूप धारण किया और उनकी उपासना से ही संसार में ऋद्धि-सिद्धि मिल सकती थीं। इस समय पौराणिक धर्म तान्त्रिक रूप धारण करता जा रहा था। तांत्रिक धर्म की पूजा-पद्धति और उपासना में वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध एक-दूसरे के निकट आ रहे थे।

कुछ दार्शनिक वादों ने पुनरुत्थान का प्रयत्न किया, किन्तु वे विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों की दार्शनिक भूमिका और व्याख्या के रूप में ही प्रयुक्त हुए। उत्तर भारत में प्रभाकर और कुमारिल ने मीमांसक वैदिक कर्म-काण्ड को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इनमें से कुमारिल अधिक प्रभावशाली थे, जिन्होंने वैदिक कर्म-काण्ड को नवीन भक्ति-मार्ग और मूर्ति-पूजा का एक पूरक अंग बना दिया। इन्हींके प्रयत्न से विवेचन की मीमांसा-पद्धति तथा वैदिक-प्रामाण्य सिद्धान्त रूप से बहुसंख्यक जनता द्वारा स्वीकार किया गया। शंकराचार्य ने 'वेदान्त दर्शन' का पुनरुत्थान किया। एक ओर जहाँ इन्होंने 'उपनिषद्' के सिद्धान्तों की व्याख्या और विस्तार किया वहाँ दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन के महायान-सम्प्रदाय के कतिपय सिद्धान्तों को आत्मसात् किया। धार्मिक विचारों में शंकराचार्य शाक्त थे और सम्प्रदाय में दक्षिण-मार्ग के प्रवर्तक। परम्परा के अनुसार वे वाममार्गी बौद्धों और शाक्तों के विरोधी थे।

पौराणिक धर्म इस काल में भी वर्तमान था और धीरे-धीरे वह साम्प्रदायिक रूप धारण करता जा रहा था। 'गरुड' और 'अग्नि-पुराण' स्मार्त धर्म के पोषक थे, यद्यपि भागवत लोग भी इनका उपयोग करते थे। वैष्णव-सम्प्रदाय से इनका विशेष सम्बन्ध था, किन्तु आगमों, तन्त्रों और संहिताओं में वर्णित शाक्त-धर्म का प्रभाव इन पर जान पड़ता है। 'नारद', 'वराह', 'वामन' तथा 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणों में वैष्णव-सम्प्रदाय की सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। 'शिव', 'लिङ्ग' और 'कूर्म' पुराणों में शैव-सम्प्रदाय के तत्त्व मुख्यतः पाये जाते हैं। इनमें बहुत-से तत्त्व तो लकुलीश-पाशुपत-सम्प्रदाय के हैं।

इसी युग में स्मार्त धर्म में एक समन्वयात्मक पद्धति का विकास हुआ। स्मार्तों ने पञ्च-देवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश) की पूजा साम्प्रदायिक आग्रह छोड़कर अपना ली। उत्तर भारत में यह पूजा-पद्धति बहुत ही लोकप्रिय थी। इसका परिणाम यह हुआ कि पञ्चदेव तो उपलक्षण-मात्र बन गए। वास्तव में वैदिकमार्गी जनता ने सम्पूर्ण देव-मण्डल को बिना किसी भेद-भाव के स्वीकार कर लिया। पञ्चदेवों की मान्यता और प्राचीनता सिद्ध करने के लिए पाँच उपनिषद् लिखे गए हैं, जिनका संयुक्त नाम 'अथर्वशिरस्-उपनिषद्' है। कुमारिल के 'मीमांसा'-मार्ग और शंकर के 'वेदान्त' से पञ्चदेवोपासक स्मार्त-धर्म का पूर्ण मेल हो गया। कुमारिल के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवता सत्य थे; शंकर के लिए देवता मायिक जगत् में रहने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से असत्य थे, परन्तु उनके मूल में रहने वाला ब्रह्म सत्य था। इस प्रकार स्मार्त, मीमांसा और वेदान्त का सुन्दर समन्वय बन गया। रामानुज, रामानन्द तथा गोस्वामी तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की कृतियों में धर्म का यही रूप स्वीकृत किया गया था।

वैष्णव धर्म के भागवत और पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय तथा उसके साहित्य का विकास भी इस काल में दृष्टिगोचर होता है। भागवतों ने पञ्चदेवोपासक स्मार्त धर्म को स्वीकार किया, यद्यपि उन्होंने शिव और विष्णु की अभिन्नता पर अधिक जोर दिया और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए 'स्कन्दोपनिषत्' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये वैदिक पूजा-पद्धति की परम्परा के बहुत निकट थे। इनकी पूजा-पद्धति का पता 'वैखानस-संहिता' से लगता है। इसके विपरीत पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय वाले स्मार्त-पूजा-पद्धति के बहुत भक्त नहीं थे। पाञ्चरात्र-संहिताएँ काश्मीर, कर्नाटक और तमिलनाड आदि प्रदेशों में पाई जाती हैं, जो लगभग ६०० तथा ८०० ई० के बीच में लिखी गई थीं। संहिताओं की संख्या परम्परागत १०८, किन्तु वास्तव में इससे कहीं अधिक है। इनमें से 'अगस्त्य', 'नृसिंह', 'दत्तात्रेय', 'गणेश', 'सौर', 'ईश्वर', 'उपेन्द्र' तथा 'बृहद् ब्रह्म' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से कई उत्तर भारत में लिखी गई थीं। इन संहिताओं में जो एक विशेष बात दिखाई पड़ती है, वह है वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत शाक्त-सिद्धान्तों का समावेश। इनके प्रतिपाद्य विषय हैं—(१) ज्ञान पाद (दार्शनिक धर्म-विज्ञान), (२) योग पाद (योग-शिक्षा तथा पद्धति), (३) क्रियापाद (मन्दिर तथा मूर्ति-निर्माण) और (४) चर्या पाद (पूजा-पद्धति)। इस सम्प्रदाय का धर्म-विज्ञान बहुत-कुछ 'महाभारत' के नारायणीय आख्यान के ऊपर अवलम्बित है और इसका दर्शन सेश्वर योग के ऊपर। इसका दर्शन और सृष्टि-विज्ञान पञ्च-व्यूहों (१. वासुदेव, २. संकर्षण, ३. प्रद्युम्न, ४. अनिरुद्ध तथा ५. ब्रह्मा) में व्यक्त किया जाता है; जो 'सांख्य दर्शन' से मिलता-जुलता है। मानव-शरीर में गुह्य शक्तियों के चक्रों का वर्णन तथा योग-साधना और सिद्धियों का विवरण भी शाक्तों की भाँति पाञ्चरात्र-संहिताओं में मिलते हैं। इसी प्रकार मन्त्र और यन्त्र भी पाए जाते हैं। इनके महा मन्त्र हैं: (१) **'ओम नमो भगवते वासुदेवाय'** और (२) **'ओम नमो नारायणाय।'** इनमें से प्रथम भागवतों और द्वितीय श्री वैष्णवों में प्रचलित है। इन संहिताओं में वाममार्गी तत्त्वों का पूर्णतः अभाव है। इसकी पूजा-पद्धति अन्त्यजों को छोड़कर सभी के लिए उन्मुक्त थी। पीछे अन्त्यजों के लिए भी इस पंथ का द्वार खुल गया। यह पाञ्चरात्र धर्म महाभारत-काल के बाद सुदूर दक्षिण में सात्वतों के द्वारा पहुँचा था और मध्य युग के आरम्भ में प्रथमतः तमिल-प्रदेश के आलवार सन्तों में पाया जाता है। 'नारायण' तथा 'आत्मबोध उपनिषद्' श्री वैष्णवों में प्रचलित थे। 'नृसिंहतापनीय उपनिषद्' से मालूम होता है कि नृसिंहावतार की पूजा भी वैष्णवों में प्रचलित थी। रामायत-सम्प्रदाय का उदय भी इसी काल में हो गया था। 'वाल्मीकि रामायण' के छठे काण्ड में राम के ईश्वरत्व और उसके उपासकों का वर्णन मिलता है, किन्तु एक संगठित सम्प्रदाय के रूप में इसके अस्तित्व का पुराना प्रमाण कोई नहीं पाया जाता। परन्तु 'रामपूर्व तापनीय उपनिषद्' से स्पष्ट है कि आठवीं-नवीं शताब्दी तक रामायत-वैष्णव-सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गया था। 'अगस्त्य सुतीक्ष्ण संहिता' इस सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ था। इसका महामन्त्र **'रामं रामाय नमः'** था।

वैष्णव सम्प्रदाय के प्रायः समानान्तर शैव सम्प्रदाय का विस्तार और विकास हुआ। शैव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदाय के पाशुपत और आगमिक दो मुख्य विभाग थे। पाशुपतों के अन्तर्गत शुद्ध पाशुपत, लकुलीश पाशुपत, कापालिक और नाथों की गणना थी। आगमिक में संस्कृत शैव सिद्धान्त, तमिल शैव, काश्मीर शैव तथा वीर शैव सम्मिलित थे। वैशेषिक सूत्रों के भाष्यकार प्रशस्त पाद तथा न्याय भाष्य के लेखक उद्योतकर प्रसिद्ध पाशुपताचार्य थे। बाण ने अपने 'हर्ष चरित' में दिवाकर मित्र के आश्रम का वर्णन तथा अन्य स्थानों में पाशुपतों का उत्तर भारत में स्पष्ट उल्लेख किया है। लकुलीश सम्प्रदाय के केन्द्र गुजरात और राजस्थान में पाये जाते थे। 'लिङ्ग' और 'कूर्म' पुराण में इसका साहित्य मिलता है। गुजरात के झारपटन नामक स्थान में सातवीं शती की बनी हुई लकुलीश की मूर्ति मिली है। कापालिकों का सम्प्रदाय लोकप्रिय और संगठित नहीं था। उत्तर भारत में इनके अस्तित्व का उल्लेख भवभूति के 'मालती-माधव' नामक नाटक में पाया जाता है। नाथ-पन्थ केवल गर्भावस्था में इस काल में पाया जाता था। आगमिकों के शैव और रौद्र दो विभाग थे। परम्परा के अनुसार इनकी अट्ठाइस संहिताएँ थीं। इनमें 'शिव सूत्र' और 'मृगेन्द्र आगम' प्रसिद्ध थे। संक्षेप में शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्त इस प्रकार थे—शिव पशुपति हैं, जो सम्पूर्ण जीव-जगत् स्वामी हैं। मनुष्य पशु है, जिसका शरीर जड़ किन्तु आत्मा चेतन है। उसके भीतर सर्व-व्यापी चिच्छक्ति का केन्द्र है। वह पाश से बद्ध है। पाश तीन प्रकार का होता है : (१) आणव (अज्ञान), (२) कर्म (क्रिया-फल) और माया (भौतिक जगत् का उपादान कारण)। शक्ति शिव के अनुग्रह से उद्बुद्ध होती है, जिससे पाश का क्रमशः नाश और मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्षावस्था में शिव और आत्मा में अभेद हो जाता है।

शैव और शाक्त सम्प्रदाय का घनिष्ठ सम्बन्ध था और शैव के साथ-साथ शाक्त का भी प्रचार हुआ। शाक्त धर्म के ऊपर बहुत-से तन्त्र-ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें से 'कुब्जिका मत तन्त्र', 'परमेश्वर मत तन्त्र' तथा 'महा कौलज्ञानविनिर्णय' आदि काफी पुराने हैं और 'निःश्वास तत्त्वसंहिता' एवं 'चण्डी शतक' आदि कुछ पीछे के। शिव की पत्नी दुर्गा इस सम्प्रदाय की केन्द्र है, यद्यपि अन्य देवियों से भी इसका सम्बन्ध है। क्योंकि शिव अपने शुद्ध रूप में निष्क्रिय हैं और शक्ति में ही क्रिया-शक्ति केन्द्रित है, अतः सृष्टि के सारे कार्य शिव की कृपा और मोक्ष आदि उसी (शक्ति) के द्वारा संभव होते हैं। इस प्रकार शक्ति का महत्त्व शिव से भी अधिक है। शक्ति के बिना शिव केवल शव-तुल्य है। पूजा की दृष्टि से शक्ति शिव-ब्रह्म से भी अधिक पूजनीया है। शाक्त सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त 'सांख्य' तथा 'वेदान्त' से लिये गए हैं। इसमें 'योग' का विशिष्ट स्थान है। शक्ति अनादि तथा सनातन 'शब्द' हैं; नाद, बिन्दु और बीज उसकी गतियाँ हैं, जिनके द्वारा वह अभिव्यक्त होती है। इस सम्प्रदाय में मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा, मण्डल और चक्र का व्यापक और कभी-कभी घोर उपयोग होता था। इसमें वाम मार्ग के तत्त्व काफी थे। मध्य युग में सौर और गाणपत्य सम्प्रदाय भी अस्तित्व में थे, किन्तु उनका प्रचार बहुत सीमित था।

बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय उत्तर भारत में अभी जीवित था। सर्वास्तिवादी 'विनय' और 'अभिधम्म' के अनुवाद चीनी और तिब्बती भाषा में इसी समय हुए। परन्तु धीरे-धीरे महायान ने इसको आक्रान्त कर लिया और स्वयं-स्वातंत्र्यवादी और परम्परा-विरोधी होने के कारण वाम-मार्गी प्रभावों से अभिभूत हो गया। महायान सम्प्रदाय में क्रान्तिकारी और विनाशकारी परिवर्तन शाक्त तत्त्वों के प्रवेश कर जाने से हुआ। इसी प्रभाव से बौद्धधर्म का तांत्रिक रूप बना। तन्त्रों के अनुसार प्रत्येक बुद्ध की एक शक्ति—पत्नी—होती है, जिस प्रकार शाक्त सम्प्रदाय में शिव की शक्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस केन्द्रीय तत्त्व ने महायान को गुह्य रूप दिया। शाक्त सम्प्रदाय की तरह इसमें भी मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा, आसन, चक्र, मण्डल, स्त्री, मदिरा तथा मांस आदि वाममार्गी पद्धतियों का खुलकर विचार हुआ। बौद्धों का वज्रयान तो किन्हीं अर्थों में शाक्तों से भी आगे निकल गया। वज्रयानियों ने इस वासनामूलक साधना का समर्थन भगवान् बुद्ध के गार्हस्थ्य जीवन से किया, जो उनके विचार में, सम्बोधि और निर्वाण के लिए आवश्यक था। अन्तर केवल इतना ही था कि भगवान् बुद्ध ने भोग के बाद संसार से विरक्त होकर सम्बोधि और निर्वाण प्राप्त किया; वज्रयानियों ने संसार-त्याग के बाद भोगपरक साधना की; और उनमें से अधिकांश इसी भंयकर साधना में विनष्ट हो गए। कौन कह सकता है कि उन्हें सिद्धि मिली? इस सम्प्रदाय के आचार्यों में वज्रबोधि और अमोघवज्र प्रसिद्ध थे। बौद्ध धर्म वैदिक परम्परा का विरोधी था। जब उसमें पुनरावर्तन की प्रवृत्ति हुई तो दर्शनों में ईश्वर को मायिक और नश्वर समझने वाला वेदान्त उसको पसन्द आया और पूजा-पद्धति में दक्षिण मार्ग के बदले परम्परा-विरोधी वाम मार्ग। परन्तु आस्तिक शाक्त वाम मार्ग में जो शिव और शक्ति का नियन्त्रण था वह अनीश्वरवादी वज्रयान में नहीं। इसीलिए वज्रयान में स्वतन्त्र और अत्यन्त घोर वासनाओं का ताण्डव हुआ, जो शाक्तों में भी नहीं हो पाया था। इससे बौद्ध धर्म क्रमशः अप्रिय और विनष्ट हुआ।

जैन धर्म ने अपने कठोर आचरण से अपने शुद्ध स्वरूप को बचा लिया। शाक्त-आन्दोलन के प्रभाव से इसने अपने देव-मण्डल में देवियों को स्थान दिया, जो साहित्य और मूर्ति-कला में चित्रित पाई जाती हैं। परन्तु पूजा-पद्धति में उसने दक्षिण मार्ग को अपनाया और गुह्य क्रिया-कलापों से अपने को मुक्त रखा। जैन यति-मुनियों ने न्याय के उच्च कोटि के ग्रन्थों का निर्माण किया। हिन्दी की दृष्टि से उनका एक काम बहुत महत्त्व का था। उन्होंने प्राकृत-ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो आगे चलकर हिन्दी के लिए भाषा और साहित्य का मार्ग बना। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मानुतुङ्ग, हरिभद्र और शीलाङ्क आदि ने कई उत्तम न्याय-ग्रन्थ रचे। प्राकृत में बहुत-से लोकप्रिय ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें से जयवल्लभ का 'बज्जालग्गा', हरिभद्र का 'समरैच्छकहा' तथा सिद्धर्षि का 'उपमितिभवप्रपञ्चक' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हुए। कन्नड़ तथा तमिल आदि भाषाओं में इस सम्प्रदाय ने बहुत-से ग्रन्थों की रचना की। समन्तभद्र और उपास्वाति आदि ने संस्कृत में लिखा। रविकीर्ति ने कन्नड़ में 'जिनकथे' नामक ग्रन्थ लिखा। दिगम्बर पुराणों में रविषेण का 'पद्म-पुराण' तथा जिनसेन का 'हरिवंश' प्रसिद्ध था। ये पुराण हिन्दू पुराणों के अनुकरण पर लिखे गए।

वैष्णव साहित्य की दसवीं शती से प्रभूत वृद्धि हुई। मुख्य वैष्णव-ग्रन्थ 'रामायण' तथा 'महाभारत' के प्रादेशिक भाषाओं में कई भाषान्तर प्रकट हुए। भागवत धर्म के 'भागवत पुराण' ने न केवल भक्ति-मार्ग को उत्क्रान्त किया, किन्तु परवर्ती प्रादेशिक भाषा-साहित्य को भी कथावस्तु और भावना के द्वारा अनुप्राणित और परिवर्द्धित किया। भागवतों का सर्वमान्य ग्रन्थ 'भागवत' ही है। परन्तु साम्प्रदायिक ग्रन्थों में 'नारद भक्ति सूत्र' और 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' भी लिखे गए, जो 'भागवत' से अनुप्राणित थे। 'गोपीचन्दन' और 'वासुदेव' उपनिषद् भी इस समय में लिखे गए। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में बोपदेव ने 'भागवत पुराण' के आधार पर 'हरिलीला' और 'मुक्ताफल' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। महाराष्ट्र के भागवतों में ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वर हुए, जिन्होंने 'भगवत्-गीता' पर ज्ञानेश्वरी नामक टीका मराठी में लिखी। उन्होंने 'हरिपाठ' तथा 'अमृतानुभव' नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की। ज्ञानेश्वर अद्वैतवादी थे, परन्तु उनकी साधना में योग का पूरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुट था। वे नाथ-पंथी परम्परा में गोरखनाथ के शिष्य गहिणीनाथ के शिष्य निवृत्तिनाथ के शिष्य थे। यहाँ पर शैव-योग-भागवत-तत्त्वों का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है। भागवत-परम्परा में ही बारहवीं शताब्दी के अन्त में मध्वाचार्य हुए। ये द्वैतवादी थे। इन्होंने 'वेदान्त सूत्र' पर भाष्य और अनुव्याख्यान लिखे। इन ग्रन्थों में शांकर वेदान्त (अद्वैत) और रामानुज के विशिष्टाद्वैत से इनका भेद स्पष्ट प्रकट होता है। अभी तक भागवत-साहित्य में राधा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। 'भागवत पुराण' में राधा का उल्लेख नहीं है। सबसे पहले 'गोपाल तापिनी' उपनिषद् में राधा का वर्णन मिलता है। किन्तु इसकी तिथि निश्चित नहीं है। प्रारम्भिक सम्प्रदायों में विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क के अनुयायियों ने राधा को स्वीकार किया। विष्णु स्वामी दाक्षिणात्य और द्वैतवादी थे। इन्होंने 'गीता', 'वेदान्त सूत्र' और 'भागवत' पर भाष्य लिखा। निम्बार्क तेलुगू प्रदेश में उत्पन्न हुए थे, किन्तु वृन्दावन में आकर बस गए। इनका दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेद था। राधा के स्वरूप के विस्तार में इनका बहुत बड़ा हाथ था।

वैष्णव धर्म के पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में भी कई उपसम्प्रदायों का काफी विकास हुआ। आलवार सन्तों के भाव विभोर कीर्तन तथा तमिल भाषा के प्रयोग ने न केवल तमिल प्रदेश में श्री वैष्णव सम्प्रदाय को जनता तक पहुँचाया, अपितु दूसरे प्रदेशों में इस प्रकार के आन्दोलनों को अनुप्राणित किया। श्री वैष्णवाचार्यों में नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र, यमुनाचार्य तथा रामानुज आदि प्रसिद्ध हुए। रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी थे और इन्होंने शंकर के अद्वैत और भास्कराचार्य के भेदाभेद का बड़ी युक्ति से खण्डन किया। रामानुज के अनुसार मोक्षार्थी भक्त को आजीवन अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए। भक्ति के लिए कर्म और ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं; उनका परस्पर विरोध नहीं है। रामानुज के इस सिद्धान्त को 'समुच्चयवाद' कहते हैं। उत्तर भारत के रामानन्द और तुलसीदास दोनों ही इस सिद्धान्त से अत्यन्त प्रभावित थे। मीमांसा तथा स्मार्त धर्म का पालन इस सम्प्रदाय के लिए आवश्यक था।

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अतिरिक्त एक दूसरा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय मानभाव था। यह पंथ स्मार्त-आचार-विरोधी और साम्प्रदायिक था। यह केवल कृष्ण की आराधना करता था और मूर्ति के स्थान पर उनका प्रतीक धारण करता था। खान-पान में इसके मानने वाले छूत-छात का विचार नहीं करते थे। इसमें मृतकों को समाधि दी जाती थी। इस सम्प्रदाय वाले दत्तात्रेय को अपना प्रवर्त्तक मानते हैं। इसका प्रचार महाराष्ट्र तथा कन्नड़-प्रदेश में अधिक था। नरसिंह-सम्प्रदाय का प्रचार तेलुगू-प्रदेश में था। 'नरसिंह संहिता' इसका मुख्य ग्रन्थ था। 'नरसिंह उपपुराण' का रूपान्तर तेलुगू-भाषा में १३०० के लगभग हुआ।

रामायत सम्प्रदाय में इस समय थोड़ी प्रतिगामी शक्तियाँ प्रवेश कर गईं। 'अध्यात्म रामायण' में राम की कथा बिलकुल नये ढंग से और आध्यात्मिक रूप से कही गई। इसमें अद्वैत, वेदान्त और शाक्त तत्त्वों का भी समावेश किया गया। इसमें राम मायामनुष्य और सीता मायाच्छिन्न चिच्छक्ति थी। इसमें समुच्चयवाद के स्थान में पूर्ण नैष्कर्म्य का उपदेश दिया गया। इस 'रामायण' पर 'भागवत' की छाप थी और यह अपने पूर्ववर्ती 'अगस्त्य संहिता', कन्नड़ 'पम्पा रामायण', 'योग वाशिष्ठ' तथा 'अद्भुत' और 'भुशुण्डि रामायण' से प्रभावित था। यह सम्प्रदाय भी पहले तमिल-प्रदेश में उत्पन्न हुआ, जो क्रमशः उत्तर भारत में पहुँचा।

वैष्णव सम्प्रदाय की तरह शैव सम्प्रदाय भी अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकसित होते रहे। इनमें से पाशुपतों का उल्लेख पहले किया जाता है। पन्द्रहवीं शती के एक प्रसिद्ध भाष्यकार अद्वैतानन्द ने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मविद्याभरण' में इस सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्तों की रूपरेखा इस प्रकार दी है—(१) पति, विश्व के मूल कारण शिव, (२) पशु, मनुष्य और प्रकृति, (३) योग, (४) विधि (पूजा-पद्धति) और (५) दुःखान्त (मोक्ष)। इस सम्प्रदाय का मुख्य मार्ग था। वे हास, नृत्य, गान, चिल्लाहट, निद्रा, रोग, पागलपन में अपने को विभोर रखते थे। लकुलीश सम्प्रदाय पाशुपत की ही एक शाखा था। दोनों के सिद्धान्त एक थे। केवल विधि में कुछ अन्तर था। लकुलीश सम्प्रदाय के साधु भस्म के बदले बालुका में लेटते थे। गुजरात, राजस्थान तथा मैसूर में इसका प्रचार था। कापालिक सम्प्रदाय कभी बड़े पैमाने पर देश में फैला नहीं, किन्तु 'शंकर-दिग्विजय' नामक ग्रन्थ से मालूम होता है कि इसका अस्तित्व था। इसका दर्शन तो पाशुपत तथा शाक्त दर्शन के समान ही था, किन्तु इसकी साधना और पूजा-पद्धति बहुत घोर और अश्लील थी। नर-बलि, सुरा-पान तथा यौन-अत्याचार का इसमें काफी दौरा था। इसके साधक मुण्डमाला धारण करते और अलौकिक सिद्धियों के लिए यौगिक क्रियाएँ करते थे।

पाशुपत शैवों में नाथ-पन्थ इस समय काफी प्रसिद्ध हो रहा था, यद्यपि इसके अनुयायियों का कोई संघटित सम्प्रदाय नहीं था। यह सम्प्रदाय उत्तर भारत, पंजाब तथा राजस्थान आदि में प्रचलित था। तांत्रिक हिन्दू और तांत्रिक बौद्ध दोनों इसका आदर करते थे। पहले इसका सम्बन्ध कापालिकों से था, परन्तु धीरे-धीरे इसने उनके घोर आचरणों का परित्याग किया। गोरखनाथ इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त थे जिन्होंने नाथ पन्थ को कापालिकों की भयंकर पूजा-पद्धति से मुक्त किया। ये यौगिक साधन में हठ योग के प्रवर्तक थे; जिसमें आसन, शोधन, प्राणायाम, ध्यान तथा मुद्रा आदि का प्रमुख स्थान है। दक्षिण में रसेश्वर और आगमिक शैवों के शैव सिद्धान्त और तमिल शैव आदि कई सम्प्रदाय थे। पश्चिमोत्तर भारत में काश्मीर शैव-सम्प्रदाय ने संस्कृत में उच्चकोटि के ग्रन्थ तैयार किये। कर्नाटक और महाराष्ट्र में वीरशैव सम्प्रदाय ने अपना अच्छा संघटन कर लिया। मानभाव वैष्णवों की तरह वीरशैव भी प्राचीन परम्परा के विरोधी, वर्णाश्रम तथा मूर्ति-पूजा को अनावश्यक समझने वाले तथा सामाजिक मामलों में स्वतन्त्रतावादी थे। ये शिवलिङ्ग को अपने शरीर पर वहन करते थे। शाक्तों में एक ओर तो अभी वाममार्गियों का जोर था, किन्तु दूसरी ओर वाममार्ग की प्रतिक्रिया में दक्षिण-मार्ग अपने को सँभाल रहा था। 'देवी भागवत' नामक उपपुराण में इस संस्कृत शाक्त-धर्म का पूरा विवरण मिलता है।

बौद्ध-धर्म अपनी मूल मानववादी और नीतिवादी प्रवृत्तियों को त्यागकर वज्रयान तथा चक्रयान की साधना में अपनी अन्तिम साँस ले रहा था। इस समय अनेक तांत्रिक ग्रन्थों की रचना हुई, शक्ति की भ्रान्त व्याख्या करके बुद्ध के नाम पर वीभत्स भ्रष्टाचार हुए, प्रत्येक बुद्ध (हेरुक) अपनी शक्ति (वज्रयोगिनी) के साथ प्रादुर्भूत होता है। इस रूपक से प्रत्येक साधक ने स्त्री-सम्भोग को ही साधना का एक-मात्र मार्ग बना लिया। बंगाल में इस बौद्ध-पन्थ को 'सहज' मार्ग कहते थे। परन्तु इस असामाजिक बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया भी इसके भीतर प्रारम्भ हुई। महायान ने मूल में जिस बोधिसत्व की कल्पना की थी उससे आस्तिक सर्वेश्वरवादी पन्थ का उदय हुआ। विज्ञानवाद के आलय विज्ञान का इसमें मुख्य हाथ था और शून्यवाद का पुट। इसके ऊपर अद्वैत वेदान्त के अनिर्वचनीयवाद तथा न्याय और शैव सिद्धान्त के ईश्वरवाद का प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट है। इस पन्थ ने 'आदि बुद्ध' की कल्पना की, जो सम्पूर्ण विश्व और प्रत्येक बुद्धों के मूल में है। वह स्वयं है। उसीसे ध्यानी बुद्ध, ध्यान-बोधिसत्त्व और मानुषी बुद्ध की उत्पत्ति होती है। बौद्ध धर्म अपनी जीर्णावस्था में बंगाल और बिहार में प्रायः केन्द्रित था। तांत्रिक कुत्यों के कारण लोक में इसकी अप्रियता, मुसलिम आक्रमण तथा इसके भक्तिमार्गी आस्तिक अंग के सामान्य जनता में विलय के कारण बौद्ध धर्म का साम्प्रदायिक रूप से भारत में अन्त हो गया।

जैन धर्म के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों ने तांत्रिक वाम मार्ग के प्रभाव से बचकर संस्कृत, प्राकृत तथा प्रादेशिक भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण किया। इस काल के सबसे बड़े श्वेताम्बर लेखक और शास्त्रकार सर्वज्ञ हेमचन्द्र थे, जो गुजरात की राजधानी अनीहिलपाटन में १०८६ से ११७३ ई० तक रहे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'योग-शास्त्र', 'वीतराग-स्तुति', 'त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित' और इसका परिशिष्ट 'पर्वन', 'महावीरचरित्र' आदि संस्कृत में थे। उन्होंने 'जैन रामायण' रामचरित की भी रचना की और 'वासुदेव हिण्ड' नामक ग्रन्थ, जो कथाओं का संग्रह है, प्राकृत में लिखा। इसके अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, अलंकार, रीति-शास्त्र, कोष तथा राजनीति आदि विविध विषयों पर शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करके उन्होंने तत्कालीन साहित्य का भण्डार भरा। दूसरे प्रसिद्ध लेखक अभयदेव, मलयगिरि, शान्तिसूरि, देवेन्द्रगणि, तिलकाचार्य, श्रीचन्द्रसूरि, शोभन और धनपाल आदि थे। इस काल के अन्त में प्रबन्धों और चरितों को सरल संस्कृत और भाषा में लिखकर जैन लेखकों ने एक नई परम्परा साहित्य में चलाई। जिसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर बहुत पड़ा। दिगम्बरों का कार्य-क्षेत्र धीरे-धीरे दक्षिण में खिसक गया। उनका साहित्यिक काम उतना नहीं हुआ जितना श्वेताम्बरों का, फिर भी उन्होंने समृद्ध और विविध साहित्य का सृजन किया। अमृतचन्द्र और बालचन्द्र इस युग के प्राचीन ग्रन्थों पर प्रसिद्ध भाष्यकार थे। कन्नड़ के प्रसिद्ध जैन कवियों में पम्प का नाम चिरस्मरणीय है। उन्होंने 'पम्पभारत' (विक्रमार्जुन विजय) तथा 'आदि पुराण' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में लिखे। अन्य कवियों में पोन्न, रण्ण तथा अभिनव पम्प उल्लेखनीय हैं। अभिनव पम्प का 'पम्प-रामायण' बहुत ही उच्चकोटि का और लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसकी रचना लगभग ११०० ई० में हुई थी। जैन तमिल-काव्य 'जीवक चिन्तामणि' भी उत्तम रचना है। इसके पूर्व ही सोमदेव ने 'यशस्तिलक' नामक कक्षा-ग्रन्थ अत्यन्त ललित संस्कृत में लिखा। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, योगीन्द्र आचार्य तथा चामुण्डराय आदि प्रसिद्ध दिगम्बर सम्प्रदाय के लेखक थे, जिन्होंने संस्कृत और प्रादेशिक भाषाओं में रचना की।

धार्मिक दृष्टि से जिस प्रकार भक्तिमार्गी महायान पर वेदान्त और अन्य आस्तिक दर्शनों और सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा उसी प्रकार जैन-श्वेताम्बर सम्प्रदाय पर भी। तीर्थङ्करों की कल्पना के मूल में सनातन ब्रह्म-जैसी सत्ता को जैनियों ने स्वीकार किया। पूजा-पद्धति और आचार में श्वेताम्बर और वैष्णव सम्प्रदाय एक-दूसरे के बहुत निकट आ गए। इसी समय उत्तर भारत पर मुसलिम आक्रमण प्रारम्भ हुए और उत्तर भारत का बचा-खुचा जैन-समाज छिन्न-भिन्न हो गया। उसकी प्रवृत्ति क्रमशः वैष्णव सम्प्रदाय में विलीन होने की हो गई।

: ३ :

उपर्युक्त विविध धार्मिक तथा दार्शनिक आन्दोलनों और उनके विशाल साहित्य से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वि ३.७.आ
अक-१०

सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य प्रभावित था। इस्लामी आक्रमणों के बार-बार होने और इस्लाम धर्म के परिचय के बाद भी हिन्दू जनता और हिन्दी-साहित्य का अधिकांश अपनी पुरानी परम्परा और देशी धर्म और साहित्य से ही अनुप्राणन और सामग्री प्राप्त करता रहा। उपर्युक्त विशाल साहित्य का अधिकांश—धर्म-विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, शास्त्रीय ग्रन्थ, उच्चकोटि का शुद्ध साहित्य आदि—संस्कृत में लिखा गया था; धार्मिक उपदेश, नीति ,जीवन-चरित्र, कथा-कहानियाँ आदि प्राकृत और प्रादेशिक भाषाओं में। क्योंकि हिन्दी लोक-भाषा थी, अतः उसने द्वितीय वर्ग के पूर्ववर्ती साहित्य से अपना सूत्र ग्रहण किया। हिन्दी-साहित्य का सारा प्रारम्भिक अपभ्रंश-साहित्य इसी प्रकार के साहित्य का क्रमशः संक्रमण या रूपान्तर है। धीरे-धीरे प्रादेशिक भाषा-गत लोक-साहित्य की वृद्धि और संस्कृत का ह्रास होता गया। इसका कारण यह है कि इस्लाम के आक्रमण से क्रमशः संस्कृत विद्यालय, पाठशालाएँ, मठ, विहार तथा सत्रादि नष्ट होते गए और वह बड़े पैमाने पर राज्याश्रय से वञ्चित रहे। परन्तु हिन्दुओं का लोक-जीवन कभी इस्लाम से परास्त नहीं हुआ। वह लोक-भाषा के माध्यम से खड़ा रहा और इस नये माध्यम का उसने परिष्कार और विस्तार किया। हिन्दी के आदिकाल अथवा वीर-गाथा-काल का साहित्य भी जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पूर्व मध्यकालीन प्रशस्त्यात्मक जीवन-चरित्रों के आधार पर नई परिस्थितियों में लिखा गया था। इस पर इस्लाम का कोई प्रभाव नहीं था; इस्लाम से उसका सम्पर्क इतना ही था कि वह उसके विरोध में लड़ने वाले वीरों की प्रशंसा में लिखा गया था।

हिन्दी-साहित्य के विकास का दूसरा चरण भक्ति-साहित्य का निर्माण था। इस भक्ति-साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ कहाँ से आईं, इसके सम्बन्ध में कुछ दिन पहले तक बहुत वाद-विवाद चलता रहा। डॉ० ग्रियर्सन के मतानुसार इसको प्रेरणा ईसाई धर्म से मिली, जो मद्रास-प्रदेश में ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में पहुँच चुका था। डॉ० ताराचन्द ने अपनी पुस्तक 'इनफ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि छठी-सातवीं शती में अरब के मल्लाह और व्यापारी मद्रास के समुद्र-तट पर पहुँच चुके थे और दक्षिण के वैष्णवाचार्यों को उन्होंने प्रभावित और प्रेरित किया। परन्तु जो लोग भारत के प्राचीन और मध्य-कालीन इतिहास से परिचित हैं वे इस बात को स्वीकार करेंगे कि कम-से-कम सात्वतो (महाभारत-कालीन) के समय से भावुक भक्ति की परम्परा अजस्र गति से भारत में चली आई है और देश और काल-क्रम से उसमें उत्कर्ष और अपकर्ष होता आया है। वास्तव में भक्ति, कीर्तन और गेय-काव्य की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। वह अधिक विकसित रूप में सात्वतों से संचालित होकर मथुरा, मध्य भारत, राजस्थान, अवन्ति, सुराष्ट्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक होते हुए द्रविड़ देश में पहुँची थी। मध्य युग के प्रारम्भ में जब उत्तर भारत पर अरब और तुर्क-आक्रमण होने लगे, उस समय अधिक अनुकूल और स्वस्थ वातावरण, सुदूर दक्षिण में, भावुक और प्रदर्शन-प्रधान भक्तिमार्ग का पुनः संघटन हुआ और इस्लामी अत्याचार का वेग उत्तर में कम हो जाने पर भक्ति-आन्दोलन दक्षिण से पुनः उत्तर भारत में आया। दक्षिणी भक्ति की प्रमुख धारा सगुणमार्गी थी। जहाँ तक निर्गुण भक्ति का प्रश्न है वह उत्तर भारत में कई सम्प्रदायों के रूप में थी। इस्लाम का इससे अधिक विरोधी भी नहीं था। इसीलिए यह पहले उत्तर भारत में मुसलिम शासन-काल में प्रकट होती है।

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सगुण भक्ति के आन्दोलन के पीछे भारतीय इतिहास का एक बड़ा रहस्य है। इसके पूर्व इस्लाम के आक्रमण के कारण हिन्दुओं का राजनीतिक पराभव हो चुका था। उनकी भाषा, धर्म और संस्कृति—सभी खतरे में थे। परन्तु किसी भी सभ्य और सुसंस्कृत जाति का पराभव स्थायी नहीं होता; उसके जीवन में पुनरावर्तन, पुनरुत्थान और नव-निर्माण अवश्यम्भावी है। इसके लिए प्रत्येक युग में अपने अनुकूल माध्यम होता है। मध्य युग में वह माध्यम धर्म था; वही प्रेरक शक्ति थी। विधि-विधानपरक कर्मकाण्ड से यह प्रेरणा नहीं मिल सकती थी और न हठयोगी, सिद्धिमार्गी सन्त ही लोक-संग्रह का मार्ग दिखा सकते थे। तान्त्रिकों, वाममार्गियों और सहजियों को समाज अश्लील और घृणित समझकर पीछे छोड़ चुका था। निर्गुणी भक्त भी 'घूँघट के पट खोल' कहकर अपने भीतर ही भगवान् को देखने की चेष्टा कर रहे थे; बाहर के दृश्यमान समाज और राष्ट्र से कोई उनको मतलब नहीं था। इसलिए जीवन के पुनरुद्धार के लिए किसी दूसरे मार्ग की आवश्यकता थी। वह मार्ग 'ईशोपनिषद्' अथवा विकसित रूप में 'महाभारत' में गीता के समय से आया हुआ 'समुच्चयवाद' था, जिसका पुनर्संघटन मध्य युग में रामानुजाचार्य ने किया। उत्तर भारत में रामानन्द ने इसका सूत्र पकड़ा और तुलसीदास ने उसका पूर्ण संघटन और प्रचार किया। इस समुच्चय में भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय था। परन्तु यह कर्म 'कर्मकाण्ड' के अर्थ में नहीं, अपितु 'लोक-संग्रही कर्म' के अर्थ में हुआ। तुलसी के विष्णु अथवा राम का विग्रह इन्हीं तत्त्वों से बना था; उनका भगवान् का सगुण रूप मानव—व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि में ओत-प्रोत था; उन्हींमें वे भगवान् को देखना चाहते थे; वे ही उनकी साधना के माध्यम थे। इस भक्ति-आन्दोलन ने युग-वाणी, युग-पुरुष और युग-धर्म जनता को दिया। इसके प्रभाव से जनता में आत्मचेतना और आत्मविश्वास आया और कई पुनरुत्थानमूलक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन प्रवर्तित हुए।

परन्तु सगुण-भक्ति से जहाँ ईश्वर का लोक-संग्रही और मर्यादावादी ऐश्वर्य जनता पर प्रकट हुआ वहाँ उसका माधुर्य भी लोगों तक पहुँचा। जो अधिक भावुक और कोमल स्वभाव वाले थे उनको कठोरव्रती धनुर्धर राम के बदले भागवत के लीलाप्रिय, गोपीजनवल्लभ, 'पुन्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां' कृष्ण का रूप अधिक पसन्द आया। अतः कृष्ण-भक्ति में इस रूप और मधुर भाव की उपासना की प्रधानता है। इसके लिए भी प्रेरणा पूर्व-मध्ययुगीन साहित्य से मिली थी। 'भागवत पुराण' इसका निर्भर था और जयदेव आदि कवि इसके उद्गाता। यह मधुर भाव और उससे प्रेरित साहित्य जहाँ सामन्तवादी और विलासी समाज से मिला वहाँ उसने रीति-काव्य और नायिका-भेद का रूप ग्रहण कर लिया। गोपीभाव तन्मयता और अनन्यता के बदले मानवी-विलासों और वासनाओं का माध्यम बन गया। इसका बहाव आधुनिक युग की सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्तियों से ही रुक सका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर रामरतन भटनागर

छायावादी काव्य-दृष्टि

छायावादी काव्य-दृष्टि को समझने के लिए हमारे पास तीन स्रोत हैं—स्वयं कवियों का अपनी काव्य-कला के सम्बन्ध में वक्तव्य; छायावाद के मान्य समीक्षकों की धारणाएँ तथा स्वतः काव्य। इन तीनों स्रोतों को परस्पर पूरक मानकर ही हम छायावादी काव्य-दृष्टि को सम्पूर्णता दे सकते हैं।

छायावादी कवियों में से 'प्रसाद', माखनलाल, पन्त, 'निराला', महादेवी और 'दिनकर' ने अपनी काव्य-प्रक्रिया और अपने काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विशदता से लिखा है। 'पल्लव' (१९२८) और 'परिमल' (१९३०) की भूमिकाओं से हमें पता चलता है कि छायावाद के आदि-प्रवर्तक किस प्रकार नई काव्य-भूमि की ओर उन्मुख हुए और वह किस सीमा तक प्राचीन काव्य-भूमियों के प्रति विद्रोह लेकर चले। छायावाद के कवि का सबसे बड़ा विद्रोह काव्यानुशासनों के प्रति था, जो कवि के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त भाव-प्रवाह में बाधक होते थे। उस समय तक काव्य ही साहित्य का प्रतीक था। इसीसे निराला की यह उक्ति कि 'साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में दीख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है।'[1] बहुत सार्थक उक्ति थी। निराला के लिए काव्य की मुक्ति का अर्थ था छन्दों के अनुशासन से मुक्ति, और उनका मुक्त-काव्य इस मुक्ति का ही विजयी उद्घोष था। पिछले किसी भी युग में काव्य की ऐसी निर्बन्ध कल्पना सम्भव नहीं थी, जो कवि-चित्त की उन्मुक्तता को इतना बड़ा श्रेय देती। इसीलिए निराला का काव्य नये युग की विद्रोही काव्य-धारा का केन्द्र-विन्दु है।

'पल्लव' की भूमिका में हमें नये (छायावादी) कवि का विद्रोह कुछ अधिक मुखर दिखलाई देता है। वह भक्ति-काव्य और रीति-काव्य के अन्तर्बाह्य के प्रति पूर्णरूपेण विद्रोही है। पन्त ने स्पष्ट कहा कि 'उस ब्रज के वन में झाड़-झंकाड़, करील-बबूर भी बहुत हैं।'...'अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हींकी संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे रह गए; कुछ उसी में बह गए।'[2] रीति-काव्य के श्रृङ्गार-भाव में नये कवियों ने वासना की स्थूलता देखी और उन्होंने उसे देश के नैतिक स्वास्थ्य एवं कलात्मक अथवा भावात्मक विकास के लिए बाधा माना।[3] यही नहीं, रीतिकाल का कला पक्ष भी अपनी कृत्रिमता के कारण नये कवि को अमाननीय था।[4]

---

१. 'परिमल' की भूमिका, पृष्ठ १७।
२. वही, पृष्ठ १४; ७।
३. वही, पृष्ठ ९।
४. वही, पृष्ठ १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी काव्य-दृष्टि भक्ति-काव्य की स्थूल आध्यात्मिकता और रीति-काव्य की नायिका-भेद-विजड़ित रूप-सृष्टि का विरोध लेकर क्षेत्र में आई और काव्य के बाहिरंगों के विषय में वह एक स्वतन्त्र वृत्ति लेकर चली। भाव, भाषा और छन्दों के विषय में गतानुगत प्रयोग उसे अक्षम्य लगे। परवर्ती रीति-काव्य की अति-आलंकारिकता उसे स्पष्ट ही अग्राह्य थी। नये काव्य का आरम्भ एक नई भाषा (खड़ी बोली) को लेकर हो चुका था, परन्तु पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका समाप्त करते हुए ठीक ही कहा कि 'हम खड़ी बोली से अपरिचित है, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा; उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए। वे केवल नाम-मात्र हैं, उनमें हमें रूप-रस-गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन से हमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला।'[1] इसमें सन्देह नहीं कि यद्यपि पन्त और निराला ने श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध के काव्य को अपना पथ-प्रदर्शक माना है, वे द्विवेदी युग के काव्य को काव्य-विकास के मार्ग में अवरोधक मानते थे। उनके लिए नया काव्य द्विवेदी युग के काव्य का ही विकास था—परन्तु द्विवेदीयुगीन काव्य की त्रुटियों से वे परिचित थे। उसमें कवि की आत्मा का आवेग नहीं था और रीतियुगीन परम्पराओं के विरोध में उसने शुष्क और नीरस गद्यात्मकता को ही काव्य मान लिया था। नई काव्य दृष्टि ने इस विषम स्थिति को परखा और उसने एक बार फिर काव्य की रसात्मकता प्रतिष्ठापित करनी चाही, परन्तु उसका कहना था कि यह रसात्मकता भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की प्रथित भूमि पर न होकर नये युग की भाव-भूमि पर पल्लवित हो—नया काव्य नये युग के प्रतीकों पर आधारित हो और उसमें नये युग की सौन्दर्य-निष्ठा तथा स्वच्छन्दता प्रस्फुटित हो।

यह तो हुई विरोध और विध्वंस की बात। परन्तु छायावादी काव्य-दृष्टि में निर्माण के तत्त्व और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में केवल विध्वंस किसी काव्य-धारा को श्रेय नहीं देता, नये काव्य-तत्त्वों और नई काव्य-भूमियों की खोज ही नई काव्य-धाराओं को महत्त्व देती है।

छायावादी काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज कवि या कलाकार के स्वतन्त्र निजी व्यक्तित्व की खोज थी। समस्त प्राचीन काव्य निर्वैयक्तिक था, छायावाद नया भावोन्मेष लाया और इसके साथ ही उसने कवि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भी घोषणा की। कवि ने प्रथम बार "'मैं' शैली अपनाई।" उसने बहिर्जगत् को अपने रंग में रँगकर देखा और अपने अन्तर्जगत् की अन्यतम भावनाओं को वाणी दी। सभी छायावादी कवियों में व्यक्तित्व पर आग्रह मिलता है। प्रसाद की 'आँसू', पन्त की 'आँसू' और 'उच्छ्वास' और निराला की बीसियों कविताएँ कवि के व्यक्तित्व का विस्फोट-मात्र हैं। राष्ट्रीय कवियों के काव्य में उनकी राष्ट्रीय आत्मा ही काव्य के रूप में ढल गई है। बच्चन के काव्य में व्यक्ति के सुख-दुःख, उसकी आशा-निराशा, उसके उपचेतन के द्वन्द्व इतनी सूक्ष्मता से आलेखित हैं कि उनका कुछ भी पाठक से छिपा नहीं रह जाता। इसी प्रकार महादेवी का रहस्यवादी काव्य उनके अन्तरंग के रंगों में और भी चमत्कारक हो उठा है। कवि के व्यक्तित्व की यह अन्यतम स्वीकृति छायावाद की विशेषता है। माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा) के शब्दों में—'काग़ज़ों, दीवारों और पत्थरों पर तो सपने उतर आए हैं, उनकी आकृतियों और आकर्षणों ने वहाँ जन्म नहीं लिया। उनके जन्म-स्थल को यशोदा की

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ ४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोद तो है,—हमारी कसमसाहट का बोझ सँभालने वाली वह दृढ़ता, जिसकी सुलग से अनन्त जीवनों की एकत्र चिनगारियाँ एकान्त में उतर पड़ती हैं; और लोहे से या बालों से बनी कलम को हिला देने पर किसी जाति का उल्लास, विलास, वेदना और बलिदान बनकर वह कागज़, पत्थर या दीवारों पर उतर आती है।[1]" इस विज्ञप्ति में कवि या कलाकार के व्यक्तित्व को उसकी सृष्टि से अभिन्न माना गया है। कवि जीवन के प्रकटीकरण की भूख का अनुभव करता है—उसकी "निकम्मी घड़ियाँ कला के अस्तित्व का श्वासोच्छ्वास हैं।"[2] कदाचित् कवि-कलाकार के व्यक्तित्व की उससे ऊँची स्थापना नहीं हो सकती जितनी माखनलाल जी के इन शब्दों में कि कलाकार "अपने युग की स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान् की प्राणवान्, प्रेरक और कल्पक कूँची है।"[3]

यह दृष्टि काव्य को क्या समझती है, यह भी देखना आवश्यक है। यह सम्भव नहीं है कि सभी कवियों की काव्य-सम्बन्धी भावना एक-जैसी हो। अतः हमें विभिन्न कवियों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए सम्भाव्य समीकरण की ओर बढ़ना होगा। प्रसाद का कहना है कि "कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न!"[4] इस प्रकार कविता में संगीत और चित्र-कला की सीमाएँ मिल जाती हैं, यह उसका बाह्यांग है। उसका अन्तरंग इससे महत्त्वपूर्ण है। कविता बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् का सम्बन्ध कराती है। उसीके द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य आत्मनिष्ठ होकर पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि कविता की भूमि मुख्यतः आध्यात्मिक है। वह चेतना का विषय है। वह आत्मा की दीप्ति है। प्रसाद के अनुसार मनन-शक्ति, वाक्-शक्ति और मनन का सम्बन्ध वाक् से जोड़ने वाली सजीवता (प्राण-शक्ति) आत्मा की तीन मौलिक क्रियाएँ हैं। काव्य तीनों को सिमेटकर चलता है। मन के संकल्प और विकल्प दो रूप हैं। विकल्प द्वारा वह तर्क-वितर्क करता है। काव्य का मूल संकल्प है, विकल्प नहीं। वह तर्कवाद पर आश्रित नहीं है। एक जानना विकल्प द्वारा होता है और एक जानना संकल्प द्वारा। वैज्ञानिक विकल्प (विश्लेषण, तर्क और परीक्षा) द्वारा जानता है। कवि का जानना प्रत्यक्ष जानना है। इसीसे उसे द्रष्टा अथवा ऋषि कहा गया है। इस प्रकार काव्य प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। उसका आधार है मन की संकल्पात्मक अनुभूति। जिस कवि में यह संकल्पात्मक अनुभूति जितनी अधिक होगी उतना ही बड़ा कवि वह होगा।

आगे चलकर प्रसाद यह भी बताते हैं कि अभिव्यक्ति और अनुभूति काव्य के दो पक्ष हैं, परन्तु अभिव्यक्ति अनुभूति से एकदम अलग नहीं है। "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है, क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होता है।"[5] "जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने पूर्ण रूप में सफल हो सकी है।" इस

१. 'साहित्य देवता' (अंगुलियों की गिनती की पीढ़ी), पृष्ठ २०।
२. वही, पृष्ठ २३।
३. वही, पृष्ठ २६।
४. 'स्कन्द गुप्त' नाटक में मातृगुप्त, १, ३।
५. काव्य, कला और अन्य निबन्ध, पृष्ठ १६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार प्रसाद काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता मानते हैं। वे कौशलमय आडंबरों या प्रयोगों के समर्थक नहीं हैं। इस प्रकार छन्द, भाषा, शैली और अलंकार काव्य-शरीर बन जाते हैं और कवि की आत्मानुभूति उसकी आत्मा। संक्षेप में, प्रसाद कविता के स्वरूप को आध्यात्मिक मानते हैं। वे उसे बुद्धिवाद से किसी भी प्रकार सम्बन्धित करने के लिए तैयार नहीं हैं। वह अनुभूतिमयी कवि-प्रतिभा का परिणाम है। कवि अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को लेकर काव्य-वस्तु से साक्षात्कार करता है।

पन्त के अनुसार "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता है; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत में ही होता है।"[1] यह परिपूर्ण क्षण वे हैं जब कवि की भावुक प्रतिभा और कल्पना पूर्णोन्मेष पर होते हैं। इसीलिए कवि कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता है और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश समझता है।

निराला की 'कविता', 'कवि', 'स्मृति-चुम्बन', 'वनबेला'-जैसी कविताओं और अनेक गीतों में कविता-सम्बन्धी उनकी भावना विजड़ित है। उनका कवि जहाँ एक ओर निर्मम संसार के सहस्रों वार झेलता हुआ, अपने सुख से मुख मोड़कर अपने आत्म-दान से विश्व को उपकृत करता है, वहाँ दूसरी ओर वह कल्पना के अतीन्द्रिय लोक में विहार करने वाला और प्रकृति के महोल्लास का भावुक द्रष्टा है।

रामकुमार वर्मा के मत में "आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक में प्रकाशित हो उठना ही कविता है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है।"[2] वे छायावाद को हृदय की एक अनुभूति मानते हैं, जो भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश करके अनन्त जीवन के तत्त्व ग्रहण करती है। प्रसाद की भाँति रामकुमार भी छायावाद को आध्यात्मिक मानते हुए जीवन में दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब खोजते हैं।

माखनलाल काव्य को कवि के व्यक्तित्व का ही प्रसार मानते हैं। कवि-कर्म में कवि का व्यक्तित्व अनजाने ही उभर आता है। इस दृष्टिकोण से काव्य और कवि दो विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। स्वच्छन्दतावादी काव्य की यह बड़ी विशेषता है कि कवि और काव्य उसमें एकाकार हो जाते हैं। "कवि विषय का मोल-तोल नहीं कूतता, वह उसी समय लेखनी उठाता है जब अपनी वेदना को लिखने का भार उससे नहीं सँभलता।" इस प्रकार माखनलाल जी काव्य में भावुकता को प्रधानता देते हैं। वह छायावाद को भंगिमा-मात्र नहीं समझते। वह वेदान्त से भिन्न, उससे बड़ी वस्तु है।[3]

महादेवी ने छायावाद पर शास्त्रीय ढंग से विस्तारपूर्वक विचार किया है। वह कविता को परिभाषा में बाँधने में असमर्थता दिखाती हैं। परन्तु छायावाद के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ सुस्पष्ट हैं। वे उसे नये छन्द-बन्धों में सूक्ष्म-सौन्दर्यानुभूति का प्रकाशन मानती हैं। उनके अनुसार

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ २४।

२. 'आधुनिक कवि', पृष्ठ ५।

३. 'साहित्य देवता', पृष्ठ १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ, इसीलिए उसने इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये। छायावाद ने रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर हमें जागरूक किया। वह मध्य वर्ग का काव्य था, अतः उसकी सामाजिक कुण्ठाओं के कारण उसके भाव-जगत् में निराशा को भी स्थान मिला। महादेवी छायावाद को संश्लिष्ट आन्दोलन मानती हैं, जिसके अन्तर्गत अनेक 'वाद' (दृष्टिकोण)[1] हैं। छायावाद के अन्तर्गत दुःखवादी दृष्टिकोण की उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है।[2] उनका विचार है कि छायावाद का जन्म बहिर्गत सामाजिक असन्तोष के अन्तर्गत रूप में हुआ और इस विद्रोह के कारण उसे सामाजिकता का अधिकार ही नहीं मिल सका। फलतः उसने आकाश, तारे, फूल, निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ा और उसी सम्बन्ध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न किया।[3]

दिनकर का आलोचनात्मक दृष्टिकोण उस समय की चीज है जब वह 'छायावाद' से 'प्रगतिवाद' की ओर बढ़ चुके थे। इसीलिए वह सुन्दर को काव्य का प्रेय मानते हैं और उपयोगिता को उसका श्रेय, एवं दोनों के ग्रन्थि-बन्धन को सत्काव्य के लिए आवश्यक समझते हैं। फिर भी अन्य छायावादियों की तरह वह कवि-प्रतिभा को एक अनिर्वचनीय और ईश्वरीय विलक्षण तत्त्व कहते हैं, जिसका सन्तोषप्रद विश्लेषण अब तक नहीं हो सका।[4]

बच्चन कवि को विश्वजनीन शाश्वत भावों का चितेरा मानते हैं। उनके शब्दों में—"कवि का हृदय केवल कवि का हृदय नहीं है। उसकी हृदय-गोद में त्रिकाल और त्रिभुवन सोते रहते हैं, सृष्टि दुधमुँही बच्ची के समान क्रीड़ा करती है और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाता है। उसका हृदयांगण गगन के गान, समीरण के हास और सागर के रोदन से प्रतिध्वनित हुआ करता है। उसके हृदय-मन्दिर में जन्म-जीवन-मरण अविरल गति से नृत्य किया करते हैं।"[5]

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि सभी छायावादी कवि काव्य को एक असाधारण, लोकोत्तर एवं आध्यात्मिक सर्जन-प्रक्रिया के रूप में देखते हैं और उनके लिए कवि एक विशेष प्राणी है। कवि का अन्तरतम उनके लिए रहस्यमय है और काव्य-प्रक्रिया को वह अनिर्वचनीय मानकर मनुष्य के शेष कार्य-व्यापारों से उसे एकदम भिन्न मानते हैं। काव्य की यह आध्यात्मिक, लोकोत्तर, रहस्यमय व्याख्या कवि के व्यक्तित्व को देवत्व प्रदान कर देती है और इसीलिए काव्य-कौशल मात्र या सचेतन कार्य-व्यापार न रहकर अलौकिकता-मण्डित बन जाता है।

छायावाद के मान्य समीक्षकों में सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, गंगाप्रसाद पांडेय, शम्भूनाथसिंह, डॉ० सुधीन्द्र और डॉ० रामविलास शर्मा अग्रगण्य हैं। इलाचन्द्र जोशी एवं डॉ० देवराज प्रभृति अनेक विद्वानों ने भी इस काव्य-धारा के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा है। उनकी मान्यताओं पर भी हमें विचार करना होगा। ये मान्यताएँ बहुत बाद में आई हैं और महादेवी जी की यह शिकायत ठीक ही है कि छायावाद को तो शैशव

१. 'आधुनिक कवि', (भाग १) पृष्ठ १०, १४, १५, १६, १८ से।
२. 'रश्मि' की भूमिका।
३. 'दीप-शिखा' भूमिका पृष्ठ १६।
४. 'मिट्टी की ओर', पृष्ठ १२५, १४७।
५. 'मधुशाला' (सम्बोधन) पृष्ठ १४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कोई सहृदय आलोचक ही नहीं मिल सका।

इन समीक्षकों में वाजपेयी जी पंडित रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता का विरोध करते हुए कहते हैं—"छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काल से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।"[1] डॉक्टर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी इस काव्य में परिपाटी विहित और परम्परा-मुक्त रस-दृष्टि के स्थान पर कवि की आत्मानुभूत आवेग धारा और कल्पना का प्राधान्य देखते हैं। "कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग—ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि वे दोनों एक-दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं।"[2] शान्तिप्रिय द्विवेदी छायावाद में कवियों की बाह्य चेतना और अन्तश्चेतना का एकीकरण देखते हैं। यद्यपि उनका यह भी कहना है कि छाया-वाद के प्रमुख कवियों ने "बाह्य चेतना को तो गौण रूप में ग्रहण किया, अन्तश्चेतना को प्रमुख रूप में।"[3] वह छायावाद को हिन्दी-काव्य-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र उसमें स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह और नवजीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं का अन्तर्मुखी और वायवी सम्मिश्रण ढूँढते हैं और प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा भावोन्मेष की अभि-व्यंजना को उसका कला पक्ष स्थिर करते हैं।[4] डॉ० रामविलास शर्मा का उनके इस दृष्टिकोण से मतभेद है। वे इस काव्य को चेतन मन की भूमि पर ही देखना चाहते हैं और उनके मत में उसमें जीवन की कुण्ठा नहीं, भविष्य की मंगलाशा ही अधिक पल्लवित हुई है।[5] डॉ० देवराज छाया-वाद के कड़े समीक्षक हैं और उनकी 'छायावाद का पतन' पुस्तक में हम उनके इसी रूप से परि-चित होते हैं, परन्तु अन्य स्थानों पर उन्होंने इस काव्य की एकांगिता का ही अधिक विरोध किया है। उसमें उन्हें जीवन के केवल वैयक्तिक पक्षों की ही विवृत्ति मिलती है; सामाजिक, नैतिक और मानवीय सम्बन्धों की विवृत्ति शिथिल है। फलतः काव्य-भूमि का प्रसार अधिक नहीं है।[6]

यह स्पष्ट है कि छायावाद के सम्बन्ध में कवियों की भाँति आलोचकों की भी स्थापना एक नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस काव्य-धारा को उसके ऐतिहासिक परि-पार्श्व में देखें और उसे अखण्डित इकाई न मानकर अनेक भाव-संवेदनाओं और काव्य-प्रक्रियाओं की संश्लिष्टि समझें। छायावादी काव्य का अन्तरंग प्राचीन काव्य-धारा की अपेक्षा अधिक व्यापक और सप्राण है। बहिरंग भी अन्तरंग में रँगकर नई वर्णच्छटाओं से विभूषित हो गया है। कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से बहिर्जगत् अन्तर्जगत् से समीकृत हो सका है और इसलिए यह सारा काव्य विषयी-प्रधान है। कवि के अपने चेतन-अचेतन, सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, हास-

१. 'जयशंकर प्रसाद' (१९४०)—भूमिका, पृष्ठ १२
२. 'रोमांटिक साहित्य' (देवराज उपाध्याय) की भूमिका, में पृष्ठ १
३. 'संचारिणी' (छायावाद का उत्कर्ष) पृष्ठ १७८, १७९
४. काव्य-चिन्तन, पृष्ठ ५३–५९
५. 'महादेवी वर्मा', (सं० शचीरानी गुर्टू,) पृष्ठ ३०१–३०५
६. 'साहित्य-चिन्ता' (छायावादी कवियों का कृतित्व), पृष्ठ १९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अश्रु ही कहीं अभिधा द्वारा, कहीं प्रतीक-भाषा द्वारा, कहीं लक्षणा द्वारा काव्य की रंग-रेखाओं में बँध गए हैं। निराला और बच्चन के काव्य में छायावादी काव्य की यह व्यक्ति-निष्ठा सबसे प्रमुख रूप में सामने आती है। परन्तु यहाँ हमें व्यक्तित्व के बहिरंग ही मिलते हैं। व्यक्तित्व की अन्तरंग-सृष्टि पन्त और महादेवी के काव्य में परिपूर्ण रूप से मिलती है।

यह काव्य स्थूल आध्यात्मिकता, वासनात्मक शृङ्गार और इतिवृत्तात्मक सुधार-भावना का विरोध करता है और पूर्ववर्ती काव्य की निर्वैयक्तिकता के समकक्ष कवि के व्यक्तित्व को उभार-कर रखता है। कवि का अन्तर्जगत् उसके बहिर्जगत् को भी नाना छवियों में रंग डालता है और हमें जो रूप-सृष्टि मिलती है, वह प्राकृतिक रूप-सृष्टि से भिन्न और विशिष्ट है। काव्य के अन्तरंग में बड़ा परिवर्तन हो गया है। मनुष्य की महान् महिमा का उद्घोष पहले-पहल इसी काव्य में हुआ है और मानवतावाद से प्रभावित होकर कवि ने दुःखों-उत्पीड़नों के विरोध में अपनी वाणी का उपयोग किया है। कवि का मानस बहिर्जगत् के द्वन्द्वों से समझौता नहीं करता और उसका उद्वेग अनेकानेक भाव-तरंगों और कल्प-विधानों में इतनी शक्ति से प्रवाहित होता है कि पाठक उस प्रवाह में बह जाता है। चित्त की यह उन्मुक्तता और कवि की यह संवेदनशीलता ही नये काव्य (छायावाद) को विशिष्ट रूप दे सकी है। प्रकृति, मानव, परोक्ष, अन्तस् का छाया-लोक, स्वप्न-कल्प और राष्ट्र-भाव कवि के मन में जिन सूक्ष्म संकल्प-विकल्प और भाव-समष्टियों का निर्माण कर सके हैं, वे ही छायावादी काव्य में निःप्रयास आलेखित हैं। छन्द, भाषा-शैली और अलंकार-विधान के क्षेत्र में कवि ने अपनी भावना के अनुरूप परिवर्तन किये हैं। जिस भावो-न्मुक्ति को उसने अपने काव्य के अन्तरंग में प्रतिष्ठित किया है, वही छन्दों में अतुकान्त, मुक्त-काव्य, विषम चरण-बन्ध आदि में नियोजित हुई है। भाषा-शैली के क्षेत्र में सभी कवि एक ही प्रकार से सजग नहीं हैं—एक ओर पन्त की तत्सम्बन्धी जागरूकता और सौन्दर्य-निष्ठा हमें मिलती है, तो दूसरी ओर माखनलाल और दिनकर की स्वच्छन्दता और कभी-कभी अराजकता भी मिलती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि अपनी भाव-सृष्टि के अनुरूप भाषा खोजने में लगा है और सब कहीं वह सफल ही हुआ है। अंग्रेजी रोमांटिक काव्य में भी वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स और स्विनबर्न में हम भाषा-शैली की यही विविधता देखते हैं। यही बात अलंकार-विधान के क्षेत्र में है। छायावादी कवियों ने निरालंकृत, भाव-संवलित मुक्त छन्द से लेकर अत्यन्त कला-त्मक, अलंकरण-प्रधान गीत-सृष्टि तक एक बड़ी काव्य-राशि हमें दी है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि के लिए अब काव्य वचन-भंगिमा या कौशल-मात्र नहीं है। वह अलंकारों में बँधना नहीं चाहता। उसकी कल्पना अलंकारों के इन्द्र-जाल को बेधकर मुक्त भाव-गगन में स्वच्छन्द विहार करती है। पन्त के सूक्ष्म भाव-कल्प से लेकर निराला के सुश्रृङ्खलित मूर्ति-विधान तक कल्पना का व्यापक विस्तार हमें छायावाद में मिलता है। संक्षेप में, छायावादी काव्य-दृष्टि व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, अनुशासन-विद्रोही, कल्पनाप्रिय और मूर्तचित्र-प्रधान है। परन्तु सम्पूर्णतः मानववादी होते हुए भी वह सामाजिक प्रक्रिया का स्पष्ट बोध न होने के कारण अस्पष्ट और रहस्यमयी ही रह गई है। फिर भी उसने अन्तस् के अजस्र स्रोतों को उन्मुक्त किया है और आधुनिक हिन्दी-काव्य को नई दिशाएँ दी हैं।

छायावादी काव्य-दृष्टि और उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी रोमांटिसिज़्म में मूल स्रोतों और उपादानों की विभिन्नता होते हुए भी बहुत बड़ा साम्य है। छायावाद की भाँति रोमांटि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिज़म की व्याख्या भी अनेक प्रकार से हुई है। उसे बुद्धि के प्रति भावना का विद्रोह (आर्नल्ड), रुग्ण साहित्य (गेटे), अपरिकल्पित रूप से असन्तुलित (ह्यूगो), मध्य युग की पुनरावृत्ति (हेन), सौन्दर्य में अद्भुत का संयोग (वाल्टर पेटर), साहित्यिक अहं (ब्रुनेतेयर), बाह्यानुभूति से हटकर अनुभूति के आभ्यन्तरिक पक्ष पर बल देने वाला साहित्य (लेसेल एवर्क्रॉम्बी) कहा गया है। प्रो० लवज्वॉय ने यह स्पष्ट कहा है कि वास्तव में रोमाण्टिसिज़म को एक निश्चित इकाई या अखण्डनीय वस्तु मानना एक गलत दृष्टिकोण है—यह शब्द ही भ्रामक है और इसमें अनेक काव्य-दृष्टियाँ समाहित हैं।[1] छायावाद के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण के अनुसार दोनों काव्य-धाराओं में समान रूप से कवि के अवचेतन मानस का चेतन मन के प्रति विद्रोह स्पष्ट रूप से आभासित है। इन धाराओं के कवि अपने मूर्त्त-विधान के लिए चेतन की अपेक्षा अवचेतन के ही अधिक आश्रित रहते हैं और वे वस्तु-जगत् से सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ होकर अन्ततः प्रकृति, कल्पनानिष्ठ सौन्दर्य, आदर्श राजतन्त्र आदि विषयों की ओर संक्रमित होते हैं।[2] यह एक प्रकार का पलायन ही है। साहित्य में यह भावस्थिति अधिक दिनों तक नहीं टिक पाती और वस्तु-जगत् के आग्रह से कवि एक बार फिर अतीन्द्रिय भाव-लोक से नीचे उतरकर जीवन के दैनन्दिक समतल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। उपचेतन का विस्फोट समाप्त हो जाता है और काव्य चेतन-मानस की बौद्धिक प्रक्रिया से समाविष्ट होकर नया रूप ग्रहण कर लेता है। समसामयिक प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य में यही बौद्धिक प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण हो उठी है।

---

१. A. O. Lovejoy—Essays in the History of Ideas (1948), P. 146.

२. F. L. Lucas—Literature & Psychology P. 99-100

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवराज उपाध्याय

उपन्यास-कला का आभ्यन्तरिक प्रयाण

यूरोप तथा अमरीका के औपन्यासिकों ने आधुनिक युग में अपनी रचनाओं में मानव-मन तथा मानव-जीवन में अनुरूपता लाने के लिए, कथा को भाषा में मनुष्य को समूर्त ला उपस्थित कर देने के लिए, उपन्यास को मनुष्य के आभ्यन्तरिक जगत् के सच्चे प्रतिनिधित्व की योग्यता तथा क्षमता से समन्वित करने के लिए भाँति-भाँति के प्रयोग किये हैं। उनकी प्रतिभा तथा रचना-कौशल के प्रभाव से उपन्यास का एक प्रकार से काया-कल्प ही हो गया है। उसकी वेश-भूषा, साज-सज्जा तथा बाह्य परिधान में ऐसा आमूल परिवर्तन हो गया है कि यदि १७वीं या १८वीं शताब्दी के उपन्यास का पाठक रिपवान विन्किल की भाँति सजग होकर आज के उपन्यासों के क्षेत्र में पदार्पण करे तो वह आश्चर्य-चकित-सा अपनी आँखें मलता रह जाय। आधुनिक काल के ऐसे अनेक औपन्यासिक हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। फ्रांस में आन्द्रे जीद एवं प्रुस्ट, इंगलिस्तान में जेम्स ज्वायस, विरजिनिया वुल्फ, जर्मनी में टोमस मैन तथा अमरीका में फॉकनर इत्यादि। इन लोगों को औपन्यासिकों का उपन्यासकार (novelist's novelist) कहा जाता है। कारण कि इनमें से अनेक ने अपने उपन्यासों के मध्य में अनेक ऐसे अवसर ढूँढ़ निकाले हैं जहाँ उन्हें अपनी कला का विवेचन करना पड़ता है और उसकी श्रेष्टता का प्रति-पादन करते हुए यह बतलाना पड़ता है कि उपन्यासकारों के लिए किस मार्ग का अवलम्बन समीचीन होगा तथा पूर्व के उपन्यासकारों की कला में उनकी दृष्टि से क्या दोष थे? पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के द्वारा मानव-जीवन का समुचित प्रतिनिधित्व क्यों सम्भव नहीं हो सका है?

आधुनिक युग विशृङ्खलता तथा बिखराहट का है। कहीं भी कोई ऐसी विशिष्टता दृष्टि में नहीं आती जिस पर अँगुली रखकर निश्चय पूर्वक यह कहा जा सके कि यही वस्तु है जो सर्व-साधारण रूप में प्राप्त होती है, यही गुण है जो अपनी सर्वव्यापकता के कारण इसे अन्य युगों से पृथक् कर देता है। उपन्यासों के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। मालूम होता है कि इस युग की अराजकता, व्याकुलता और छितराहट को प्रतिनिधित्व में विश्वास नहीं। उसे अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार किसी को देना स्वीकरणीय नहीं। पर साथ ही यह भी उतना ही ठीक है कि इस अस्त-व्यस्तता और अनियमितता की तह में एक शृङ्खला है। अतः उपन्यास-साहित्य की इन तीन शताब्दियों की गति-विधि को समझने के लिए तथा भूत, वर्तमान तथा भविष्य की स्पष्ट झाँकी लेने के लिए भी एक प्रकार का श्रेणी-विन्यासीकरण, एक व्यापक सिद्धान्त का पृथक्करण, दूसरे शब्दों में सामान्यीकरण (generalisation) नितान्त आवश्यक है।

ऐसी अवस्था में यूरोपीय उपन्यासों के लगभग तीन शताब्दियों के इतिहास को तथा हिन्दी-साहित्य की एक शताब्दी के उपन्यास की गति-विधि को देखकर हम एक ही व्यापक तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वसाधारण तथ्य निकाल सकते हैं, जिसके सम्बन्ध में न्यूनातिन्यून मतभेद की सम्भावना हो सकती है। वह यह है कि कथा साहित्य की प्रवृत्ति सदा बाहर से भीतर की ओर पैठने की रही है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर रही है। इसका इतिहास बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने का इतिहास है। यूरोपीय कथा की बात ही छोड़ दीजिए। वहाँ तो कथा-साहित्य के मानव-मनोभूम्यन्तर्गत प्रयाण की प्रवृत्ति अतिचरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है और इसके कारण उपन्यासों में कल्पनातीत परिवर्तन हो गए हैं; वैसे परिवर्तन, जिनको देखकर चिन्तनशील आलोचक उसके भविष्य के बारे में सशंक हो उठे हैं। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का साधारण से-साधारण पाठक भी इस बात से अपरिचित नहीं कि अब उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर केन्द्रित नहीं कि उनके पात्र क्या करते हैं। वे इससे आगे बढ़कर इस बात को अपना लक्ष्य बना रहे हैं कि उनकी विचार-प्रक्रिया क्या है, वे क्या सोचते हैं और कैसे सोचते हैं। उनकी सूक्ष्म मूल प्रेरणा क्या है। यही एक राज-मार्ग है, अर्थात् मनोभूम्यन्तर्गर्भित्व का मार्ग; जिस पर उपन्यास नियमित रूप से प्रगति करता आया है। उपन्यास में उसके प्रचलित नियमों में, कन्वेंशन में, कथा सौष्ठव के निरन्तर ह्रास में, भाषा के लचीलेपन में, उपन्यासों की व्याख्यात्मकता में जो-कुछ भी परिवर्तन हो गया है, इन सबका मूल कारण है उपन्यासों में निरन्तर प्रगतिशील आन्तरिकता की प्रवृत्ति। अंग्रेजी उपन्यास-साहित्य के सिंहावलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस आभ्यन्तर-प्रयाण-यात्रा में उसे तीन या चार युगों को पार करना पड़ा है। अर्थात् इस आन्तरिक प्रवृत्ति की माँग के कारण, इसके जबरदस्त तकाजे की वजह से उसे (उपन्यास-कला को) चार रूप धारण करने पड़े हैं।

प्रथम युग उन उपन्यासों का है, जिन्हें अंग्रेजी में 'पिकारेस्क' (picaresque) और 'ऐपीसोडिक' (episodic) उपन्यास कहते हैं। इनमें किसी व्यक्ति की साहसिकता से पूर्ण आश्चर्य-चकित कर देने वाली कथाओं की माला गुँथी हुई रहती है। ये कथाएँ एक प्रकार से अपने में स्वतन्त्र हैं, यदि इन्हें स्वतन्त्र रूप में भी देखा जाय तो इनके स्वरूप की हानि नहीं होगी। यदि इनमें थोड़ी सम्बद्धता का आभास मिलता है तो केवल इतना भर ही कि नायक को इन घटनाओं के मध्य से होकर गुजरना पड़ता है। उसके जीवन में वे घटनाएँ ही घटित हुई हैं, जिनसे उसका कुछ सम्बन्ध है। एलिजावेथन युग के कथाकार टामस नाशे (१५६७-१६०१) तथा डिलोनी (१५४३-१६०७) के उपन्यास तथा १८वीं शताब्दी के डीफो और स्मॉलेट इत्यादि इसी श्रेणी के उपन्यासों के निर्माता की श्रेणी में आयँगे। इन उपन्यासों में पात्रों में चरित्र-चित्रण का अभाव-सा है, उनमें उनकी मात्र बाह्य रूप-रेखा ही देखने में आती है। मानो वे ऐसे नर-कंकाल-मात्र हों जिनमें प्राणों का स्पन्दन नहीं। उनके क्रिया-कलापों का वर्णन अवश्य है, पर उस अनुचिन्तन के प्रति औपन्यासिक सर्वथा उदासीन है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए वे रूप धारण करते हैं। औपन्यासिकों की दृष्टि इस बाह्यात्मकता में इस प्रकार उलझी हुई है कि उन्हें अन्दर झाँकने की न तो चिन्ता ही है और न शक्ति ही। प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व तक हिन्दी में भी कुछ इसी से मिलती-जुलती अवस्था थी।

दूसरा युग 'प्लाट-नावेल्स' (plot novels) का है अर्थात् ऐसे उपन्यासों का, जिनका कथा-भाग सुन्दर और सुसंगठित होने के साथ-साथ एक विशेष विचार और अनुभूति से प्रभावित हो। इनमें भी पात्रों की बाह्य क्रियाओं का उल्लेख अवश्य होता है, इनके पात्र भी संसार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगमंच पर अभिनय-निरत अवश्य दिखलाये जाते हैं। पर अब औपन्यासिकों के दृष्टिकोण में एक परिवर्तन अवश्य परिलक्षित होने लगा है। वे बाह्य क्रिया-कलापों के साथ उनकी मूल अन्त-प्रेरणाओं को भी देखने लगे हैं। वे अब इतनी-सी बात कहकर ही सन्तोष नहीं कर लेते कि पात्रों ने 'क्या' किया, पर आगे बढ़कर यह भी बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि 'कैसे' किया और 'क्यों' किया। यदि मनोविज्ञान की शब्दावली में हम अपने विचार प्रकट करें तो हम यों कह सकते हैं कि 'प्लाट-नावेलिस्ट' का सम्बन्ध 'किम्' तक ही सीमित नहीं रहता, वह इतना ही बतलाकर रुक नहीं जाता कि पात्रों ने 'क्या' किया, पर 'कैसे' और 'क्यों' को भी बतलाता है अर्थात् यह बतलाता है कि बाह्य क्रियाएँ 'किस प्रकार' सम्पादित हुईं और 'क्यों' हुईं। इन उपन्यासकारों को हम मनोवैज्ञानिकों के रूप में देखने की कल्पना करें तो इतना ही कह सकते हैं कि प्रथम युग के उपन्यासकार रचनावादी (structuralist) हैं और दूसरे युग के उपन्यासकार प्रक्रियावादी (functionalist) हैं। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९वीं शताब्दी के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में इन तीनों को अपनी सीमा में समाहित करने वाले उपन्यासों की रचना हुई। यह रिचार्ड्सन और फिल्डिंग का युग था। इन लोगों की प्रतिभा के स्पर्श से 'प्लाट-नावेल' का रूप निखरकर सामने आया। जहाँ तक रूप-विन्यास, बाह्य संगठन और गृह-निर्माण का प्रश्न है इन उपन्यासों पर नाटकों का ऋण अधिक है और प्रथम श्रेणी के उपन्यासों पर महा प्रबन्ध-काव्य (Epic) का। रिचार्ड्सन ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'क्लारिसा' को नाटकीय वर्णन कहा है। हिन्दी में उपन्यास-कला के इस रूप का प्रतिनिधित्व प्रेमचन्द के उपन्यास में पाया जाता है।

इसके पश्चात् अंग्रेजी उपन्यास-कला का तीसरा चरण उठता है। इसमें द्वितीय युग के प्लाट-प्रधान उपन्यासों ने बाह्य क्रिया-कलापों को आन्तरिक कारणों से सम्बद्ध करके देखा है और इस प्रकार उनमें मानव-मानसिकता का अंश अधिक आ सका है; पर फिर भी उनमें आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व का दर्शन नहीं हो सका। प्रथम युग के पात्र व्यक्ति न होकर जाति (type) होकर ही रह गए। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का कुछ अंश आया अवश्य। द्वितीय युग के उपन्यासों को अवश्य चरित्र-प्रधान उपन्यास कहा जा सकता है, पर इसी सीमित अर्थ में कि इस वैविध्यपूर्ण मानव की अनेकरूपता में से कुछेक विशेषताओं को चुनकर पात्रों के व्यक्तित्व में उन्हींकी क्रियाएँ दिखलाई जाती थीं और उनसे विपरीत पड़ने वाले जितने गुण थे उनको निर्ममतापूर्वक उखाड़कर फेंक दिया जाता था। इन उपन्यासों में पात्रों के जो नाम दिये गए हैं—जैसे मिस्टर अल्वर्दी (Alworthy), मिसेज आनर (Mrs. Honour)—वे ही इस बात का प्रमाण हैं कि उनका व्यक्तित्व अभी पूर्ण रूप से उभर नहीं सका है। पात्रों को पेचकश से दबाकर उन्हें एक साँचे में ढाल दिया जाता था, उनका जीवन-प्रवाह एक बँधी-बँधाई प्रणाली से प्रवाहित होता रहता था। कहीं भी किसी भी प्रकार की विषमता तथा असंगति खोजने पर नहीं मिलती थी। वे चट्टान की भाँति दृढ़ स्वभाव, उन्नत-चरित्र और महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न होते थे। दूसरे शब्दों में वे समतल (flat) होते थे, गोल (round) नहीं। उनमें किसी भी प्रकार के विकास का अवसर नहीं था। वे जो थे सदा वैसे ही बने रहते थे। इससे इतना लाभ अवश्य हुआ कि उपन्यासों ने एक सौष्ठवपूर्ण सुगठित रूप पाया, पर वह एक ऊपर से बाहर से चिपकाई हुई वस्तु ही रही, अन्दर से विकसित होने वाली नहीं। बाह्य दृष्टि से पूरी मुक्ति हो नहीं सकी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उपन्यासों के पात्र का व्यवहार किसी बाहरी उत्तेजना (stimulus) के प्रति आचरणवादी प्रतिक्रिया (behaviouristic response) के रूप में होता था। अतः इनके पात्रों में बुद्धि का विलास, विवेक, ज्ञान, बौद्धिकता का दर्शन तो हो गया था पर उन शक्तियों का पता नहीं चलता था जो मानवात्मा के किसी रंहःस्थल से रहस्यात्मक रूप से निकलकर हमारे बुद्धि-विवेक पर छा जाती हैं, उन्हें अभिभूत करके, उसकी गति को अप्रत्याशित ढंग से मोड़ देती हैं, एक अपरिकल्पनीय पथ का पथिक होने के लिए विवशता उत्पन्न कर देती हैं। पर इन असंगतियों तथा मनुष्य की रहस्यमयी शक्तियों की ओर उपन्यासकारों का ध्यान जाने लगा और उपन्यास-कला के तृतीय युग का प्रारम्भ हुआ।

इस तृतीय युग की मुख्य प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मेरिडिथ और हेनरी जेम्स के उपन्यासों में प्राप्त होता है। प्रथम युग में बाह्य क्रिया-कलापों की प्रधानता थी, द्वितीय युग में क्रियाओं के साथ आन्तरिक प्रेरणाएँ भी साथ लग आईं। समय के साथ मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती गई और एक वह भी समय आ गया कि उपन्यास-कला, जो कुछ शेष बाह्यात्मकता थी उससे भी मुक्त होकर, अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप (subjective aspect of experience) के आधार पर ही अपने स्वरूप का विस्तार करने लगी। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि मनुष्य के अन्तर्जगत् में अनेक परस्पर-विरोधी आलोड़न-प्रतिलोड़न, घूर्णन-प्रतिघूर्णन, तनाव, कस-मकस, संघर्ष की रस्साकसी चला करती है और हमारी बाह्य कियाएँ इन्हीं क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं के परिणाम हैं। उपन्यास-कला अपने विकास-क्रम में बाह्य क्रियाओं के साथ ही आन्तरिक संघर्ष और तनाव तक पहुँच गई थी। अब बाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्त होकर आन्तरिक रहस्यमयी प्रवृत्तियों को ही अपनाकर वहीं जमकर बैठ जाना बड़ी ही सहज क्रिया थी और उसने यही किया भी। उसने एक पद उठाया नहीं कि बाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्ति पाकर शुद्ध मानसिक जगत् की सीमा में आ पहुँची और वह मनुष्य के अचेतन प्रदेश में प्रवेश करने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रवृद्धमान विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों की विद्युज्ज्योति उसके हाथ में थी और उसीके आलोक में वह मानवात्मा के अन्तरतम प्रदेश में बैठती ही चली गई, और वहाँ की कड़ाह की भाँति उबलती हुई भावनाओं को उसने अपने यहाँ स्थान दिया।

परन्तु अपने चतुर्थ युग में, आधुनिकतम युग में उपन्यास-कला की अन्तर्प्रयाण-प्रवृत्ति, जिसने १८वीं शताब्दी में उसे यात्रा के लिए प्रेरणा दी थी, आज उसे और भी आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। फ्रायड, एडलर, जुग, वर्गसाँ तथा आइन्स्टाइन इत्यादि विभूतियों ने मानवात्मा के अन्तर्प्रदेश में भी न जाने कितने स्तरों का आविष्कार किया है और कर रहे हैं। उपन्यास-कला(कदाचित् चल-चित्रों के अतिरिक्त) अपने क्षेत्र में सबसे नूतन है? उसमें यौवन का उद्दाम वेग है और वह अपनी उमंग में आकर किसी भी संकट, विपत्ति या भय का सामना करने के लिए तत्पर है। एक विचारक के शब्दों में "हम उपन्यास-लेखकों, थोड़ा बढ़कर कहिये तो जीवन-लेखकों, के लिए कितने सौभाग्य की बात है कि किसी ऐसे आधुनिक अरस्तू ने अवतार नहीं लिया जो दृश्य-काव्य के प्राचीन लेखकों की भाँति उपन्यासों की भी गति को कार्य, समय और स्थान के समक-त्रय के जकड़कर रख दे। अतः किसी अरस्तू के 'सिर' पर नहीं रहने के कारण उपन्यास-कला को 'परम स्वतन्त्रता' रही, उसे विद्वत्ता और पाण्डित्य के लौह-कारागार को तोड़ने में शक्ति का अपव्यय नहीं करना पड़ा। अतः उसे भाँति-भाँति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहसिकतापूर्ण प्रयोगों, नई-नई रूढ़ियों और टेकनीकों को आजमाने तथा उनकी सम्भावनाओं के अनुसन्धान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।''

तृतीय युग में हेनरी जेम्स की उपन्यास-कला ने मानव के अचेतन प्रदेश की भावनाओं की अभिव्यक्ति को अपना लक्ष्य अवश्य बनाया था, पर फिर भी वहाँ की जो प्रतीकात्मक अनुभूतियाँ थीं वे ऐसी थीं कि जिन्हें शब्दों के जाल में, भाषा के बन्धन में लाकर मूर्त किया जा सकता था, उन्हें प्रेषणीय बनाया जा सकता था, उनके स्वरूप का कुछ आभास दिया जा सकता था, चाहे इस प्रयत्न में इन 'नाति परिचित' भावों का आनुरूप्य प्राप्त करने की साधना में भाषा को अपने अन्तिम बूँद तक ही क्यों न निचुड़ जाना पड़े। परन्तु मानवात्मा की आन्तरिक गहराई में प्रतीकात्मक अनुभूतियों की लहरें उठती हैं, उनके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे शाब्दिक ही हों, ऐसी हों कि शब्दों के साँचे में ढाली जा सकें अथवा वाणी के सहारे अपनी अभिव्यक्ति को मूर्त कर सकें। नहीं, वे स्पर्श-संवेद्य, घ्राण-संवेद्य, रसना-संवेद्य भी हो सकती हैं। उनके सूक्ष्म जीवन की एक वह अवस्था भी हो सकती है, जिसमें वे देश, काल और गति से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता में अवस्थित हों। आज के मनोवैज्ञानिक तथा उनसे संकेत पाने वाले औपन्यासिक इसी मानसिक क्षितिज की अचल तथा जीवन की समीपतम रेखा को पकड़ने के प्रयत्न में हैं, जिन्हें पकड़ पाने के सारे प्रयत्न फीके पड़ते रहे हैं। हेनरी जेम्स के साथ उपन्यास-कला जीवन की कितनी गहराई में क्यों न प्रवेश कर गई हो, पर चेतन मस्तिष्क की आधिश्रयणिक (focal) किरणों की एक पतली रेखा वहाँ भी पहुँचती थी, विवेक का हल्का स्पर्श वहाँ भी पड़ता ही था। पर आज का औपन्यासिक आगे बढ़कर उस दिवा-स्वप्न देखने वाले मस्तिष्क की पारिपार्श्विक दृष्टि (marginal vision) को ही साथ में रखेगा। उसकी धारणा में वर्गसाँ की फिलासफी के कारण महान् क्रान्ति हो गई है।

वर्गसाँ का आधारभूत सिद्धान्त है कि सत्ता निरन्तर परिवर्तनशील है। वह आगे बढ़ती रहती है। पर यह परिवर्तनशीलता मूल जड़ गति नहीं, पर चिर सृजनशील, स्वतः स्फूर्त जीवनोत्पलव (elan vital) है। सत्ता की वह परिवर्तनशीलता उसकी सृजनशील प्रक्रिया की अविराम नैरन्तर्य स्वानुभूति के द्वारा ही जानी जाती है, बुद्धि के कारण नहीं। संसार के पदार्थों का ज्ञान सापेक्षिक होता है, हम एक वस्तु को अनेक वस्तुओं की अपेक्षा में ही जानते हैं। अन्य वस्तुओं का हमारा ज्ञान ऊपरी और बहिरंग-स्पर्शी होता है; पर स्वानुभूति के द्वारा हम इस काल के चिरन्तन प्रवाह में अपने 'स्व' के बारे में आभ्यन्तर और प्रगाढ़ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धि सत्ता की गति को अनेक बिन्दुओं में विभक्त कर देती है और समझती है कि वह इन्हें जोड़कर गति को बना लेगी; पर यह भ्रान्त धारणा है। जीवन एक तरल इकाई (fluid whole) है, जिसका प्रत्येक क्षण भूत में प्रलम्बित तथा भविष्य में प्रोक्षेपित है। किसी वस्तु के ज्ञान तथा उसकी अभिव्यक्ति में सदा पृथक्त्व रहता है। इन सिद्धान्तों ने हमारे दृष्टिकोण में एक क्रान्ति पैदा कर दी है। इनको लेकर चलने वाले उपन्यासों में तो काया-कल्प का ही वातावरण उपस्थित हो गया है। आजकल के उपन्यासों का प्रमाण-वाक्य यह है, जीवन व्यवस्थित रूप से सजाई गई दीप-मालिका नहीं है वह तो ऐसा ज्योति-मण्डल है, जो हमारी चेतना को आद्यन्त अपने झीने और अर्द्ध-पारदर्शक आवरण से आच्छादित किये रहता है। क्या औपन्यासिकों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे इस परिवर्तनशील, अज्ञेय तथा स्वच्छन्द जीवनोच्छ्वास को विशुद्ध रूप में यथासम्भव बिना किसी विदेशी और बाहरी वस्तु के मिश्रण के पकड़ें,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे प्रेषणीय बनायें; चाहे उसमें कितनी ही असंगतियों या जटिलताओं का समावेश क्यों न हो। भीतर झाँककर देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन एतादृक् (like them) से बहुत दूर की चीज है। किसी दिन के किसी भी एक क्षण को ध्यानपूर्वक देखो, मस्तिष्क पर असंख्य संस्कारों की छाप पड़ती रहती है, कुछ क्षुद्र, असंगत, क्षणिक और बोधातीत और कुछ इतनी स्पष्ट कि मानो इस्पात की सुई की नोक से खोदी हुई हों। मस्तिष्क के इसी चिर लघु, पर साथ ही चिरंजीवी क्षण को अपने कला के जाल में, भाषा के जाल में पकड़कर उसकी गतिशीलता को अभिव्यक्त करना आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की साधना के लिए उपन्यास-कला को कितने नाच नाचने पड़े हैं, उसे कितने रूप धारण करने पड़े हैं, यह श्रीमती विर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, मार्शल प्रुस्ट और आन्द्रे जीद के उपन्यासों को पढ़ने से पता चलता है।

उपन्यास-कला की मानव-मनोक्षेत्रान्तर-प्रयाण की प्रगतिशील यात्रा की चर्चा हमने ऊपर की पंक्तियों में की है। इस यात्रा के कारण उपन्यास में क्या परिवर्तन हुए इस दृष्टि से विचार करते समय सर्व प्रथम हमारा ध्यान उनकी रचना की ओर जाता है। यहाँ रचना शब्द का प्रयोग हमने उस अर्थ में किया है, जिसके लिए अंग्रेज़ी में texture शब्द का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक यह भी कर्तव्य है कि वह आधुनिक युग के प्रभाव के कारण जटिल-से-जटिलतर होते जाने वाले पात्रों तथा साथ ही पाठकों का साथ दे सकें। उनके साथ न्याय कर सकें, उनके समानधर्मी हो सकें। दूसरे शब्दों में वह इस रूप में पाठकों के सामने न उपस्थित हों कि वे उसको असमान-धर्मी, विदेशी तथा अन्य लोक का प्राणी समझकर उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखें। इसी समान-धर्मत्व के कारण अरस्तू ने 'समक-त्रय' वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यूरोप के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के सिद्धान्तों के साथ-साथ इस समक-सिद्धान्त के पालन का आग्रह बढ़ता सा गया है। और यह बात उस समय से स्पष्ट होती गई है जिस समय में द्वितीय युग रहा है। मनोवैज्ञानिकता का प्रवेश तो रिचार्ड्सन और फिल्डिंग के समय से ही हो गया था, मनुष्य को सप्राण, सजीव और सहृदय प्राणी के रूप में देखने की प्रवृत्ति तो उनके साथ ही प्रारम्भ हो गई थी। परन्तु उनकी कथा इतनी विस्तृत होती थी कि उनकी रचना (texture) में घनत्व, प्रगाढ़त्व के लिए अवसर ही नहीं हो सकता था, उनके चित्र में घनत्व नहीं हो सकता था, उनके बन्ध में कसावट हो ही नहीं सकती थी। हाँ, उनके गठन (structure) में संपुटित गाढ़त्व भले ही हो और वह होता भी था। हेनरी फ़िल्डिंग के उपन्यासों से बढ़कर कथा-भाग के सौष्ठव में अधिक चमत्कार देखने को कहाँ मिल सकता है। पर साथ ही रचना (texture) का विरलत्व, झीनापन, छिद्रता (यदि इस शब्द के प्रयोग की अनुमति मिले तो) भी इनसे अधिक कहाँ मिल सकती है। यदि एक छोटे-से उपन्यास की सीमा में एक पूरे युग का अथवा एक मनुष्य के पचास-साठ वर्षों के लम्बे जीवन का चित्रण करना उद्देश्य हो तो उपन्यासकार बहुत-सी मानसिक या शारीरिक घटनाओं का परित्याग करके कुछ मुख्य-मुख्य घटनाओं को ही स्थान देने के लिए बाध्य है, विवश है। पर दूसरी ओर उन उपन्यासों को लीजिए जिनमें कथा की अवधि बहुत ही छोटी है। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं के निर्वाचन में उतनी स्वतन्त्रता से काम नहीं लिया जा सकता, इनमें छोटी-छोटी-सी घटनाओं की भी विस्तृत विवृति की विवशता और लाचारी उसी रूप में आती है जितनी कि प्रथम वर्ग के उपन्यासों में उन्हें परित्याग करने की। प्रथम वर्ग के उपन्यास पाठक में गाढ़ बन्धत्व, बुनाई के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाढ़ेपन, प्रतिभा की सूक्ष्मदर्शिता के भाव नहीं जगा सकेंगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासों की श्रेणी में जेम्स ज्वायस, विर्जिनिया वुल्फ इत्यादि के उपन्यास आयँगे। जेम्स ज्वायस के 'युलिसिस' नामक बृहत्काय उपन्यास में केवल एक व्यक्ति की २४ घण्टे की कथा है, विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास 'मिसेज़ डाली बाई' में केवल तीन घण्टे की कथा है; और तो और फिलिप टायनवी के 'टी विद मिसेज़ गुड मैन' (Tea with Mrs. Good Man) में केवल एक घण्टे की ही हद हो गई कि हेरिस मेकाय के उपन्यास 'दे शूट हार्सेज़ डोंट दे' (They shoot Horses, Don't they ?) में तो दो-तीन मिनट की ही कथा है, एक आदमी को दो-तीन मिनट बाद ही प्राण-दण्ड की सज़ा सुनाई जाने वाली है, इसी बीच में जो स्मृतियों की आँधी उठी है उसे यहाँ बाँधने का प्रयत्न किया गया है। आँधी को बाँधने की कल्पना भी कम रोचक नहीं। इस श्रेणी के औपन्यासिकों को बुद्धिपूर्वक, सावधानी से, सतर्क होकर अपनी कला के सौन्दर्य के अनुरोध से कथा की अवधि को और उसकी तीव्र गति को सीमित करना ही पड़ता है, जिससे कि वास्तविक जीवन के विचारों और भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति में अधिकतम सामीप्य और अनुरूपता आ सके।

परन्तु औपन्यासिक को इस परिस्थिति में ही संकटपूर्ण समस्या का सामना करना पड़ता है। उपन्यास अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कथा की माँग करता है, कला की अन्तर्प्रयाणिनी प्रवृत्ति बाह्य क्रिया-कलापों के उच्च शिखरों की दृढ़ता को सन्देह की दृष्टि से देखकर मूल प्रवृत्तियों की तरलता को ही अपनाना चाहती है और तिस पर पाठक है, जो उपन्यास के प्रति अपने सन्देह को सहज ही में स्थगित करने के लिए तैयार नहीं। उपन्यास के सुरम्य स्थलों में विचरण करते हुए हरित शाद्वलों का रसोपभोग वह अवश्य करता है। पर सतर्कतापूर्वक उसके कान भी खड़े रहते हैं, जहाँ कहीं भी कुछ खटका हुआ नहीं कि वह भागा। दो स्वामी की ही सेवा कठिन कही जाती है। यहाँ औपन्यासिक को तीन स्वामियों की सेवा करके उन्हें संतुष्ट रखना पड़ता है। "अहो भारो महान् कवेः" अतः उसने अपने में इस भार-वहन की योग्यता लाने के लिए परिस्थितियों और उत्तरदायित्व के अनुरूप लचीलापन लाने के लिए टेकनीक, शिल्प-विधि आविष्कार कर लिए हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—पूर्वदीप्ति (flash-back), चेतन-प्रवाह (stream of consciousness), काल-विपर्यय (Time shift).

पूर्व-दीप्ति (flash back) में भी पात्र के जीवन की घटनाओं का वर्णन रहता है। परन्तु अन्य पुरुष वाले उपन्यासों के एक सर्वज्ञ और सर्व-समर्थ उपन्यासकार दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न संजय की तरह 'महाभारत' के रण-क्षेत्र के दृश्यों के क्रमिक उल्लेख की ऋजु, और सीधी रेखा न खींचते हुए यह उपन्यासकार पात्रों के मस्तिष्क में उठी हुई स्मृति-तरंगों के रूप में उपस्थित करेगा। महा प्रबन्धकाव्य (epic) के नियमों का अनुवर्तन करने वाली १८ वीं शताब्दी की घटना वैचित्र्यपूर्ण कथाएँ हों अथवा नाटकों की तरह कार्य के आदि-मध्य-अवसान के संकेत पर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने वाले १९ वीं शताब्दी के सुसंगठित प्लाट-नावेल (plot novel) हों, सबमें प्रगति की एक सीधी प्रणाली होती थी। यदि इन उपन्यासों को एक माला के रूप में देखें तो ऐसा मालूम होगा कि ये दाने-ही-दाने दिखलाई पड़ रहे हैं। सूत का पता ही नहीं है। ऐसा नहीं लगता कि सुमेरु के हृदय से रस का स्रोत बह चला हो। पर पूर्व-दीप्ति (flash back) पद्धति में उपन्यास वर्तमान से सम्बद्ध या उसे सार्थकता प्रदान करने वाली घटनाओं को पात्रों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मृति-खण्ड के रूप में बिखेरता चलता है। ऐसे उपन्यासों में कथा की अवधि छोटी अवश्य होती है, पर किसी-न-किसी रूप में जीवन के बृहदंश की घटनाएँ वहाँ स्थान पाती ही हैं। परन्तु अपनी ऐतिहासिकता का परित्याग करके, अतीत का चोला उतारकर, वर्तमान का बाना धारण करके सामने आने के कारण उनकी वह खुरदराहट, जो पाठक को खटकती थी, बहुत अंशों में दूर हो जाती है। ये घटनाएँ इस पद्धति से उपस्थित किये जाने के कारण मुख्य कथा भाग से अलग पड़ी हुई वस्तु न रहकर उसीके प्राणों की एक साँस बन जाती हैं, उसकी अपनी हो जाती हैं, सजातीय और सधर्मी। वास्तव में देखा जाय तो घटनाओं को इस प्रकार से सुसज्जित कर देने से उनमें मानवीयता, या कहिए मनोविज्ञान का सन्निवेश अधिक हो जाता है, उसमें एक वर्तमानता आ जाती है, जो केवल वर्तमान ही नहीं रहती पर उससे अधिकतर समृद्ध, पुष्ट, और चमत्कृत वर्तमानता होती है। वर्तमान क्षण तो अपने में अति क्षुद्र, अल्प और क्षणिक होता है पर यदि वह अतीत को अनुप्राणित करके, अर्थात् अपनी साँस उसमें फूँककर, उसे सप्राण करके उसके कन्धे पर बैठ सके तो बहुत ही भव्य और विशालाकृति का दृश्य खड़ा कर सकता है। हमने देवदत्त को देखा और हमें ज्ञान हुआ कि "अयं देवदत्तः" बाद में दस वर्षों के पश्चात् फिर उसे बनारस में देखा और हमें ज्ञान हुआ "सोऽयं देवदत्तः" अरे यह वही देवदत्त है। यह ज्ञान, जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है, पूर्व वाले ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। परिचित वस्तु के पुनः दर्शन के समय अतीतान्वित वैशिष्ट्य सहित जो प्रतीति होती है वही प्रत्यभिज्ञा है; कहना नहीं होगा कि यह प्रतीति उस प्रतीति से कहीं भव्यतर है, उच्चतर है जो अतीत की तात्कालिकता में हुई होगी। अतः आज की उपन्यास-कला अपनी प्रधान पर लघु और सीमित कथा को इस प्रत्यभिज्ञा-समन्वित अतिरिक्तापेक्षत्व को भी साथ-साथ दिखलाकर उद्दीप्त कर देने की योजना करती है और मानो कहती है कि मैं या मेरी कथा "गर्द राह" या तिनका भले ही हो पर आँधी के साथ जो है, इसमें झंझा के मत्त झकोरों का उन्माद मिला हुआ जो है। इस दृष्टि से 'शेखर' में भी कथा है इसे कौन अस्वीकार करेगा, पर आप कल्पना करें कि यह कथा एक रात के घनीभूत विजन के रूप में देखी न जाकर और प्रत्यभिज्ञा-पद्धति पर कही न जाकर उसी एक सीधी लकीर पर चलने वाली पद्धति पर कही जाती तो वह कितना न कुछ खो देती। इस पद्धति को आज का औपन्यासिक जाने या अनजाने रूप से अपनाता चला जा रहा है। अंग्रेजी में हेनरी जेम्स तथा मेरिडिथ इत्यादि की रचनाओं को इस पद्धति का पूर्ण अवलम्ब मिला है। जो हो, आज का उपन्यास, समय के उत्पीड़न, यथेच्छाचार, अत्याचार (tyranny) के निगड रज्जु-पाश से आज बहुत-कुछ मुक्त है, जिसने उसके प्राणों को निकालकर सुन्दर जापानी मुनुआ बना डाला था। हिन्दी के एक उपन्यासकार हैं नरोतमप्रसाद नागर, उन्होंने अपने उपन्यास में 'दिन के तारे' (यही उपन्यास का नाम है) उगा दिए हैं। इसमें भी यद्यपि उपन्यास के प्रधान कथा-भाग की अवधि का उल्लेख नहीं किया गया है। पर यह अवश्य है कि यहाँ पर भी उपन्यास का कलेवर इस पूर्व-दीप्ति (flash back) द्वारा पुष्ट हुआ है। शशि, शान्ति या आशा की कथा सीधी न प्राप्त होकर, अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा न करती हुई मुख्य कथा की गोद में ही फलती-फूलती दिखलाई गई है, अतः खटकती नहीं। उसी प्रकार जिस प्रकार कि माँ की गोद में चिपके बालक का पार्थक्य बहुत-कुछ माँ के साथ घुलकर तदाकार-सा ही दीख पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नूतन ढंग के उपन्यासों में भी अतीत की घटनाओं का महत्त्व नहीं है। कथा की अवधि भले ही छोटी हो, एक घण्टे की या एक दिन की। पर इस छोटी-सी अवधि का भी महत्त्व इसी-में है कि वह अपने भूतपूर्व इतिहास की सृष्टि है, उसके वर्तमान रूप के निर्माण में इतने बड़े विशाल अतीत का हाथ है। पात्र का वर्तमान रूप, उसके मनोभाव, प्रतिक्रिया, विचार, इच्छा, अनुभूति सब अतीत से सम्बद्ध हैं, अतः उनसे कोई औपन्यासिक अपना पिण्ड छुड़ा नहीं सकता; उनको स्थान देना ही होगा। हाँ, ऐसे उपन्यासों में वे अतीत की घटनाएँ पहले के उपन्यासों की भाँति तिथिवार पुरावृत की तरह सजाकर नहीं रखी जायँगी, वे पात्रों के मन से छनकर आयँगी, पात्रों की वर्तमान स्मृति-तरंग की लहरों पर तैरती हुई आयँगी। अर्थात् वे वर्तमान होकर आयँगी, उनका अतीतपन दूर हो जायगा। वे बाहर से चिपकाई चीज न होकर वर्तमान का अंग बन जायँगी। और इस ढंग से उपस्थित किये जाने के कारण, अर्थात् पात्र जो गत घटनाओं पर जीने वाला न रहकर एक परिवर्तित द्रष्टा हो गया है, एक उसकी प्रत्यभिज्ञा या मानसिक प्रतिक्रिया में निमज्जित होकर आने के कारण "काक पिक" होकर "बक मराल" हो गया है। अतीत वर्तमान से होकर वर्तमान के आलोक में पीछे मुड़कर देखा गया है, अतीत को अतीत बनाए रखकर उसके अधिकार को अक्षुण्ण रखकर आगे की ओर नहीं देखा गया है। जैसा कि प्राचीन औपन्यासिक करते आ रहे थे। वास्तव में देखा जाय तो उपन्यास-कला की प्रगतिशील मनोवैज्ञानिकता और आत्मनिष्ठता ने घटनाओं को घटनाओं के रूप में नहीं रहने दिया है। वे तो अब पात्र के मनोवैज्ञानिक चित्र के आधार-मात्र रह गई हैं। जो हो, इतना अवश्य है कि जिन उपन्यासकारों ने थोड़ी भी उपन्यास-कला की आत्मनिष्ठता, अन्तर्प्रयाण (inward march) की गति को पहचाना है, उनकी वर्तमानता की छोटी लौ को अतीत के क्षेत्र में ले जाकर उद्भासित करते रहने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है।

यद्यपि इस पद्धति से उपन्यास-कला को बहुत सहायता मिली है पर आगे बढ़ने पर, इसकी शक्ति की परीक्षा होने पर इसकी सीमाएँ भी सामने आईं। यह पता चलने लगा कि जहाँ इस प्रयोग से अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो सकीं, वहाँ उसकी ऐसी त्रुटियाँ भी दीखने लगीं, जिनका परिमार्जन आवश्यक था। इस पद्धति से उपन्यास की समग्रता में आनुपातिकता और सन्तुलन की स्वरूप-हानि होती थी। दूसरी बात यह है कि इनके द्वारा पाठकों के अन्दर अभिनयशील साक्षात् और तात्कालिकता के भाव की भ्रमोत्पत्ति में बाधा होती थी। कारण कि कथा के एक बृहदंश का चित्रण इस ढंग से होता था, मानो वे हो गए हों, वे भूत हों, निष्ठा प्रत्यय (क्त, क्तवतु) का विषय हों, परन्तु प्रधान कथा के होते हुए वर्तमान में 'भवन्' रूप में 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्ययों के विषयीभूत में उपस्थित किया जाता था। इस तरह कथा को दो क्षेत्रों में पाँव रखने के कारण उसमें थोड़ा असंतुलन आ जाना स्वभाविक था।

इस दोष का कुछ-कुछ परिमार्जन चेतना-प्रवाह-पद्धति के द्वारा हुआ। पहले हमने जिसे पूर्व-दीप्ति (flash back) पद्धति कहा है उसमें यद्यपि घटनाओं को वहाँ से उठाकर मानसिक स्तर पर लाया जा सका, उसमें तीन वस्तुओं, सत्ता, इदन्ता के साथ उनके सम्बन्ध ज्ञान या स्मृति के पुट से मानव की अनुचिन्तनशीलता, भाव-प्रवण-रूपता (contemplativeness) अवश्य आई, पर अभी तक उसके भाव-प्रवण या अनुचिन्तनशील रूप के साथ उसका सक्रिय, बाह्य क्रियात्मक रूप अर्थात् वह रूप, जिसे बाहरी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के माध्यम से ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकट होने की प्रवृत्ति होती है, जो उपन्यासों के प्लाट के चौराहे पर आकर सरे बाजार अपने स्थूल प्रदर्शन का इच्छुक होता है, साथ लगा ही रहा। अरस्तू ने प्लाट को कार्य की अनुकृति कहा था, बाह्य घटनाओं का विन्यास (imitation of action.. contexture of incidents) कहा था, परन्तु इस नई पद्धति के द्वारा सारी घटनाओं को बाह्य संसार से हटाकर मानसिक संसार में बैठा दिया गया। इस कारण उनमें अधिक सूक्ष्मता आई, वे अधिक प्रभावपूर्ण हो उठीं। इसमें मानवीय चेतना की विवृति, उसकी तरलता, अनुरूपता, किसी रूप-रेखा को अपने प्रवेश से मटिया-मेट कर देने वाली आन्तरिकता, प्राणवत्ता के स्वरूप को खड़ा करना औपन्यासिक का ध्येय होता है। यही कारण है कि इस ध्येय को लेकर अग्रसर होने वाले उपन्यासों में प्लाट का बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाता है, कारण-कार्य की शृङ्खला से यह नियन्त्रित नहीं होता, आदि-मध्य-अवसान के नियमों का प्रतिबन्ध इस पर नहीं लगता, ये सब नियम और प्रतिबन्ध हैं और इनका महत्त्व भी कम नहीं हैं। पर इनका प्रभाव-क्षेत्र बाह्य जगत् है, आन्तरिक या चेतना-जगत् नहीं। जीवन को, उसके चैतन्य-प्रवाह को टुकड़ों में विभक्त करके उसे किसी व्यवस्था या प्रणाली में बाँधा नहीं जा सकता। ऐसा करना उन्हें झुठलाना है, उन के स्वरूप को नष्ट कर देना है। चेतना-प्रवाह में आदि-मध्य-अवसान-बिन्दु नहीं हो सकते। क्रिया सान्त होती है, उसका अन्त निश्चित होता है। एक बार हुई वह समाप्त हो गई, चाहे उसके प्रमाण दीर्घ-व्यापी क्यों न हों। उस पर समय का बन्धन होता है। चूँकि उसका अन्त निश्चित है उसका आदि-मध्य का भी निश्चय है, परन्तु हमारे अन्तर्जीवन की चेतना, अनुभूति, भाव, और आत्मनिष्ठ जीवन और उसके सम्बन्ध-साहचर्य (association) के प्रवाह की समाप्ति कहीं नहीं है। ऐसा नहीं होता कि उनकी अनुभूति हुई और समाप्त हो गई, तरंग उठी, बुलबुले उठे और विलीन हो गए। किसी बाहरी रूप-विधान की वश्यता उन्हें स्वीकार नहीं। यदि उन पर किसी बाहरी रूप-रेखा का बन्धन है तो यह आपका दिया हुआ है, आपने अपनी सुविधा के लिए एक ऐसा रूप-प्रदान किया है जो उसका अपना नहीं है। प्लाट तो प्लाट, उन्हें शब्दों का माध्यम भी स्वीकार नहीं, वे शब्दों के बन्धन को भी स्वीकार नहीं करता। वे अनुभूतियाँ और भाव शाब्दिक नहीं, वे शब्दों के बन्धन को भी स्वीकार नहीं करते वे अनुभूतियाँ और भाव शाब्दिक नहीं, वे शाब्दिकेतर (non-verbal) भी हो सकते हैं, वे ऐसे भी हो सकते हैं कि मात्र स्पर्शनीय ही हों।

इस चेतना-प्रवाह (stream of consciousness) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विलियम जेम्स ने किया था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकालोजी' (१८६०) में उसने लिखा था : "मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवाहित होने वाले जल-प्रवाह के रंग में डूबी रहती है। इस मूर्ति को सार्थकता और महत्त्व प्रदान करने वाली वस्तु यही ज्योतिर्वलय या कह लीजिये छायावेष्टित ज्योति है, जो संरक्षक भाव से सदा उसे घेरे रहती है......चेतना अपने समस्त छोटे-छोटे टुकड़ों में कट-कर उपस्थित नहीं होती.......इसमें कहीं जोड़ नहीं, यह प्रवहामय होती है। इसे चेतना के विचार का या आत्मनिष्ठ जीवन का प्रवाह ही कहना चाहिए।" आलोचना के क्षेत्र में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मिस डारिथी, रिचार्ड्सन के उपन्यास 'द पाइण्टेड रूफ़' (The Pointed Roof) १९१५ की चर्चा करते समय मिस सिनक्लेयर ने किया था। इस उपन्यास की नायिका मेरियम हडसन हैं। कथाकार की ओर से कहीं भी विश्लेषण करने, टीका-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणी करने या व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं हुआ है। मेरियम की चेतना के क्षण एक-एक करके अथवा परस्पर सम्मिलित होते हुए बहते चले जा रहे हैं। चेतना के क्षणों को खींचकर इतना बढ़ाया गया है कि वे टूटने पर आ गए हैं, भावों से प्रकंपित हो रहे हैं……कोई ड्रामा? नहीं, किसी परिस्थिति का चित्रण नहीं, किसी दृश्य का वर्णन नहीं। वहाँ कोई घटना घटती ही नहीं। बस जीवन है, जो बहता ही चला गया है। मेरियम का चेतना-प्रवाह बस आगे प्रवाहित होता गया है। आगे चलकर जेम्स ज्वायस और विर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों में इस पद्धति के चरम स्वरूप का दर्शन होता है।

इन लोगों के उपन्यासों में जीवन के मानसिक आन्तरिक, जीवन-प्रवाह के संवेदक इन्द्रिय-वेदना-संस्कार के विशुद्ध रूप के चित्रण का प्रयत्न हुआ है, उन्हें किसी साम्य कल्पनात्मक बौद्धिक साँचे में, मोल्ड (mould) में, पैटर्न (pattern) में बिठाकर देखने का प्रयत्न नहीं है। स्नायु के विशुद्ध प्रकम्पन को ही पाठक के स्नायु की तरंगों में मिला देना वस्तु के उस विशुद्ध रूप को उपस्थित करना है, जिसमें वह कुछ दूसरी न बनकर अपने विशुद्ध सत्तात्मक रूप में अवस्थित रहती है। परिणाम यह होता है कि कोई समाहारक तत्त्व रह नहीं जाता, कोई अवधान केन्द्र का प्रतिबन्ध नहीं रहता, कोई व्यापक तत्त्व नहीं रहता, सबको घेर रखने वाला विजन दूर हो जाता है। अतः पहले की निरादृत, छोटी-छोटी दुबकी पड़ी रहने वाली वे उपान्त भावनाएँ प्रमुख हो उठती हैं, जिन्हें हम पहले असंगतियाँ कहकर टाल देते थे, चित्र में पड़ी हुई बेकार, फ़ालतू और निरर्थक ध्येय समझकर छूते भी नहीं थे। वे ही अब प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती हैं। यदि आप किसी सूत में छोटी ठोकरी बाँधकर अपनी उँगली से नचाएँ तो केन्द्र की केन्द्रानुगामी शक्ति उसे सदा अपनी ओर आकर्षित करती रहेगी और वह ठीकरी वृत्त बनाती हुई घूमती रहेगी। उसके अन्दर एक-सीध में भाग-भाग जाने की (to fly at a tangent) की प्रेरणा तो बार-बार उठती है, पर इस पर केन्द्र का नियन्त्रण रहता है और वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट न होकर वृत्ताकार रूप धारण करती है, जो उसका वास्तविक रूप न होकर विकृत रूप ही है। आज के उपन्यास में इस विकृताकृति की नहीं, प्रत्युत विशुद्धाकृति की माँग बढ़ रही है और इसी माँग को पूरा करने के लिए उपन्यासों ने चेतना-प्रवाह को अपनाया। हृदय की धड़कन ने, भाव-घनत्व के लययुक्त उत्थान और पतन ने, तार के प्रकंपन ने, उपन्यास-कला में स्थान पाया। उपन्यास को देखने से एक ऐसे तार की कल्पना हो आती है, जिसे छेड़ दिया गया हो और उसी की प्रकम्पन-लहरों के इर्द-गिर्द बालू के कण कुछ अव्यवस्थित रूप से एक हो गए हों। मैंने कहा अव्यवस्थित, पर यह नाप-जोखकर चलने वाली बौद्धिक दृष्टि से ही। नहीं तो उनमें अपनी आन्तरिक व्यवस्था तो है ही, चाहे वह हमारी आँखों में भले ही खटके। इस तरह की प्रवृत्ति को मनोविज्ञान का ही नहीं, आधुनिक भौतिक विज्ञान का भी समर्थन और प्रोत्साहन मिल रहा है। पूर्व का विज्ञान भौतिक विज्ञान के द्रव्यों के परमाणुओं को एक ठोस एवं साकार वस्तु समझता था, पर अब उन्हें लहरों की गति के रूप में देखता है। पहले का द्रव्य अब कुछ विद्युत्तरंग एलेक्ट्रोन और प्रोटोन का वात्याचक्र बनकर रह गया है। यही विचारधारा है जो आज की उपन्यास-कला को चेतना-प्रवाह में निमग्न हो जाने के लिए पीठ ठोक रही है। टी० डब्ल्यू० बीच (T. W. Beach) महोदय ने अपनी पुस्तक 'ट्वेंन्टिय सेन्चुरी नावेल' (Twentieth Century Novel) में बड़े ही गम्भीर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वत्तापूर्ण ढंग से यह प्रतिपादित किया है कि ज्यों-ज्यों उपन्यास-कला का विकास होता गया त्यों-त्यों उपन्यासकार की छाया उपन्यासों से दूर होती गई। पहले उपन्यासकार पद-पद पर किसी-न-किसी बहाने, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए, घटनाओं की शृङ्खला जोड़ने के लिए, किसी रहस्य के उद्‌घाटन करने के लिए उपन्यास के रंग-मंच पर आता-जाता रहता था। पर ज्यों-ज्यों उपन्यास-कला में प्रौढ़ता आती गई, उसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आती गई, वह उसकी अंगुली छोड़कर बाहर आती गई और स्वयं बोलना प्रारम्भ किया। आज फिर उपन्यास-कला अनेक प्रयोगों के बाद वही कर रही है। आज का उपन्यासकार भी, विशेषतः नूतन पद्धतियों (जिनकी चर्चा हो रही है) के पालन करने वाले प्रतिशोध के साथ अपने उपन्यास में प्रवेश करता है। इतना ही नहीं, परन्तु वह हस्तक्षेप प्रवेश उसकी कला का संश्लिष्ट अंश हो गया है। आज का जागरूक औपन्यासिक अपने उपन्यास का अंश-मात्र ही नहीं, प्रत्युत् वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है। पर सबसे आश्चर्य की बात है कि इन नये उपन्यासकारों का हस्तक्षेप, बार-बार सामने आता ही नहीं, परन्तु धरना देकर उपन्यास में बैठे रहना विशेष खटकता नहीं। इसका कारण क्या है?

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य का तात्त्विक, वास्तविक स्वरूप क्या है? वह क्या है? उसके स्वरूप की सीमा क्या है? क्या वह स्वतन्त्र सत्ता के रूप में देखा जा सकता है? बाहर से, शेष संसार की अनेक वस्तुओं के सम्पर्क से उसमें जो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, उसकी चेतना पर जो आघात होते रहते हैं, उससे अलग करके उसे देखा जा सकता है। वह स्वयं है या अपने सम्पर्क में आये हुए अनेक मनुष्यों के सहयोग से, उनके व्यक्तित्व के टुकड़ों से निर्मित, अतः उनको भी अपने अन्दर समाहित करके उनको भी ढोते चलने वाला व्यक्ति है? जेम्स ज्वायस, वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यासों के स्वरूप को देखने से तथा यत्र-तत्र उनके द्वारा प्रकटित विचारों को पढ़ने से उनका स्पष्ट उत्तर मिलता है कि मनुष्य का कोई भी क्षण उसके अतीत और उसकी अनुभूतियों का पुंजीभूत रूप है। मनुष्य का प्रत्येक क्षण मानो व्यक्ति से कहता है :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इन औपन्यासिकों के ऐसे सैकड़ों नहीं, हजारों वचन उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे इस मत का समर्थन होता है।

अन्त में चलकर यह दृष्टिकोण इस विशुद्ध आत्मनिष्ठता (pure subjectivity) का रूप धारण कर लेता है कि संसार में सब-कुछ मनसपरक (Subjective) है अर्थात् वैसा ही है जैसा हम अनुभव करते हैं। हमारी अनुभूतियों से पृथक् वह है ही नहीं। ऐसे दृष्टिकोण के कारण उपन्यास के एक पात्र को दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो दूसरे को जो दीख रहा है उससे अलग है ही नहीं। द्रष्टा से दृश्य पृथक् कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, इसी सूत्र को पकड़कर आगे चलने पर आप पाएँगे कि उपन्यासकार से भी पात्रों को अलग करना सम्भव नहीं। उपन्यास जो कुछ है, उसकी छाया है, प्रतिबिम्ब है। भला उपन्यासकार अपनी छाया को किस तरह लाँघ सकता है? पहले के उपन्यासों में दो दुनिया साथ-साथ लगी चलती थीं—एक उपन्यास की, दूसरी उपन्यासकार की। उपन्यासकार अलग खड़ा रहता था, आँखें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोलकर बुद्धिपूर्वक उपन्यास में प्रवाहित जीवन-लीला को दूर से देखा करता था, सारे व्यापार एक विशिष्ट रूप धारण करके दीख पड़ते थे, मनुष्य के आचरण में एक मर्यादा होती थी, जो सारी घटनाओं के कारण और कार्य की शृङ्खला में बँधी दीख पड़ती थी। उपन्यासकार कभी-कभी अपनी मनसपरक दुनिया से उपन्यास की वस्तुपरक दुनिया में आता-जाता रहता था। उसका यह आवागमन आँखों को खटकता था। एक देश का प्राणी अगर दूसरे देश में मन-माने रूप में प्रवेश करे तो वह खटकने वाली बात थी भी। परन्तु उपन्यास-कला अब मानव की गहराई में पैठ गई है, चेतना-प्रवाह पद्धति ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों के अन्तर को मिटा दिया है। उपन्यासकार अब दूसरे संसार का प्राणी नहीं रह गया है। यह उसका अपना संसार है। यदि वह वहाँ बराबर परिभ्रमण करता रहता है तो यह उसका अधिकार ही है। इस प्रसंग में दो आलोचकों के कुछ भाव इतने प्रमुख रूप में संगत हैं कि यहाँ की उल्लिखित बातों के मर्म को स्पष्टतापूर्वक हृदयंगम करने के लिए उन्हें उद्धृत करना ही होगा :

"मैं निवेदन कर ही चुका हूँ कि आत्मनिष्ठता आधुनिक कथा-साहित्य की विशिष्टताओं में से एक है। आजका युग संकुलता और बिखराहट का है और ऐसी अवस्था में उसी तटस्थता और यथार्थता की वस्तुनिष्ठ पक्की पकड़ दिन-दिन कठिन होती गई है। कलाकार को बाध्य होकर अपनी चेतना की गूढ़ता और रहस्यमयता की ओर झुकना पड़ता है। यही एक वास्तविकता रह जाती है, जिसके बारे में वह थोड़ा निश्चित और आश्वस्त हो सकता है नहीं तो बाहर सभी चीज़ें अस्त-व्यस्त हैं, छिन्न-भिन्न हैं,...उनके बारे में कलाकार आश्वस्त होकर कहे ही क्या ? एक ही चीज़ के बारे में वह आश्वस्त है—अपनी अनुभूति का संसार और उसका ही निर्माण करेगा।"

इसी तरह के विचार एक दूसरे आलोचक ने वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास के बारे में प्रकट किये हैं। वह कहते हैं : **"वर्जिनिया वुल्फ के पात्रों के सम्बन्ध-सूत्र अपने स्रष्टा के साथ स्पष्ट हैं। पात्र उसी की वाणी में बोलते हैं, उसी के ढंग पर सोचते हैं। लेखिका के रूप में जहाँ वह अपने उपन्यास में प्रवेश करती है तो अनधिकार चेष्टा-सी नहीं मालूम पड़ती। वहाँ रहने का उसे अधिकार है। उसके उपन्यास ऐसे हैं जिनमें लेखक भी शामिल रहता है। वह बार-बार यह प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई पड़ती है कि उसका प्रत्येक पात्र उसे दूसरे देखने वाले पात्रों का प्रक्षेपण-मात्र है। जहाँ लेखिका ही देखने वाली भी हो वहाँ उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि सदा पाठकों के सामने अपने अस्तित्व का प्रमाण देती रहे ताकि जब वे पात्रों का मूल्यांकन करें तो उसका भी ध्यान रखें।"**

यह चेतना-प्रवाह-पद्धति का ही प्रभाव है कि आज के उपन्यासों में स्वगतोक्तिपूर्ण हृदयोद्गारों का प्राबल्य हो गया है, जिसे Interior Monologue कहते हैं। मनुष्य की आन्तरिक भाव-पद्धतियाँ बड़ी ही असंगत होती हैं, क्रमहीन होती हैं और किसी व्यावहारिक आचरण के नियन्त्रण के अभाव में वे यहाँ-वहाँ, इधर-उधर मुड़-मुड़ जाने वाली, बह-बह पड़ने वाली होती हैं। इस मानसिक प्रक्रिया को उपन्यास के ताने-बाने में बुन देने के लिए यह स्वगतोक्ति बहुत उपयोगी होती है। एक भाव या विचार अनेक असम्बद्ध और असंगत भाव-साहचर्य को उपस्थित करता है। एक विचार-प्रवाह की धारा के आगे-पीछे, अगल-बगल, ऊपर-नीचे अनेक धाराएँ न जाने कब, कहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से निकल पड़ेंगी और मानव-बुद्धि को चुनौती दे जायँगी। उनको देखकर बालकों की आतिशबाजी के खेल वाली उस छोटी-सी डिबिया की याद आ जाती है जो देखने में तो होती है छोटी ही, पर दीपशलाका का स्पर्श पाते ही मानो उसके गर्भ से न जाने कितनी ज्वालमालाएँ उफन पड़ती हैं। आजकल के उपन्यास भी वैसे ही हैं। उनकी मानसिक धारा कब किधर मुड़ जायगी, पता नहीं। उदाहरण के लिए वर्जिनिया वुल्फ़ के 'जैकब्स रूम' नामक उपन्यास की बात है। जैकब्स फ्लैंडर किसी गिरजे की सम्मिलित प्रार्थना में भाग ले रहे हैं। उन्हें वातायन में जड़े काँच के टुकड़े दिखलाई पड़े, उन्हें एक लालटेन की याद आई। उन्हें याद आया कि वे अपने बचपन में लालटेन के सामने किस तरह कीड़ों को पकड़ा करते थे और उसके बाद तो स्मृतियों और कल्पनाओं का ज्वार ही आ गया। इन साहचर्यपूर्ण स्मृतियों में तो फिर भी कुछ संगति है। जेम्स ज्वायस आदि के उपन्यासों में तो वैसी आश्चर्यजनक साहचर्य-स्मृतियाँ मिलेंगी कि यह भय होने लगता है कि कहीं हम उस युग में तो नहीं लौट रहे हैं जिसमें कथाकार (Open Sesame) के सहारे कुछ भी करके दिखा सकता था। उस युग का उपन्यासकार डिक्टेटर था। आज के भी अति-आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार भी डिक्टेटर ही हैं, पर बाहरी जगत् के नहीं, मानसिक जगत् के। उनकी राजधानी और सिंहासन बाहर नहीं, आन्तरिक गहराई में हैं। अतः उनकी डिक्टेटरी का निर्वाह हो जाता है।

चेतना-प्रवाह वाले उपन्यासों में एक और विशेषता दिखलाई पड़ती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कला का ध्येय यदि एक शब्द में कहा जाय तो वह है बाह्य वस्तुनिष्ठ संसार के स्थान पर मनोजगत् की प्रतिष्ठा करना। यहाँ तक कि बाह्य जगत् की स्थिति को ही अस्वीकार कर देना। पर शायद यह असम्भव है। कहा जा सकता है कि चाहे आप घटनिष्ठ ज्ञातता को मानें या देवदत्तनिष्ठ अनुव्यवसाय को, हर हालत में 'अयं घटः' इस ज्ञान में घट अर्थात् बाह्य वस्तु की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक चेतना-प्रवाह वाले उपन्यासों के अध्ययन से पता चलता है कि वे मानो इस प्रश्न का उत्तर यों देते हों : 'माना कि वस्तु से हमारा पिण्ड नहीं छूट सकता। पर एक बात तो हो सकती है ? क्या आवश्यकता है कि मानसिक जगत् में प्रतिक्रिया की अनन्त और अति सशक्त लहर उठा देने के लिए बाह्य वस्तु में भी उतना ही गौरव, उतनी ही गुरुता और महत्ता हो। क्या आवश्यकता है कि बाह्य उद्दीपन (Stimulus) और आन्तरिक प्रतिक्रिया (Response) में सानुपातिक अनुबन्ध हो ही। सम्भव है कि बाहर की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना हमारे मस्तिष्क की ऊपरी सतह को थोड़ा सा सहलाकर ही रह जाय। पर महज एक छोटी-सी घटना हृदय के शान्त सरोवर में वैसी लहरें उठा सकती है जिसकी ध्वनि और प्रतिध्वनि जीवन-पर्यन्त गूँजती रहे। वर्जिनिया वुल्फ़ के 'वेव्स' (Waves) नामक उपन्यास में और कुछ नहीं केवल छः पात्रों की निर्जनोक्तियों तथा हृदयोद्गारों का प्रवाह ही है।

चेतना-प्रवाह वाले उपन्यास में पात्रों के अन्तर्जगत् के जिस रूप के चित्रण का प्रयत्न होता है उसकी अभिव्यक्ति के लिए साधारण भाषा उपयोगी नहीं हो सकती। रूढ़ि या परम्परा के संकेत पर प्रचलित तथा 'अमर कोष' के अर्थ को ढोने वाली भाषा हमारे दैनिक व्यवहार के लिए भले ही उपयोगी हो, मस्तिष्क के सामाजिक स्तर की विवृति के लिए काम की हो, क्योंकि उस स्तर के सारे व्यापार और हलचल शाब्दिक होते हैं, शब्द जाने-पहचाने होते हैं, रूढ़ होते हैं, सांकेतिक होते हैं। ये शब्द मानव-मस्तिष्क के वैयक्तिक स्तर के वर्णन में सक्षम कैसे हो सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जिसकी गहराई में भावों की निर्भरिणी की निर्बाध और शब्दातीत धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। अतः ऐसे उपन्यासों की भाषा भी दूसरी ही होनी चाहिए। एक विचारक के शब्दों में—"शेक्सपियर के सब साहित्य को एकत्र करने पर भी शब्दों की संख्या उतनी नहीं हो सकेगी कि मनुष्य के एक घण्टे की अनुभूतियों के महज़ एक लघु क्षण को अभिव्यक्त कर सके।" यही कारण है कि इन उपन्यासों की भाषा में साधारण शब्द-समूह से काम नहीं चलता, भाषा बाईं से दाहिनी ओर एक सीध में नहीं चलती, नये अभिव्यंजक ध्वनि-अनुकरणात्मक शब्दों का निर्माण किया जाता है, शब्दों को जहाँ से चाहें तोड़ दिया जाता है, एक शब्द के एक अंश को दूसरे शब्द के अंश के साथ जोड़कर विचित्र मलहम तैयार किया जाता है। कभी-कभी शब्दों को विकृत तो नहीं किया जाता पर वाक्यों से, पेराग्राफ से अथवा अध्याय से मिला दिया जाता है जिसमें कोई बौद्धिक साहचर्य तो नहीं मालूम पड़ता पर हमारे भावोन्माद की अवस्था में जो एक सूक्ष्म साहचर्य-सूत्र होता है उसे पकड़ने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए जेम्स ज्वायस की 'वर्क इन प्रोग्रेस' (Work in Progress) नामक पुस्तक से उस वाक्य की ओर संकेत किया जा सकता है जहाँ एक पात्र के सुरा के प्रभाव में आकर बातचीत करने के ढंग को यह कहकर अभिव्यक्त किया गया है कि He was talking alcohorently। यह alcohorently शब्दकोश में नहीं पाया जा सकता। परन्तु यह alcohol और coherent इन दोनों शब्दों के अंशों का सम्मिश्रण है जो तत्स्थानीय और तात्कालिक परिस्थिति को अधिक सजीव रूप में अभिव्यक्त करने वाली अभीष्ट-सिद्धि, को ध्यान में रखकर गढ़ लिया गया है। उसी पुस्तक में एक स्थान पर मक्खियों की भिनभिनाहट का वर्णन करते हुए कहा गया है कि Flies go Rotandrinking round his Scarf। इस वाक्य में Rotandrinking शब्द में कुछ भी स्पष्टता नहीं। हाँ, इसके पढ़ने से मदोन्मत्त मक्खियों का ढुल-मुल चित्र उपस्थित अवश्य हो जाता है। पर ज्वायस का उद्देश्य इतना ही भर नहीं है। वह अपने पात्र की अन्तर्चेतना में प्रवेश करके वहाँ की स्थानीय स्मृतियों (Local memories) का भी चित्रण करना चाहता है। बात यह है कि वर्णित पात्र डबलिन का रहने वाला था और जिस अश्व-प्रतियोगिता का वर्णन हो रहा है उसका मैदान Ratanda नामक स्थान में था। अतः एक डबलिन-निवासी के लिए अपने परिचित स्थान के साथ बड़ी ही मधुर स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं, इन स्थानों के नामोच्चार में ही उसके लिए एक मधुर संगीत है, पात्र के अचेतन में चिपटी हुई इसी भावना को ज्वायस आपके सामने मूर्तिमान् करना चाहता है, मानो एक मनोविश्लेषक अपनी उपयुक्त सूचनाओं द्वारा अचेतन गुत्थियों को चेतन क्षेत्र में लाने का प्रयत्न कर रहा हो।

इस तरह की भाषा का प्रयोग उपन्यास की नवीन वस्तु है और यह है चेतना-प्रवाह का प्रसाद। उस चेतना-प्रवाह को तो युलिसिस के अन्तिम भाग में देखिये, जहाँ के ४२ पृष्ठों में एक ही वाक्य है, बिना किसी तरह विराम या अर्ध-विराम के, मानो कोई बरसाती नदी बड़े-बड़े पर्वतों और जंगलों को रौंदती हुई बह गई हो। यह स्वप्नों की भाषा है—वे स्वप्न, जो किसी तरह का बन्धन स्वीकार नहीं करते, मुख्यतः सांकेतिक होते हैं। हिन्दी में किसी ने चेतना-प्रवाह में अपने को इस तरह बहने नहीं दिया है और यही कारण है कि हिन्दी-उपन्यासों में भाषा इस तरह तोड़ी-मरोड़ी नहीं गई है। हाँ, जैनेन्द्र के उपन्यासों में कहीं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं पर पूरे नाम नहीं दिये गए हैं,…………अथवा ? ! अथवा…………ऐसे-ऐसे चिह्नों का प्रयोग अवश्य किया गया है। कभी-कभी उन्होंने समन्दर-मन्दर, इन्ने-विन्ने, ऐसे-ऐसे व्याकरण-विरुद्ध शब्दों का भी प्रयोग किया है। पर जेम्स ज्वायस के ऊँट को निगल जाने वाला पाठक जैनेन्द्र के मच्छर से घबराने वाला थोड़े ही है ? ए० ए० मेंडिलो (A. A. Mendilow) ने लिखा है : "ये भाषा के ढाँचे को छिन्न-भिन्न करके उसमें सुधार करते हैं। उनकी भाषा में आवृत्तियाँ होती हैं, वह वक्रगति से चलती है अनेक शब्दों के अंशों को जोड़कर एक नूतन शब्द गढ़ लिया जाता है, नये सिक्के प्रचलित किये जाते हैं, अपूर्ण प्रसंगों की ओर संकेत-मात्र कर दिया जाता है, भाव-प्रवण शब्दों और उत्तेजक चित्रों की भरमार रहती है, चाहे समाजीकृत और लोकग्राह्य शब्द-प्रतीकों के प्रयोग से प्रेषणीयता लाने में जो एक सुविधा होती है उसका कुछ अंश में बलिदान ही क्यों न करना पड़े।" मैं इसे उपन्यासों के क्षेत्र में व्यक्ति की, उसकी आत्म-निष्ठा की, उसके मनोविज्ञान की, विजय ही कहूँगा।

तीसरी पद्धति को समय-विपर्यय (Time Shift) कहा जाता है। इसी को कथा क्रमोच्छेदक पद्धति (Chronological loop-holing method) कहा जाता है। कारण कि इसमें कथा के विकास के स्वाभाविक क्रम अथवा पात्रों के चरित्र-विकास की सीधी गति को उलट-पुलटकर उपस्थित किया जाता है। पात्रों के कार्य, उनके विचार तथा उनकी भावनाओं को उस रूप में प्रकट नहीं किया जाता जिससे कि यह पता चले कि वे एक स्थान पर आकर अपने विकास-क्रम की एक मंजिल पार कर चुके, अब इतनी दूरी तय करनी रह गई है, शेष को वे पीछे छोड़ आये। उनके उपन्यास की अन्तिम पंक्ति तक पाठक यह निश्चित रूप से कहकर संतोष की साँस नहीं ले सकता कि कहानी अब इस बिन्दु तक पहुँच गई। जिस तरह सड़कों पर मील के पत्थरों से यात्री तय की हुई यात्रा की दूरी का पता पाकर आश्वस्त होता हुआ चलता है (जैसा कि पहले के उपन्यासों में होता था।) उस तरह की भावना इन उपन्यासों के पढ़ने पर नहीं होती। इस पद्धति के प्रयोग का सर्वोत्तम और स्पष्ट उदाहरण कोनार्ड के दो उपन्यासों 'लार्ड जिम' (Lord Jim) और 'चांस' (Chance) में पाया जाता है।

'लार्ड जिम' नामक उपन्यास की कथा संक्षेप में यों है : "जिम एक जहाज पर काम करने वाला नौसेना का बहादुर और कर्त्तव्यनिष्ठ सैनिक है। परिस्थितियों की विवशता में आकर उसे अपने अधिकारियों के संघर्ष में आ जाना पड़ता है। उसे विद्रोही कहकर पकड़ लिया जाता है और एक अपराधी के रूप में उसे न्यायालय की कार्यवाहियों का सामना करना पड़ता है। वह पदच्युत कर दिया जाता है, उसे अनेक प्रकार से अपमान का भाजन होना पड़ता है, पर अन्त में उसकी कर्मठता, परिश्रम और दृढ़ता सब पर विजय पाती है और वह अपनी खोई हुई पद-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।" यही कथा है, पर इसे प्रकट करने में कोनार्ड ने ऐसे कौशलों से काम लिया है जिनका यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं। हम उसी की चर्चा करेंगे जिसका सम्बन्ध उससे है, जिसे हमने Chronological loop-holing अर्थात् 'कथा-क्रम का तोड़-मरोड़' कहा है। जिमके विद्रोही और अपराधी प्रमाणित हो जाने पर उसे कहाँ-कहाँ और किन-किन अवस्थाओं में काम करना पड़ता है, इसके वर्णन से उपन्यास आरम्भ होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके बाद कथा मुड़ जाती है और विद्रोह के पूर्व की जिम की जीवनी की कथा कहने लगती है। चौथे अध्याय में हम न्यायालय का दृश्य देखते हैं जहाँ पर विद्रोह के मामले की जाँच हो रही है। यहीं पर मारलो नामक एक व्यक्ति से पाठकों का परिचय होता है। उसके बाद मारलो के मुख से हम विद्रोहियों की उस समय की बाह्य मुखाकृति का वर्णन पढ़ते हैं जिस समय वे सर्व प्रथम विचारार्थ न्यायालय के सामने उपस्थित हुए थे। साथ-ही-साथ एक जर्मन पोताध्यक्ष से उस झड़प का वर्णन है जो नौ-यात्रा के प्रारम्भ होने के पूर्व हो गई थी। बाद में हम न्यायालय के सामने उपस्थित होते हैं और न्यायाध्यक्ष की आत्महत्या की ओर उत्सुकता से देखने लगते हैं। तब एकाधिक अध्यायों में जिम मारलो से पोत-विद्रोह की कथा कहता है। यहीं पर उस फ्रांसीसी लेफ्टीनेण्ट के वार्तालाप की कथा है जो उसके और मारलो के बीच हुई थी···। आगे की रूप-रेखा देने की आवश्यकता नहीं। यदि कोनार्ड के अन्य दो उपन्यास 'चान्स' और 'नास्ट्रमो' को देखा जाय तो उनकी कथा का विकास इसी गड्डम-गड्ड रूप में उपस्थित होगा। इसी तरह का एक और उपन्यास अभी हाल में एस्टेफेन हडसन ने लिखा है, जिसका नाम है Saga of Richard.

इस तरह के उपन्यासों में अतीत की अपरिवर्तनीय दृष्टि, स्थिर और निर्जीव सत्ता स्वीकार नहीं की जाती, समय के प्रवाह से अलग कटे पड़े हुए पत्थर के रूप में अतीत को नहीं देखा जाता। अतीत है ही नहीं। जो-कुछ है वह प्रवृद्धमान वर्तमान है, जो पूर्वापर सब जगह, सब ओर छाया हुआ है। इसमें घटनाओं को इस रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं जो वर्तमान और अतीत की पार्थक्य-भावना को दृढ़ करता रहे। ऊपर हमने वर्तमान के ताने-बाने पर अतीत के सूत के बुनने वाले उपन्यासकारों की चर्चा की है। यद्यपि उन्होंने प्रयत्न किया कि दोनों का पार्थक्य मिटे, पर उन्हें सफलता मिली ही नहीं थी। उनमें भूत और वर्तमान का सम्मेलन जनकाष्ठ न्याय की याद दिलाता था, एक वृन्तगत फलैक्य न्याय की भावना नहीं जाग्रत करता था जैसा कि कोनार्ड के ये उपन्यास करते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जीवन के जिस सत् की सिद्धि के लिए जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वुल्फ इत्यादि औपन्यासिकों ने सतह के नीचे जाकर एकान्त साधना की, उसी अभीष्ट की उपलब्धि में कोनार्ड ने भी अपनी औपन्यासिक चित्तवृत्ति को नियोजित किया है, पर इसके लिए उन्होंने पाताल में जाने की आवश्यकता नहीं समझी। उनके पैर इस बाह्य रण-क्षेत्र में ही जमे रहे। उन्होंने बाह्यनिष्ठता, वस्तुपरकता को ही इस तरह प्रेरित किया, इतना खींचा कि वह आत्मनिष्ठता, मनसपरकता की सीमा से आ लगी। वस्तु(आब्जैक्टिव) मनस (सब्जैक्टिव) हो गई। जेम्स ज्वायस की पद्धति दूसरी थी। वे सब्जेक्टिव को ही आब्जेक्टिव बनाकर पेश करना चाहते थे। कोनार्ड के उपन्यासों में जिस तरह कथा का स्वरूप टेढ़े-मेढ़े मार्गों से चलकर उपस्थित होता है उसे पढ़कर चित्र-निर्माण-निरत एक चित्रकार की कल्पना जाग्रत हो जाती है। कोनार्ड एक चित्रकार है। वह एक कथा-चित्र की सृष्टि कर रहा है। पाठक उसकी निर्मित क्रिया को देख रहा है। कैन्वास पर रंग की तूलिका कभी यहाँ चल जाती है, कभी वहाँ, कभी इधर, कभी उधर। उस पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं। उस पर इसका प्रतिबन्ध नहीं कि पहले सिर बने, बाद में पीठ, तब पैर। नहीं, कभी भी कोई अंग बन जा सकता है। यदि उस पर प्रतिबन्ध है तो अपनी मधुर इच्छा और प्रेरणा का। इसी तरह सारा चित्र तैयार हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदुपति सहाय

अंग्रेजी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी

कहा जाता है कि आलोचनात्मक और सृजनात्मक क्रियाएँ परस्पर विरोधी हैं, परन्तु इसके विरुद्ध अंग्रेजी साहित्य के महान् युग, महान् आलोचनात्मक क्रियाशीलता के युग भी रहे हैं। वस्तुतः दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं का साहचर्य किसी भी युगान्तरकारी और मौलिक साहित्य के लिए स्वाभाविक ही है। सभी प्रकार के प्रयोगों, परम्पराओं के विस्फोट, कवि-संसार के पुनर्नियोजन के प्रयासों के पीछे एक सीमा तक सचेत जागरूकता होती है। यह सचेत जागरूकता वास्तविक सृजनात्मक साहित्य में अंशतः ही प्रवेश कर पाती है और उसका विस्तृत और पूर्ण प्रकाश आलोचनात्मक कृतियों में ही हो सकता है। घोषणा-पत्रों और भूमिकाओं द्वारा यह काम सीधे-सीधे होता है, परन्तु आलोचना के दूसरे स्वरूपों द्वारा भी उन मान्यताओं, मानसिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक विश्वासों की व्याख्या आवश्यक है, जिन्होंने नई रचना को प्रेरणा दी है। चाहे आलोचक सौन्दर्य की नई अभिव्यक्तियों का अभिज्ञान करे, अथवा उनके स्वागत में पाँवड़े बिछाये, जहाँ कहीं भी महान् साहित्य का जन्म हो रहा हो, आस-पास उसका होना आवश्यक है।

वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि किसी युग की विशिष्ट एवं पृथक् प्रकृति को समझने के लिए हमें उसकी सृजनात्मक कृतियों से अधिक आलोचनात्मक उपलब्धियों के पास ही जाना चाहिए। अपनी प्रमुख सृजनात्मक सिद्धियों में, प्रत्येक युग अपने व्यक्तित्व को सार्वभौमिक मानवता, मनुष्य के सपनों, अरमानों, उल्लासों और विषादों के साथ घुला-मिला देने में प्रवृत्त होता है, किन्तु आलोचक के भीतर युग सबसे अधिक सचेत रूप से अपने को पहचानता है। और जैसे-जैसे मानवता अधिकतर आत्म-जाग्रति की ओर बढ़ती गई है, आलोचनात्मक प्रक्रिया ने सृजनात्मक प्रक्रिया के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया है। यहाँ तक कि पहले जहाँ कहा जाता था कि आलोचक को कवि होना चाहिए, आज अनुभव किया जाने लगा है कि कवि को आलोचक होना चाहिए। हमारी वर्तमान विचार-धारा के अनुसार सच पूछिए तो आज आलोचना और सर्जना के बीच, विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक प्रक्रियाओं से अधिक का अन्तर नहीं है, जब कि पहले यह भेद कल्पना और तर्क अथवा दिव्यानुभूति और ज्ञान का-सा था। आज के युग का लेखक अपने परिज्ञान के लिए एक क्रम, या अपनी अनुभूतियों के लिए मान्यताओं की खोज करता है और उस सीमा तक एक प्रकार से वह आलोचक ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी की हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण देन यही थी; और इसका सबसे निश्चित रूप आलोचना के क्षेत्र में है। उन्नीसवीं शताब्दी की आलोचना की दो मुख्य समस्याएँ हैं ज्ञान का विस्तार और पारस्परिक क्रम तथा मान्यताओं की स्थापना। आलोचना को कोलरिज (Coleridge) की देन असामान्य और विविध है और उसके सूक्ष्म वक्तव्यों के पुञ्ज से पाठक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदा ही चमत्कृत और हताश होते रहेंगे। परन्तु सबसे अधिक उसने नई आलोचना की अगवानी इस रूप में की कि उसने साहित्य की सीमा-रेखाओं को तोड़ डाला। उसने दर्शन की उस शाखा के, जो सौन्दर्य-शास्त्र के नाम से फलती-फूलती रही है और साहित्यिक समीक्षा के बीच सम्बन्ध को व्यक्त किया और आलोचना को ललित कलाओं के सामान्य अध्ययन का एक विभाग बनाकर स्थापित किया। अंग्रेजी समीक्षा आज जर्मन आदर्शवाद और उस समय के अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों से आगे बढ़ चुकी है, लेकिन कोलरिज ने जो सीमाओं के विस्तार का चक्र प्रारम्भ किया उसे अभी तक सफलतापूर्वक उल्टा नहीं जा सका है।

उस विस्तार की प्रकृति को मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) ने संत-ब्यूव (Sainte-Beuve) के प्रभाव में आकर और भी आधुनिक रूप दिया; उसकी आलोचना में शुद्ध दार्शनिक और तात्त्विक सिद्धान्तों का स्थान ऐतिहासिक और समाज शास्त्रीय धारणाओं ने ले लिया। संत-ब्यूव के लिए साहित्य रचनाओं का समूह-मात्र नहीं है, जिससे आनन्द उठाया जाय, बल्कि वह इतिहास के परिवर्तन की प्रक्रिया और ऐतिहासिक अध्ययन का एक भाग है। यह धारणा कि साहित्यिक मान्यताएँ साहित्यिक युग-सापेक्ष्य हैं, अथवा किसी युग का साहित्य मूलतः युग का लक्षण और उसकी अभिव्यक्ति है, आज हम लोगों के लिए इतनी स्वाभाविक हो गई है कि हम लोग इसके बिना सोच भी नहीं सकते। हमारे लिए यह कल्पना करना कठिन है, कि जिस सीमा तक और जैसी आत्म-चेतना हमारे भीतर आ गई है, वह कभी नहीं भी थी। आर्नल्ड के जो विक्टोरियन पूर्वाग्रह थे वे हमें आज की शताब्दी में कुछ दाकियानूसी लग सकते हैं, किन्तु उसकी पद्धति स्थायी बन गई है। उसने आलोचना का जीवन, समाज और सभ्यता की उन विशाल समस्याओं के बीच, जो तब तक साहित्य की विशिष्ट समस्याओं के पीछे-पीछे थी, कुछ इस प्रकार लाकर खड़ा कर दिया कि अब हमारे लिए वापस लौटना असम्भव है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में कला को कला के लिए सीमित करने की प्रतिक्रिया हुई, परन्तु वह साहित्य और आलोचना के भीतर नैतिक और सामाजिक जागरूकता की बाढ़ को न रोक सकी। फिर उस प्रतिक्रिया ने साहित्य में रूप-विधान और विषय-वस्तु के बीच फिर से सन्तुलन स्थापित करने का कुछ काम तो किया ही। विक्टोरियन लेखकों ने विषय-वस्तु के महत्त्व पर जोर देने में शैली और कलारूप की ओर बहुत कम ध्यान दिया। अतः वाइल्ड (Wilde) के इस विस्फोट में दूसरी पराकाष्ठा अनिवार्य ही थी—**"पुस्तकें न नैतिक होती हैं, न अनैतिक; वे या तो उत्कृष्ट रचनाएँ होती हैं या निकृष्ट।"** इस प्रतिक्रिया के पीछे वस्तुतः टेकनीक के महत्त्व की ओर लौट चलने की भावना उतनी नहीं थी जितनी एक प्रकार की मानसिक थकान, शून्यवादिता अथवा अकर्मण्यता; जिसे 'शताब्दी का अन्त' (fin-de-siecle) कहकर बयान किया जाता है। वह राष्ट्रीय चेतना के पतन की अभिव्यक्ति थी। आशावाद और उत्साह का स्थान छिछलेपन, हताशा एवं भाव-निरपेक्षता ने ले लिया। आलोचना के इतिहास के दृष्टिकोण से, यह सौन्दर्यवादी आन्दोलन सिद्धान्त न होकर एक मनस्थिति-मात्र था। कम-से-कम इंग्लैण्ड में उसे फ्रान्स जैसी कोई शक्ति या सत्ता नहीं प्राप्त हुई। फिर भी पेटर (Pater) का प्रभाव आलोचना में कुछ अधिक स्थायी है। परन्तु उसकी स्थिति वाइल्ड और अन्य व्यक्तियों से भिन्न है, यद्यपि उन्हें अक्सर एक ही भाव से तोला गया है। पेटर रूप-विधान को नहीं, बल्कि रूप-विधान और विषय-वस्तु के सम्पूर्ण तादात्म्य को श्रेष्ठ साहित्य का विशिष्ट लक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानता है, जिसे वह 'वाणी और आन्तरिक आलोक का परिष्कृत संयोजन' अथवा 'पूरी ईमानदारी के साथ कलाकार के निकटतम सत्य का परिग्रह' कहता है। उसकी पुकार ईमानदारी के लिए है और ईमानदारी वाइल्ड और दूसरों का शक्तिशाली गुण नहीं है। पेटर के सिद्धान्त की मुख्य बात यही है कि लेखक का उद्देश्य 'न जगत्, न मात्र यथार्थ, बल्कि जैसा यह सब उसे लगे' वैसा व्यक्त करना है। स्पष्ट है कि यह विद्रोह विक्टोरियन उपदेशवाद के विरुद्ध उतना नहीं है जितना यथार्थवाद और प्रकृतवाद के विकासों के विरुद्ध। यह एक प्रभाववादी विचार-धारा है, जो भाग्य के उलट-फेर के बीच होती हुई आलोचना में अब तक प्रवहमान है।

बीसवीं शताब्दी के परिवर्तित युग, उसकी नई दृष्टियों और आवश्यकताओं के साथ, आर्नल्ड के प्रभाव में भी एक अनिवार्य अन्तर आ गया है। इलियट (Eliot) का कहना है कि कोई भी पीढ़ी कला में ठीक उसी प्रकार रुचि नहीं रखती जिस प्रकार अन्य पीढ़ियों ने रखी। हर काल और हर कलाकार के लिए एक ऐसा मिश्रण आवश्यक होता है; जो जीवन की धातु को कला में ढाल सके, और प्रत्येक पीढ़ी दूसरों की अपेक्षा अपने ही मिश्रण को अधिक पसन्द करती है। अतः हर युग का काम अपनी अलग आलोचना से ही चलेगा। परन्तु आलोचना सदा कुछ ध्रुवान्तों के बीच चक्कर काटती रही है : जैसे व्याख्या और मूल्यांकन, रूप और विषय, वस्तुपरकता और आत्मनिष्ठता और फिर सबसे विस्तृत और मूलभूत द्वन्द्व तो साहित्य और जीवन के बीच ही रहा है। रिनेसाँ (Renaissance) कालीन आलोचना में इसका स्वरूप मनोरंजन बनाम शिक्षण का है और निओ-क्लासिकल (Neo-classical) युग में कौशल बनाम स्वभाव का; रोमांटिकों (Romantics) ने इस खाई को द्रष्टा और दृश्य अथवा स्वप्न और सत्य के सम्मिलन द्वारा पाटने का प्रयास किया। परन्तु जैसे-जैसे रोमांटिक लहर उतरती गई, यह द्वन्द्व फिर आ खड़ा हुआ और आर्नल्ड तथा पेटर के दृष्टिकोणों में मूर्त हो गया।

ये दोनों दृष्टिकोण, कि साहित्य को साहित्य के अथवा किसी अन्य वस्तु के रूप में बरता जाय, कुछ परिवर्तनों के साथ, जो नये सौन्दर्य-सिद्धान्तों, मनोविज्ञान या इधर की समाज-शास्त्रीय प्रवृत्तियों के कारण आवश्यक हो गए थे, बीसवीं शताब्दी की आलोचना में परिलक्षित होते हैं। परन्तु इस शताब्दी के तृतीय दशक के आस-पास तक, इनकी पुनरावृत्ति के पूर्व, अंग्रेजी समालोचना की कोई निश्चित दिशा नहीं जान पड़ती। इस शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजी कविता की तरह आलोचना की भी दशा है, जिसमें प्रखरता या किसी प्रबल अन्तर्वेग अथवा दृढ़ धारणा का अभाव है। शताब्दी के प्रारम्भ में न किसी समालोचक, न किसी आलोचना-निकाय को ही प्रबल कहा जा सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड और पेटर दोनों ही के प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों और विविध वेशों में काम करते दिखाई पड़ते हैं। आर्नल्ड की समालोचना में अन्तर्निहित नैतिक आग्रह के विरुद्ध 'कला कला के लिए' वाली प्रतिक्रिया का न तो विस्तार ही हुआ और न उसकी स्पष्ट रूपरेखा ही स्थापित हुई। साधारणतः समालोचकगण उदार, सुविधानुसार गुणदर्शी और सतह पर ही विचरने वाले रहे। सेन्ट्सबरी (Saintsbury) जैसे समालोचक को इस उदारतापूर्ण सिद्धान्तहीनता से अलग करना कठिन ही है। परन्तु इस समालोचना में एक अच्छी बात थी। उसके पास एक उत्साह, परिष्कृत रुचि और अत्यन्त विषम रचनाओं का भी आनन्द उठाने की क्षमता थी। इन आलोचकों की पद्धति कुछ तो प्रभाववादी और कुछ पांडित्यपूर्ण थी; किसी कृति या कृतिकार की समीक्षा में समालोचक की अपनी प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया का अच्छा-खासा वर्णन होता था; कुछ कृति के संघटन को प्रदर्शित करने का प्रयास; और कुछ कृतिकार के जीवन, अभ्यास और दृष्टिकोण के सम्बन्ध में सूचनाएँ हुआ करती थीं।

गम्भीर समालोचना के क्षेत्र में यह विद्वतावादी परम्परा ही सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। सेन्ट्सबरी की उदार वाचालता, एडमण्ड गॉस Edmund Goss) के छुट-पुट जीवन-चरित और प्रभाववादी बातचीत, एडवर्ड डाउडन (Edward Dowden) के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आविष्कार, सिडनी कालविन (Sydney Colvin) का जीवनी-समीक्षा एवं सम्पादन-सम्बन्धी कार्य, ए० सी० ब्रैडले (A. C. Bradley) का कोलरिज की शैली में चिन्तनपूर्ण अध्ययन, सी० एच० हरफ़र्ड (C. H. Herford) की स्पष्ट किन्तु अगूढ़ कृतियाँ, जे० डब्ल्यू० मैकेल (J. W. Mackail) की मननशील सौन्दर्यात्मकता, ऐण्ड्र् लैङ्ग (Andrew Lang) की मानव-शास्त्रीय और ऐतिहासिक समालोचना, ये सब शताब्दी के मोड़ पर अंग्रेजी समालोचना की सम्पन्नता और साथ ही विविधता की द्योतक हैं। अभी भी विद्वान् लोगों की धारणा थी कि आलोचक के रूप में उनका भी कुछ काम है। विद्वानों और समालोचकों के कार्यों का विशिष्टीकरण उस सीमा तक इंग्लैण्ड में कभी नहीं हुआ जहाँ तक अमरीका और जर्मनी में। सभी विद्वान् आलोचकों की रुचि की प्रवृत्ति रूढ़िवादी ही रही; उनका अधिक ध्यान उन्हीं रचनाओं की ओर था जो काल की कसौटी पर खरी उतर चुकी थीं और उनकी सूक्ष्म पैठ और उदारता का उतना अधिक प्रसाद समकालीन साहित्य को नहीं प्राप्त हुआ। आर्थर सिमन्स (Arthur Symons) को छोड़कर, जो सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के अतिवादियों में से अकेला ही बच रहा था, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के अध्येता आलोचक-गण आर्नल्ड और पेटर के सम्मिलित प्रभाव में ही काम करते रहे।

अमरीका के नव मानवतावादियों ने पेटर के विचारों को फिर से ढालकर, एक नये वेश और परोक्ष रूप में फिर से ला खड़ा किया। टी० एस० इलियट (T. S. Eliot) ने इरविंग बैबिट (Irving Babbit) से इस दृष्टिकोण को ग्रहण किया कि व्यक्तित्व-सम्बन्धी रोमाण्टिक सिद्धान्त में एक अनिवार्य उच्छृङ्खलता विद्यमान है। इस प्रकार प्रभाववाद, आत्मनिष्ठा और सम्पूर्ण व्यक्तिवादी परम्परा के विरुद्ध आधुनिक साहित्य की प्रतिक्रिया का अभियान प्रारम्भ हो गया। चक्र एक बार फिर घूमकर संयम, संस्कार और निर्वैयक्तिकता पर आ पहुँचा।

इलियट के समीक्षात्मक सिद्धान्तों के साधारण आधारों का वर्णन उनके "ट्रैडिशन एण्ड दी इण्डिविजुअल टैलेण्ट" (Tradition and the individual talent) नामक निबन्ध में हुआ है। इसमें वह "किसी कवि की प्रशंसा करते समय उसकी कृतियों के उन पहलुओं पर जोर देने की प्रवृत्ति" की निन्दा करता है "जिनमें वह औरों से कम-से-कम मेल खाता है। कृतियों के इन्हीं पहलुओं या अंशों में हम वे कुछ पाने की कल्पना करते हैं जो कलाकार के बिलकुल अपने हैं; जो उसके विशिष्ट तत्त्व हैं। बड़े सन्तोष के साथ हम पूर्वगामियों से कवि की भिन्नता की विवेचना करते हैं, विशेषतः निकट अतीत के अंग्रेजों से। हमारा प्रयास होता है कि कुछ ऐसा पा जायँ जिसका हम अलग करके रस ले सकें, जब कि यदि हम किसी कवि के पास बिना इस पूर्वाग्रह के जायँ तो हम पाएँगे कि उसकी रचना का सबसे सुन्दर ही नहीं, बल्कि सबसे व्यक्तिगत भाग वही है जिसमें विगत कवि, तथा पूर्वज अपनी अमरता को सबसे शक्तिशाली ढंग से प्रतिष्ठित करते हैं।" इसके आगे इलियट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता है कि "किसी कवि को अपने मन में केवल अपनी ही पीढ़ी को लेकर नहीं बल्कि इस भावना के साथ" सृजन करना चाहिए कि "होमर से लेकर आज तक यूरोप का सारा साहित्य, और उसके अपने देश का सम्पूर्ण साहित्य उसके साथ-साथ जी रहा है और साथ-ही-साथ उसका विन्यास-क्रम चलता जा रहा है...कलाकार की प्रगति एक निरन्तर आत्मोत्सर्ग है, व्यक्तित्व का अनवरत अवसान है।" अतः इलियट के निकट कवि की रोचकता उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों में नहीं है और न उनका परिशीलन ही उसका काम है। उसका कहना है, कि "कविता भावना की उन्मुक्तता नहीं, बल्कि भावनाओं से पलायन है। वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से बचना है।"

यूरोपीय संस्कृति के सामूहिक बुद्धि-स्वास्थ्य और एकरूपता को फिर से प्रतिष्ठित करने के उद्यम में इलियट इस सिद्धान्त तक पहुँचा। उसका कहना है कि यूरोपीय मानस में एक व्याकृति उत्पन्न हो गई है। शेक्सपीयर (Shakespeare) और स्पेन्सर (Spencer) तक के काल में एकजातीयता तथा बौद्धिक एवं नैतिक चेतना की समन्विति परिलक्षित होती है। ड्राइडेन (Dryden) के काल से विघटन प्रारम्भ हो जाता है और कविता समूचे राष्ट्र-मानस की अभिव्यक्ति नहीं रह जाती है। रोमाण्टिकों के समय से एक व्यापक पतन होने लगता है, जो पूरी गति के साथ अब तक चला जा रहा है। इस अधोगति के उसने कई कारण सुझाए हैं। उसके अनुसार अन्ततोगत्वा यह पतन सम्भवतः अर्थ-व्यवस्था और यन्त्रों के उलझाव पर ही आधारित है। लेकिन उसका सबसे अधिक बल इस कारण अथवा लक्षण पर है कि कवि ने दर्शन और धर्म का कर्तव्य भी अपने ऊपर आरोपित कर लिया है। विशेषतः इसका अपराधी रोमाण्टिक युग रहा है कि व्यक्तिगत कवि-दृष्टि के आधार पर दर्शन खड़ा किया जाय। आज का सबसे बड़ा कुफ़्र यही है। व्यक्तित्व के इस भ्रामक महत्त्व के निरोध का उपाय यही है कि यूरोपीय मानस की एकरूपता पुनः प्रतिष्ठित की जाय। इस उद्देश्य के अनुसार कवियों और लेखकों को अपने धर्म और दर्शन की व्याख्या करना छोड़ देना चाहिए।

इलियट की दृष्टि में विरोधाभास यही है कि कवि बात तो अपनी तरह करे, लेकिन अपनी तरह सोचे नहीं। इसी कारण अंग्रेज़ी कविता पर इलियट का प्रभाव कुछ यों पड़ा है कि एक अनुदार आत्मालोचना घर करती जा रही है; संशयों और संयमों द्वारा ठण्डे होते हुए उत्साह का एक दबाव विद्यमान है। एक विशेष तापमान के नीचे उतरकर प्रेरणा का जीवित रहना सम्भव नहीं है और इलियट ने कुछ ऐसा पाला मारा है कि उसकी और उसके अनुचरों की रचनाएँ बहुत कम हो गई हैं।

इलियट के इस अनोखे आत्म-विरोध का स्रोत टी० ई० हुल्म (T. E. Hulme) में है। हुल्म ने अपनी कृतियों की मात्रा और गूढ़ता की तुलना में कहीं अधिक प्रभाव समीक्षा की विचारधारा पर डाला है। उसने संयम, निर्वैयक्तिकता और कल्पना की तीखी शुष्कता का प्रतिपादन किया। उसने रूसो (Rousseau) की धारणा का खण्डन किया कि मनुष्य मूलतः सत्स्वभाव वाला है। उसकी प्रतिज्ञा है कि प्राथमिक पाप (original sin) में विश्वास किये बिना किसी महान् साहित्य का सृजन नहीं हो सकता। उसने प्रगति के विश्वास पर तथा समस्त आधुनिक 'प्राणवान्' कला पर चोट की और कहा कि बाइज़ेण्टाइन (Byzantine) की सूक्ष्म ज्यामितिक विशेषताएँ-मात्र ही अनुकरणीय हैं। उसने 'जीवन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्ष में 'मानववादी दृष्टिकोण' को अस्वीकार कर दिया। ह्यूम के सामान्य दृष्टिकोण ने इलियट को काफी प्रभावित किया तथा उसके द्वारा प्रतिपादित शिल्प-नियमों एवं पशु, शुष्क और स्पष्ट बिम्बों के प्रति आग्रह ने बिम्बवादी कवियों और आलोचकों को।

इलियट की आलोचना में सबसे रोचक बात यह है कि उसने 'कविता की निष्ठा' को 'एक ऊँची कोटि के आनन्द-लाभ' के रूप में सिद्ध करने का साहसपूर्ण उद्योग किया है, जब कि उसका सारा दृष्टिकोण गहन धार्मिक है। वस्तुतः इलियट में एक प्रकार से आर्नल्ड के उस संकटमय विकल्प की पुनरावृत्ति हुई है कि कविता से धार्मिक आश्वासन की उपेक्षा की जाय। वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के विषय में लिखते समय आर्नल्ड ने कहा था : "कविता ही सत्य है, दर्शन मरीचिका-मात्र !" और उसके बाद उसने बढ़कर शेली को 'विषय-वस्तु के अभाव' के कारण फटकारा भी। इलियट के सामने इतना स्पष्ट है कि कविता क्या नहीं है। वह कहता है, "निस्सन्देह कविता नैतिक आचार का प्रतिपादन नहीं है और न राजनीति का निर्देश है, और न ही धर्म का कोई समवाय ही है।" फिर कुछ हिचकते हुए, तर्कपूर्णता से अधिक ईमानदारी से प्रेरित होकर वह आगे जोड़ता है, "साथ-ही-साथ कविता का कोई-न-कोई सम्बन्ध नैतिकता ही क्या, राजनीति से भी अवश्य है, यद्यपि हम कह नहीं सकते कि क्या है।" फिर यह वही दोनों हाथ लड्डू प्राप्त करने की विधि है जिसका आर्नल्ड को विशेष अभ्यास है। फिर भी, इलियट अपनी स्थिति आगे चलकर स्पष्ट करता है, "अगर प्रश्न यह हो कि मुझे शेक्सपीयर की अपेक्षा दान्ते (Dante) की कविता क्यों रुचती है तो मैं कहूँगा कि उसमें जीवन-रहस्य के प्रति एक अधिक स्थिर प्रज्ञा का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।" शेक्सपीयर हमारे सामने जीवन-रहस्य की समस्या का कोई समाधान नहीं रखता। वह जीवन की समस्या को उसके अत्यन्त आग्रहपूर्ण रूप में प्रस्तुत कर देता है और फिर हमें अपने अनुभवों के सहारे छोड़ देता है। इसके विपरीत दान्ते के पास अक्वीनास (Aquinas) की प्रणाली का सम्बल था, मध्य युग के सम्पूर्ण नियमित और स्थिर जगत् का सहारा था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थिर-बुद्धि और ऐक्य, विज्ञान-पूर्व युग की पूँजी थी और उसकी पुनर्प्राप्ति एक स्थिर परम्परा की अनुभूति द्वारा ही हो सकती है जिसकी जड़ें अतीत में जमी हों और जो आज की वास्तविकता से विच्छिन्न हो।

आलोचना की इस द्विविधा का एक अन्य प्रधान उदाहरण हमें आई० ए० रिचार्ड्स (I.A.Richards) में मिलता है। उसकी पद्धति तो वैज्ञानिक है परन्तु उसका साध्य एक प्रकार की आध्यात्मिक संस्कृति है, जिसके विनाश की आशंका विज्ञान से है। मनोविज्ञान और अर्थ-विज्ञान (Semantics) के प्रयोग द्वारा रिचार्ड्स ने साहित्यिक मूल्यांकन की अनिश्चयात्मकता को कम करने का प्रयास किया। अस्पष्ट प्रभाववाद के विरोध में उसने साहित्यालोचन को एक निश्चित विज्ञान बना डाला। उसने प्रत्येक शब्द के कार्य और साहित्यिक कृति में शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध, दोनों का अनुशीलन किया और समीक्षात्मक विश्लेषण का एक उपकरण प्रस्तुत किया। लेकिन इलियट की ही भाँति रिचार्ड्स भी कुछ उसी प्रकार के विरोधाभासों में उस समय फँस जाता है जब वह सन्तोषप्रद साहित्यिक मूल्यों का सिद्धान्त निर्धारित करने की चेष्टा करता है। रिचार्ड्स के अनुसार मूल्यों के एक सामान्य सिद्धान्त की स्थापना आवश्यक है, "इसलिए कि आलोचक को प्रतिष्ठित किया जा सके, स्थापित मान्यताओं की टाल्स्टाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के-से आक्रमणों से रक्षा की जा सके, इन आदर्शों और जन-रुचि के बीच खाई को पाटा जा सके और शुद्धिवादियों और संस्कार-च्युत लोगों की परुष आचार-नीति से कलाओं को बचाया जा सके। एक ऐसे सामान्य मूल्यों के सिद्धान्त की आवश्यकता है जो इन वक्तव्यों को कि 'यह अच्छा है, वह बुरा है' अस्पष्ट या मनमाना बनाकर ही न छोड़ दे।" रिचार्ड्स ने मानस-वृति के पक्ष में नैतिक आचार का परित्याग किया और कहा कि जो-कुछ भी हमारी स्वाभाविक एषणा (appetancy) अर्थात् एक प्रकार की अचेतन अभिलाषा को तृप्त करता है, वह मूल्यवान् है और जितनी अधिक स्वाभाविक एषणाओं की तृप्ति उसके द्वारा होगी, उतना ही वह अधिक मूल्यवान् होगा। प्रत्येक अनुभव अपने में शिव होता है और उसके अनुसरण के लिए किसी हेतु की आवश्यकता नहीं है। अतः अधिकतम शिव की उपलब्धि के लिए, नैतिकता का समस्त अमनोवैज्ञानिक कल्पनाओं से मुक्त किया जाना और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ बदलना आवश्यक है। रिचार्ड्स की इस दृष्टि को एक प्रकार की प्राकृतिक नैतिकता कहा जा सकता है, क्योंकि कोई भी बँधी-बँधाई आचार-परिपाटी ही आज या कल अवश्य ही हमारी आकांक्षाओं में व्याघात उत्पन्न कर देगी। धार्मिक अथवा नैतिक प्रमाणों को उखाड़ फेंकने के पश्चात् मूल्यों का यह समस्त सिद्धान्त-कुल इस प्रश्न पर ही केन्द्रित हो जाता है कि मानस की सर्वाधिक मूल्यवान् कौनसी वृत्तियाँ हैं। यहीं पर कविता का प्रवेश होता है, क्योंकि कलाकार ही एक ऐसा व्यक्ति है जिससे हमें मूल्यवान् अनुभूतियाँ प्राप्त होने की सबसे अधिक सम्भावना है; वह एक ऐसा बिन्दु है जहाँ मानस की परिपक्वता अपने को व्यक्त करती है। इसके अतिरिक्त कवि की अनुभूति उन आवेगों के समन्वय की अभिव्यक्ति है, जो दूसरों में अभी अस्पष्ट या द्वन्द्व-शील हैं। उसकी कला-कृति उस वस्तु का विन्यास है, जो औरों में अभी अव्यवस्थित अथवा संकुल है। वह उदाहरण है **"जीवन के उत्कृष्ट निर्वाह"** (Fine conduct of life) का, **जिसका स्रोत उन प्रतिक्रियाओं के लालित्यपूर्ण विन्यास में है जो इतनी सूक्ष्म हैं कि साधारण नैतिक सूक्तियाँ उन्हें छू नहीं सकतीं। रुचि-विचार अथवा असंस्कृत प्रतिक्रियाएँ किसी अन्यथा प्रशंसनीय व्यक्ति में, मात्र त्रुटियों के ही समान नहीं होतीं। वस्तुतः वे मौलिक दोष हैं जिनसे अन्य दुर्गुणों का जन्म होता है।"** इस प्रकार यह मूल्य-सिद्धान्त, कला को एक प्रकार का सौन्दर्यवादी धर्म बना देने का प्रयास है, जो बरबस पेटर की याद दिला देता है।

रिचार्ड्स की धारणा है कि केवल धर्म ही नहीं, सभी बँधी-बँधाई मान्यताएँ कविता की विरोधी हैं। उसके अनुसार समस्त काव्य ने यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण भावनाएँ बिना किसी विश्वास की मध्यस्थता के, जाग्रत और पुष्ट की जा सकती हैं। हमें ध्यान रखना है कि कवि जो कुछ कहता है, आवश्यक नहीं कि वह सत्य ही हो। **"उसकी वाणी भावना में फूटती है"** न कि तर्क अथवा दर्शन में। यह नहीं कि कवि की अर्ध-प्रतिज्ञा (Pseudo-statement) अनिवार्यतः झूठ ही हो। वह एक शब्द-विन्यास-मात्र है, जिसकी वैज्ञानिक सत्यता या असत्यता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी रिचार्ड्स शीघ्र ही इस परिणाम पर पहुँचता है कि विज्ञान हमें अपने और संसार के विषय में अधिक स्पष्ट ज्ञान देकर कविता को नष्ट करता जा रहा है। जब तक कवि एक शिशुवत् मुग्धता की स्थिति में पड़ा रह सकता था, वह अपनी कल्पना के ताने-बाने बुनने के लिए स्वतन्त्र था। लेकिन अब, जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके बहुत से वक्तव्यों और निश्चित यथार्थ में टकराहट पैदा होती जाती है, उसके लिए दो ही रास्ते रह गए हैं, या तो वह जादू की दुनिया में लौट जाय या मानसिक अनुर्वरता का शिकार बने। विज्ञान ने अतीत के उस समस्त प्रतीक-कोष को ही खतरे में डाल दिया है जिससे कविता की वाली बुनी जाती थी। विज्ञान हमारे ऊपर जगत् की एक यथार्थवादी दृष्टि लादता चला जा रहा है, जो रिचार्ड्स को अपनी समस्त वैज्ञानिक प्रणाली के बावजूद, अंगीकार्य नहीं है। वह एक प्रकार के अकेलेपन, अनिश्चय और अर्थहीनता की भावना की शिकायत करता है; और उस जीवनदायी रस के लिए तड़पता है जो उसे लगता है कि **'सहसा सूख गया है।'** रिचार्ड्स की वे बातें एक धार्मिक तृषा और पुराने रहस्यवादी प्रमाणों और पूर्णताओं की स्पृहा की भाँति मालूम पड़ती हैं; उसी जीवनदायी विश्वास की भाँति, जिसकी प्यास इलियट को भी तड़पाती है।

जिस समय रिचार्ड्स मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाव में अपने 'प्रिन्सिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म (Principles of Literary Criticism) का आयोजन कर रहा था, उक्त शास्त्र की प्रक्रिया राबर्ट ग्रेव्ज (Robert Graves) जैसे व्यक्तियों में कुछ अधिक अबाधित रूप में हो रही थी। 'काव्यात्मक निर्विवेक' (Poetic Unreason) जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा कविता और स्वप्न एवं अचेतन मन के बीच के अस्पष्ट और अनिश्चित क्षेत्र को पहले-पहल नापने का प्रयास किया गया। आलोचना का यह पहलू, जिसे हर्बर्ट रीड (Herbert Reed) ने और भी विकसित किया, अति यथार्थवाद में परिणत हुआ और समकालीन अंग्रेजी साहित्य तथा समालोचना पर उसने गम्भीर प्रभाव डाला है। फिर भी, फ्रायड के मनोविज्ञान की छाप साहित्यालोचन पर मूल्य-निर्देशन की दृष्टि से उतनी नहीं पड़ी जितनी उद्भव की दृष्टि से। इसकी चेष्टा की गई कि साहित्यिक कृतियों की व्याख्या उनके मनोवैज्ञानिक स्रोतों के संदर्भ में की जाय। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या और कृति के मूल्य में सम्बन्ध क्या है, इस पर साधारणतः प्रकाश नहीं डाला गया। वस्तुतः समालोचना का यह निकाय एक प्रकार की इतिहास-प्रणाली है, जो निर्णयात्मक नहीं है। इतिहास—अर्थात् किसी कृति को प्रेरित करने वाली परिस्थितियों की व्याख्या—के रूप में यह प्रणाली उस परम्परागत 'पृष्ठभूमि और प्रभाव' वाली शैली से केवल पद्धति में ही भिन्न है,(उद्देश्य में नहीं) जिसका प्रतिपादन उसी काल में वर्जिनिया वुल्फ (Virginia Wolf)-जैसे आलोचकों द्वारा हो रहा था। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने साहित्यालोचन के लिए एक ही साथ चुनौती और सहारे दोनों का काम किया। निस्सन्देह इस शास्त्र ने काव्य-सृजन के उन अँधेरे क्षेत्रों को प्रकाशित करने में सहायता दी जिसकी देहरी से आगे परम्परावादी आलोचक नहीं जा सके थे। लेकिन इस नये ज्ञान ने जिस दृश्य का उद्घाटन किया वह बहुत रुचिकर नहीं था। इसीलिए रिचार्ड्स ने इसके सम्बन्ध में कहा कि **"शास्त्रों और विज्ञानों में सबसे अधिक घातक शास्त्र का कार्य तो अब प्रारम्भ हो रहा है,"** यद्यपि स्वयं रिचार्ड्स की पद्धति का उद्गम इस शास्त्र में ही था। रिचार्ड्स की आशंका है कि हमारे विश्वासों पर मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव पड़ने से एक मानसिक उच्छृङ्खलता (Mental chaos) का जन्म होगा, क्योंकि मनोविश्लेषण के उपरान्त हमारी भावनाओं और वृत्तियों के समर्थन में मात्र शारीरिक न्याय के और कुछ रह नहीं जाता। बहरहाल,इस नये विज्ञान के मोहक इन्द्र-जाल से समालोचना की रक्षा इन आशंकाओं के कारण नहीं हुई। मूल कारण यह था कि आलोचना का सम्बन्ध सदैव कृति के प्रभाव से अधिक होता है, उसके उद्गम से कम; निर्णय से अधिक, व्याख्या से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम। मूल प्रश्न मूल्यांकन का ही है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव इस कारण भी व्यापक और स्थायी न हो सका कि उसी काल में, बराबर गहरे होते हुए राजनीतिक और आर्थिक संकट के दबाव में पड़कर, आलोचना व्यक्ति से हटकर विस्तृत सामाजिक दृष्टि की ओर बढ़ने लगी। यह विश्वास अधिक-से-अधिक बढ़ने लगा कि व्यक्ति और हमारी समूची संस्कृति का भाग्य आत्म ज्ञान पर उतना निर्भर नहीं करता जितना सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं की दिशा पर। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव से शक्ति-लाभ करके, समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण ने आलोचना को एक नई दिशा और आग्रह प्रदान किया। रिकवार्ड (Rickward), एडवर्ड अपवार्ड (Edward Upward) तथा राल्फ़ फ़ाक्स (Ralph Fox) जैसे कई नवोदित आलोचकों ने सामाजिक स्रोतों द्वारा साहित्य की व्याख्या करते हुए निबन्ध लिखे। लेकिन फ्रायडवादी आलोचकों की ही भाँति इन्होंने भी उद्गम की व्याख्या एवं कला-कृति के मूल्य के बीच सम्बन्ध पर कोई प्रकाश नहीं डाला। यह बात काडवेल (Caudwell) के 'इल्यूयन एण्ड रियलिटी' (Illusion and Reality) के सम्बन्ध में भी, जो साहित्य के उद्गम पर सबसे अधिक प्रभावशाली मार्क्सवादी ग्रन्थ है, पूर्णतः सत्य है।

इस पुस्तक का मुख्य प्रकरण यह है : वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में सत्य पदार्थ-जगत् का एक अंश लेकर बैठ जाता है और उसकी गति और गुण का इस प्रकार वर्णन करता है जैसे यह अंश ही सम्पूर्ण पदार्थ-जगत् हो। यह वैज्ञानिक भ्रान्ति हुई। इसी प्रकार कवि भी यथार्थ बाह्य जगत् का एक टुकड़ा चुन लेता है और उसकी गति और गुण का वर्णन इस भाँति करता है जैसे वह सम्पूर्ण संसार ही, न केवल उसकी अपनी इच्छा और कल्पना का, बल्कि समस्त मनुष्यों की इच्छा और कल्पना का है। यह काव्यात्मक भ्रान्ति है। सत्य यह है कि अपने पदार्थ-अंश और सम्पूर्ण पदार्थ-जगत् की सापेक्षता के बीच वैज्ञानिक, अपनी आंशिक अनुभूति और इच्छा एवं कल्पना के सम्पूर्ण संसार की सापेक्षता के बीच कवि, ये दोनों ही प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष के दो ध्रुवान्त हैं, जिनकी सतत परिव्याप्ति से ही जीवन-क्रम बनता है। सत्य न केवल पदार्थ है और न केवल चेतना ही। सत्य दोनों के सक्रिय द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में निहित है। मनुष्य और प्रकृति, चेतना और पदार्थ के इस निरन्तर संयोग और वियोग के पल-पल परिवर्तित परिणाम का ही नाम सत्य है।

ज्ञान और अनुभव के इस मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर काडवेल अंग्रेजी काव्य के इतिहास को फिर से लिखता है, काव्य-तत्त्व का निराकरण करता है और भविष्य की ओर देखता है। उदाहरणतः उसके अनुसार शेक्सपीयर ने अपनी ट्रैजेडियों में उसी संघर्ष की अभिव्यंजना की है जिसे हमने आगे चलकर पूँजीवाद के लक्षण के रूप में जाना; जो स्वतन्त्रता के लिए व्यक्ति की अबाध्य लालसा और समकालीन आर्थिक संघटन की रूढ़िग्रस्त वर्जनाओं का संघर्ष है। एंगेल्स के अनुसार "अनिवार्यता का परिज्ञान ही स्वतन्त्रता है" और चूँकि रोमियो, जूलियट, मैकबेथ और ओथेलो के पास उक्त परिज्ञान नहीं था इसलिए उन्हें ट्रैजेडी का शिकार होना पड़ा।

काव्य के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, काडवेल की स्थापना है कि कविता की अवश्यम्भावना व्यक्ति अथवा प्राकृतिक और सामूहिक अथवा सभ्य मानव के बीच होने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष पर आधारित है। काव्य का सत्य उसके वक्तव्यों में नहीं, बल्कि उस सामूहिक भावावेग में है, जिसकी अभिव्यक्ति उसमें होती है। कविता के चित्र स्वप्न-चित्रों के ही समान होते हैं, परन्तु कवि अपनी चित्रावली से भावना की अभिव्यक्ति करता है और उसे न केवल व्यक्तिगत, बल्कि सामाजिक मूल्य प्रदान करता है।

एक पक्का कम्युनिस्ट होने के नाते, काडवेल का विचार है कि महान् कला का सृजन वर्गहीन समाज में होगा। इस बीच श्रमिक वर्ग अपनी अभिव्यक्ति मध्यवर्गीय शब्दों और धारणाओं के माध्यम से करने का प्रयास कर रहा है तथा मध्यवर्गीय लेखकगण अपनी धारणाओं को श्रमिकवर्गीय व्यवहार में उतारने की चेष्टा कर रहे हैं। परिणामस्वरूप हमारे सामने है संक्रान्तिकालीन कला की यह आत्म-चैतन्यता।

फ्रायडवाद की ही भाँति मार्क्सवाद को भी इंग्लैण्ड में शक्तिशाली समर्थक मिले। परन्तु इन दोनों ने आलोचनात्मक सिद्धान्त और व्यवहार की विशाल धारा में, जिसका मुख्य सम्बल आज भी परम्परा में ही है, कुछ विविधता भरने का योगदान किया है, यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं कि इन दोनों वादों ने साहित्यालोचन में दो ऐसे तत्त्वों को प्रविष्ट किया है जो हमारे युग के ज्ञान और जागरूकता का स्पष्ट और मूर्तिमान प्रतिनिधित्व करते हैं। यह सत्य है कि 'विशुद्ध काव्य' का इन्द्र-जाल लगभग छिन्न-भिन्न हो गया है, परन्तु यह भी सत्य है कि अधिकांश आलोचकों ने नये समाज-शास्त्र के तन्त्र को भी नहीं माना है। अभी भी, रेटसन (Rateson) के शब्दों में साहित्यिक संदर्भ की भावना (sense of literary context) ही आलोचना की वृत्ति है। अर्थात्, अभी भी आलोचना का प्रयास यही है कि नई सामाजिक चेतना के साहित्य को अपूर्व अनुभव के रूप में ग्रहण करने वाली मान्यता के साथ समन्वित किया जाय; मूल के ज्ञान और सौरभ के सुख के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाय। इलियट के बावजूद भी एबर क्राम्बी (Aber Crombie) और मिडलटन मरी (Middleton Murry) जैसे विशिष्ट आलोचकों में रोमाण्टिक परम्परा प्रवाहित रही। एबर क्राम्बी ने काव्य का समाहारात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसमें अधिकतर रोमाण्टिक प्रतिज्ञाएँ सम्मिलित हैं। मिडलटन मरी में रोमाण्टिक धारा की रहस्यवादी और तत्त्ववादी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। आलोचनात्मक परम्परावाद के अन्य स्रोत भी हैं। जी० के० चेस्टर्टन (G. K. Chesterton) के साहित्य-दर्शन पर उसकी भावुकतापूर्ण नैतिक इतिहास-दृष्टि का रंग है। एफ० एल० लूकास (F. L. Lucas) ने एक 'साधारण बुद्धिवादी आलोचक' (common sense critic) के रूप में हारे हुए रोमाण्टिक आदर्शवाद पर प्रहार किया। सी० एस० लीविस (C. S. Lewis) की दृष्टि में ऐंग्लिकन मध्यम मार्ग के साथ धार्मिक आग्रह है।

विद्वत्तावादी आचार्य-परम्परा का भी सेण्ट्सबरी के साथ अन्त नहीं हो गया। ओलिवर एल्टन (Oliver Elton), क्विलर कूच (Quiller-Couch), एडमण्ड चैम्बर्स (Edmund Chambers) तथा हरबर्ट ग्रियर्सन (Herbert Grierson) आदि कुछ आलोचकों ने निस्सन्देह साहित्यालोचन के क्षेत्र में विद्वत्ता, गम्भीरता और व्यापक दृष्टि का उन्नयन किया है, जो अंग्रेजी आलोचना की विशेषता रही है।

इस लेख में समकालीन आलोचना के क्षेत्र में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के योग-दान का आकलन करना सम्भव नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समीक्षात्मक विचारधारा पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। नये-नये साहित्यिक निकायों के समर्थन में, अनेक पत्रों का प्रकाशन हुआ है और उनके विचारों के संघर्ष ने अधिकाधिक पाठकों को अन्वेषण और पुनर्मूल्यांकन के लिए विवश किया है। इन माध्यमों में व्यक्त आलोचना का विस्तार बहुत बड़ा है—गम्भीर विद्वत्तापूर्ण अध्ययन से लेकर मात्र साहित्यिक फतवे तक कि "इससे काम नहीं चलने का।" परन्तु पत्रिकाओं में प्रकाशित अधिकतर लेख मूल्यवान और पठनीय हैं और उनका उपयोग केवल तात्कालिक ही नहीं समझा जाना चाहिए। वस्तुतः गौरवपूर्ण ग्रन्थों की अपेक्षा इन पत्रिकाओं में ही बीसवीं शताब्दी के साहित्यालोचन को अपना स्वरूप प्राप्त हुआ है। इन्हीं पत्रिकाओं में रूढ़ियों के विरुद्ध कठिन संघर्ष हुआ है और नई आवश्यकताओं की स्पष्टतम अभिव्यक्ति हुई है। एक प्रमुख पत्रिका के शब्दों में "हमारी समझ में 'स्क्रूटिनी' का कार्य है, **और वस्तुओं के साथ एक प्रभावपूर्ण 'समकालीन भावग्राह्यता' के निर्माण में सहायता पहुँचाना।"** शिक्षा के प्रसार और यातायात के व्यापक साधनों के विकास के साथ, साहित्य के अध्ययन का महत्त्व बढ़ना अनिवार्य ही था। इस प्रकार न केवल साहित्यिक कृतियाँ ही, बल्कि समकालीन संस्कृति का ताना-बाना ही आज साहित्यालोचन का विषय बन गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

आई० ए० एक्स्ट्रॉस

वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन

समाज में आज एक गहरा परिवर्तन हो रहा है और इसके फलस्वरूप स्थापित मान्यताओं को एक आघात पहुँचा है। निर्विवाद रूप से मान्य धारणाएँ, जिन पर सभ्यता आधारित थी, आज तिरस्कार का विषय बन गई हैं। अक्षुण्ण माने जाने वाले सांस्कृतिक आधार तथा पवित्र माने जाने वाले मूल्यों का अस्तित्व आज खतरे में है। हम एक नई व्यवस्था के प्रसूति कष्ट को देख रहे हैं, और बहुत सतही दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति ही कह सकते हैं कि मात्र एक आर्थिक पुनर्संगठन से हमारी सारी समस्याएँ सुलझ जायँगी। जैसा हम स्वयं देखेंगे, यह वस्तुतः मानव का आध्यात्मिक संकट है, केवल भौतिक परिस्थितियों का असन्तुलन-मात्र नहीं।

पश्चिम इस क्रान्तिकारी संकट से होकर गुज़र रहा है, किन्तु हम पूर्व वाले निश्चेष्ट होकर नहीं बैठे रह सकते। हम पश्चिम की अव्यवस्था को एक तटस्थ दर्शक के दृष्टिकोण से देखने का साहस नहीं कर सकते, क्योंकि हम स्वयं भी इससे अलग नहीं हैं। चीन और कोरिया, यहाँ तक कि अगम्य तिब्बत भी इस बात के प्रमाण हैं कि हम इतिहास से अपने-आपको विलग नहीं कर सकते।

संकट का उदय

इस आधुनिक घोर अव्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व यह देख लेना उचित होगा कि हम इस स्थिति में किस प्रकार पहुँच गए। यदि हम पिछली दो शताब्दियों को देखें तो हम उन तीन विभिन्न परन्तु घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध धाराओं को पहचान सकते हैं जिन्होंने सम्मिलित होकर मानवता को क्रान्ति के उमड़ते हुए प्रवाह में खींचा। यह नहीं कि मनुष्य बाह्य शक्तियों से अनुशासित एक असहाय कठपुतली-मात्र है, क्योंकि ये आत्म-विघटन की शक्तियाँ तो स्वयं उसीने जान-बूझकर बनाई हैं। ये तीन धाराएँ थीं औद्योगिक पूँजीवाद, विज्ञान और दर्शन, और इन्हीं तीनों को मनुष्य ने खुशी-खुशी अपने-आपको समर्पित कर दिया—इस आशा में कि ये उसे उसके आदर्श मनोराज्य तक पहुँचा देंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रिनेसाँ' के भावुकतापूर्ण बारूद का विस्फोट फ्रांसीसी क्रान्ति में हुआ और एक नये विश्वास को जन्म मिला—ऐसा विश्वास जो स्वतःचालित एवं स्वतःपूर्ण मनुष्य में था। नये मनुष्य के सामाजिक आदर्श 'स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व, समानता' के नारे में व्यक्त हुए। यह फ्रांसीसी क्रान्ति का सामाजिक घोषणा-पत्र था और यह मनुष्य में आस्था पर आधारित था। यह औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि है।

पश्चिम में औद्योगिक पूँजीवाद, जिस रूप में यह वस्तुतः विकसित हुआ, अपने प्राकृतिक विकास के लिए एक भौतिक दर्शन की अपेक्षा रखता था। आर्थिक लाभ इसका प्रमुख उद्देश्य था और मानवीय व्यक्तित्व का बलिदान मशीन तथा भौतिक वस्तुओं के लिए किया गया। लिबरल युग का औद्योगिक पूँजीवादी मानवीय उच्चता तथा स्वातन्त्र्य श्रेय तथा सौन्दर्य-जैसे मानव-मूल्यों की चिन्ता नहीं करता था; अर्थ और शक्ति, यही दो ऐसे मूल्य थे जो उसके निकट वस्तुतः आदरणीय थे और यही मूल्य अन्ततोगत्वा उसकी सभ्यता की स्वीकृत मान्यताएँ बन गए। वह व्यक्ति जो अपने कर्मचारियों को मनुष्य की भाँति देखता था और उनकी भलाई के लिए कुछ करना चाहता था, उस आदर्शवादी के रूप में व्यंग और उपहास का भागी होता था, जो व्यापार में भी भावुकता को अक्षुण्ण रखता है। इस प्रकार के मानवीय पूँजीवादी आत्मिकता से हीन 'मुक्त प्रतियोगिता' की स्थिति में किसी भी प्रकार अवशिष्ट न रह सके। १९वीं शती के पूँजीवादियों की आत्म-सन्तुष्ट निश्चेष्टता आज हमें चौंका देती है। यद्यपि उन्होंने क्रिश्चियन धर्म के उस मिलावटी रूप को (अर्थात् प्रोटेस्टेण्ट रूप को) अपनाने का ढोंग रचा था, फिर भी उनका व्यापार निश्चित रूप से भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर चलता था।

औद्योगिक पूँजीवाद को बूर्जुवा दार्शनिकों और वैज्ञानिकों से काफ़ी सहायता मिली और वे भौतिकवाद को एक आदरणीय रूप देने में सफल भी हुए। ये दार्शनिक कांट के बुद्धिवाद तथा हीगेल के आदर्शवाद को छोड़कर, जहाँ तक अतिभौतिक तत्त्वों तथा धर्म का सम्बन्ध है, नितान्त अनीश्वरवाद की स्थिति में पहुँचे।

फ्यूएरबैख ने अपनी दो पुस्तकों 'एसैन्स ऑफ़ क्रिश्चिएनिटी' तथा 'एसैन्स ऑफ़ रिलीजन' में धर्म के समस्त अतिप्राकृत तत्त्वों को नष्ट करने का प्रयत्न किया और उसका मनुष्य के उन्नयन का सिद्धान्त केवल इसीलिए आयोजित किया गया था।

विरोधी धारणाओं के बावजूद फ्यूएरबैख अधार्मिक व्यक्ति नहीं था; इसके विपरीत वह मनुष्य को मूलतः एक धार्मिक प्राणी मानता था। उसने केवल अनीश्वरवादियों का वह खतरनाक प्रयोग-भर किया था, जिसमें 'अनजाने ईश्वर' का स्थान मनुष्य को दिया जाता है।

फ्यूएरबैख का सिद्धान्त मार्क्स और एंगेल्स के समक्ष एक नई दृष्टि के रूप में आया, जब वे हीगेल की विचारधारा के आन्तरिक विरोधों को लेकर उलझे हुए थे। वे हीगेल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के प्रशंसक थे, परन्तु उसका 'परम भाव' (absolute idea) उनके लिए निरर्थक था। ऐसी स्थिति में फ्यूएरबैख ने उनका मार्ग-प्रदर्शन किया। जैसा एंगेल्स कहता है, "एक ही आघात में उसने अन्तर्विरोध को चूर-चूर कर डाला और बिना किसी घुमाव-फिराव के उसने भौतिकवाद को फिर स्थानासीन कर दिया।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ्यूएरबैख को एक भौतिकवादी के रूप में सिद्ध करना, दर्शन के विकास में मार्क्स की अपनी वैयक्तिक देन है। फिर भी यह बात महत्त्वपूर्ण है कि लेनिन ने जर्मन दर्शन, अंग्रेजी राजनीतिक अर्थशास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फ्रांसीसी समाजवाद को मार्क्सीय विचारधारा के तीन स्रोत तथा तीन अंग माना है। प्रोफ़ेसर गिलसन के शब्दों में "अपनी पुस्तक, मैटीरियलिज़्म एंड एंपिरिको-क्रिटिसिज़्म' में चालीस बार से भी अधिक लेनिन अपने दर्शन में उस केन्द्रीय स्थिति को फिर-फिर स्वीकार करता है कि ह्यूम ने कांट को जन्म दिया, और फिर कांट ने मिल, मैख़, हक्सले, कोहेन, रिनौवियर, योइनकेयर, ड्यूहेम, जेम्स और उस वाद के सारे प्रवर्त्तकों को जन्म दिया जिसे वह 'ह्यूमैन ऐगनौस्टिसिज़्म' कहकर अभिहित करता है।" १९वीं शती के बौद्धिक वातावरण में मार्क्सीय भौतिकवाद बहुत स्वच्छन्दतापूर्वक विकसित हुआ। इसका केवल यही अर्थ हो सकता है कि तत्कालीन वातावरण ही स्वयं एकदम भौतिकवादी था। दार्शनिक भौतिकवाद को विज्ञान की प्रगति से सहारा मिला और वर्तमान शताब्दी में विशुद्ध दर्शन का ह्रास जेम्स के 'बिहेवियरिज़्म', ड्यूई के 'प्रैगमैटिज़्म' तथा फ्रॉयड के 'डिटरमिनिज़्म' के साथ-साथ एक नकली विज्ञान के रूप में हो गया है।

वैज्ञानिकों ने भी औद्योगिक पूँजीवाद को सहायता दी। उनके अनुसन्धानों के फलस्वरूप पूँजीवाद के लाभ में ही वृद्धि नहीं हुई, वरन् भविष्यवक्ताओं की हठवादिता के साथ उन्होंने विज्ञान के नाम पर भौतिकवाद तथा निश्चयवाद की भी स्थापना की। इन लोगों ने वैज्ञानिक मानववाद के सिद्धान्त का प्रचार किया। इनके वैज्ञानिक मानववाद का अभिप्राय मनुष्यों की उस नई जाति से था जो यूगैनिक्स विज्ञान के आधार पर पाली-पोसी गई हो, जिसको विकसित करने में हाईजीन के सिद्धान्तों का सहारा लिया गया हो, जिसका संगठन समाज-शास्त्र के नियमों के अनुसार हुआ हो, जिसकी परवरिश अर्थशास्त्र के नियमों के अनुसार हुई हो और जिसका मनोरंजन सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया हो। वैसे यह सब बहुत वैज्ञानिक था, परन्तु उसमें व्यक्ति की स्वतन्त्र आत्मा के लिए कोई स्थान न था। और जब मार्क्सवादियों ने इस वैज्ञानिक स्वर्ग को एक वास्तविकता के रूप में परिणत करना चाहा तो पाश्चात्य संसार इसकी अपनी धारणाओं के भयंकर परिणामों को सोचकर चकित हो गया।

यह निश्चित है कि पश्चिम में ऐसे बहुत से महान् विचारक तथा दार्शनिक थे, जिन्होंने भौतिकवाद को बुद्धि तथा मानवीय प्रकृति के निकृष्ट विश्वासघात के रूप में अमान्य ठहराया। इन महान् चिन्तकों में थे बर्गसाँ, क्लौडैल, मारिटेन, बर्ड्येव तथा अन्य बहुत से क्रिश्चियन मनीषी। पोप पद को ग्रहण करने वाले व्यक्तियों ने भी बार-बार पूँजीवाद तथा भौतिकवाद की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया; परन्तु उनको रहस्यात्मक तथा प्रक्रियावादी ठहराकर उनका तिरस्कार किया गया। फलतः हमारी शताब्दी ने एक ऐसी सभ्यता के आश्चर्यजनक अन्तर्विरोधों को देखा, जिसकी मौलिक धारणाएँ भौतिकवादी थीं, परन्तु जिसकी कामनाएँ वस्तुतः आध्यात्मिक थीं और जो इसलिए भौतिकवाद के प्रसंग में निरर्थक एवं अग्राह्य बनी रहीं। अन्तर्विरोध की इस स्थिति में ही आधुनिक संकट का उदय होता है।

अब हम बहुत संक्षेप में इस संकट से प्रभावित कुछ क्षेत्रों का निरीक्षण करेंगे। हम यह ऊपर कह चुके हैं कि यह एक सम्पूर्ण संकट है और इसने मानव-जीवन के उस प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है, जिसके कारण स्वयं मानव-जीवन को अपने मूल्य तथा मान्यताएँ मिलती हैं। क्योंकि अन्य सारे मूल्य अन्ततोगत्वा सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के मौलिक तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं, इसलिए हम अपना विवेचन इन्हीं तीनों तत्त्वों तक सीमित रखेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकटग्रस्त विज्ञान : सत्य का विघटन

मानस के एक उत्कृष्ट निबन्ध 'दी कंडीशन्स ऑफ़ फ्रीडम'[१] के अनुसार, "सबसे पहले भूतविज्ञानियों ने आधुनिक भौतिकवाद के अन्ध सिद्धान्तों को जन्म दिया था, जिसका कारण कदाचित् यह था कि अपने पेशे की आदतों के अनुसार वे ब्रह्माण्ड को एक विराट् मशीन समझते थे।" विज्ञान की प्रतिष्ठा और एक औद्योगिक सभ्यता के मानसिक वातावरण के कारण वैज्ञानिकों को भविष्य का द्रष्टा तथा निर्माता माना जाता था। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए आज का मनुष्य उन वैज्ञानिकों का मुँह देखता है, परन्तु उन्होंने उसको निराश कर दिया है।

विज्ञान, जो अपनी प्रकृति के अनुकूल ही, भौतिक पदार्थों के तत्त्वों और व्यवहारों के परीक्षण, गणन तथा व्यवस्थित करने तक ही सीमित है, स्वभावतः ही उन महान् सत्यों तक पहुँचने में असमर्थ है, जो मनुष्य से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, जैसे ईश्वर का अस्तित्व, मानव की प्रकृति तथा स्वातन्त्र्य, उसकी अत्यन्त गहरी महत्त्वाकांक्षाओं का अर्थ इत्यादि। परन्तु इससे भी वैज्ञानिक विचलित नहीं हुए। उन्होंने इन वस्तुतः महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को अनावश्यक कहकर एक ओर कर दिया और इनके स्थान पर वैज्ञानिक मानववाद को प्रश्रय दिया। जूलियन हक्सले, वेल्स, रसेल तथा और भी बहुतों ने इस विचारधारा का बहुत उत्साह के साथ प्रचार किया, जिस उत्साह को किसी और अच्छे काम में लगाया जा सकता था, और साधारण जनता ने विज्ञान के इन महन्तों की बात को सन्देह की दृष्टि से देखने का साहस भी नहीं किया। इन वैज्ञानिकों ने बताया कि विज्ञान ने ईश्वर की कपोल-कल्पित कथा को विनष्ट कर दिया है और साधारण जनता इस बात से प्रभावित हुई। उन्होंने यह भी कहा कि विज्ञान धर्म के विरुद्ध है, मनुष्य भौतिक तत्त्वों का एक उच्च कोटि का संघटन-मात्र है और केवल वास्तविक भौतिक पदार्थ ही है। यह सत्य का बड़ा विश्वासघात था, जिसे हमारी शताब्दी ने देखा।

पहली बार देखने पर लोगों को वैज्ञानिक मानववाद आकर्षक जान पड़ा, परन्तु शीघ्र ही उसका अमानवीय रूप उनके सम्मुख आया। इसने मनुष्य की महत्ता को नष्ट कर दिया। जैसा जूलियन हक्सले ने अपनी पुस्तक 'मैन स्टैंड्स अलोन' में स्वीकार भी किया है: "डार्विन की विचारधारा के स्वाभाविक परिणामों का सामना किया गया, जिसके अनुसार मनुष्य भी और जानवरों के समान ही है। अतः उसके वे विचार जो मानवीय जीवन तथा मानवीय आदर्शों के गहरे अर्थों से सम्बद्ध हैं, शाश्वत (अथवा विकास) के प्रकाश में विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं रखते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे एक कीटाणु अथवा केंचुए की स्थिति उपेक्षणीय हो सकती है। अवशिष्ट रहना ही विकास में सफलता की एक-मात्र कसौटी है; अतः सारी जीवित वस्तुओं का महत्त्व एक समान है।" यह एक दयनीय स्थिति है और इसीलिए मनुष्य वैज्ञानिक मानववाद से सन्तुष्ट नहीं हो सका। उसका विश्वास था कि वह विज्ञान के सम्मुख अपनी आत्मा का समर्पण करके सारे संसार का स्वामी हो सकेगा, परन्तु विज्ञान ने उसकी स्थिति को एक तुच्छ कीड़े की स्थिति से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना।

इसके अतिरिक्त विज्ञान ने मनुष्य की स्वतन्त्रता नष्ट कर दी, क्योंकि निश्चयात्मक परिस्थितियों में स्वतन्त्रता बेमानी हो जाती है। जैसा कि मार्क्स और कॉडवैल ने बार-बार कहा है, एक बूर्ज्वा भौतिकवादी के लिए स्वतन्त्रता कोरा भ्रम है; वह केवल "आवश्यकता का अज्ञान

---

१. थॉट, अक्टूबर १७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है जिसमें कि व्यक्ति को कार्य करना पड़ता है।" फ्रॉयड के अनुयायी निश्चयवादियों ने यह तय पाया कि मनुष्य के सारे कार्य भौतिक अथवा शारीरिक परिस्थितियों, वंशानुक्रम तथा वातावरण द्वारा निर्धारित होते हैं। वैज्ञानिक मानववाद के फलस्वरूप मनुष्य जिस दयनीय परिस्थिति को पहुँच गया है, उसका बहुत ही सशक्त वर्णन बर्ट्रेण्ड रसेल ने किया है : "मनुष्य का जीवन बहुत अल्प एवं असहाय है; उस पर और उसकी सारी जाति पर मृत्यु का धीमा परन्तु निश्चित, निर्दय और अँधेरा पंजा गिरता है। अच्छाई और बुराई को बिना देखे, तथा बिना ध्वंस की कोई चिन्ता किये हुए, सर्वशक्तिमान भौतिक तत्त्व बिना रुके हुए आगे बढ़ता रहता है। मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने मस्तिष्क को उस अपरिहार्य निर्दयता से मुक्त रखे, जो उसके बाह्य जीवन की नियामक है; और इसके साथ-ही-साथ वह उन अनिवार्य तत्त्वों का भी सामना करता रहे, जो एक क्षण के लिए उसके ज्ञान और उसकी भर्त्सना को सहन कर लेते हैं।"[1]

किसी पुराने धार्मिक गीतकार ने कहा था : "मनुष्य ऐसा क्या है जिसके लिए तू इतना चिन्तित है ? तूने तो उसे देवदूतों से ज़रा-सा ही कम बनाया है।" फिर भी यहाँ ऐसे आधुनिक हैं जिन्होंने विज्ञान (जिसका अर्थ विवेक होना चाहिए) के नाम पर मनुष्य को बुद्धि-हीन भौतिक तत्त्वों से भी नीचे गिरा दिया है। इआगो, द पिटी आफ़ इआगो ! मनुष्य के प्रति कितना विश्वासघात ! सचाई का कितना विकृत रूप !

विज्ञान के नाम पर मनुष्य की ऐसी गिरी हुई स्थिति के प्रसंग में, उसके क्रिया-कलापों के मूल्यों के सम्बन्ध में मार्क्सीय दृष्टिकोण वैसे काफ़ी सच नजर आता है और यही नहीं, भौतिक-वाद के सामान्य धरातल पर इसका बौद्धिक रूप से विरोध भी नहीं किया जा सकता। इसके बजाय कि ज़िन्दगी ऐसा कूड़ा हो जिस पर कीड़े एक-दूसरे को खा रहे हों, अच्छा है कि ज़िन्दगी एक नियमबद्ध मक्खी का छत्ता ही बनी रहे।

परन्तु अपने अन्धभक्तों के लिए वैज्ञानिक मानववाद के पास और भी विशेषताएँ थीं। यदि विज्ञान हमारे सम्मुख एक दयालु देवी के रूप में, मनुष्य की स्थिति को सुधारता हुआ और श्रम से बचाने वाले जरियों की संख्या बढ़ाता हुआ आता, तो कदाचित् यह पतन तथा परतन्त्रता किसी हद तक सह्य भी हो जाती और मनुष्य तब कदाचित् इस भ्रम को भी स्वीकार कर लेता कि विज्ञान के भौतिक सुखों के लिए आत्मा का हनन कोई बुरा सौदा नहीं है। परन्तु वैज्ञानिकों ने हमें अणु बम बना दिया है, इस वादे के साथ कि भविष्य में वे और भी बड़े तथा अच्छे बम दे सकेंगे; और इस प्रकार मनुष्य की दुनिया भय के विकराल सपनों से आक्रान्त हो गई है। दुरा-ग्रही भौतिकवाद पर आधारित वैज्ञानिक मानववाद इतिहास का कदाचित् सबसे बड़ा धोखा सिद्ध हुआ है। वैज्ञानिक मानववादी के विरोध में मार्क्सवादी शाइलौक के इन शब्दों को अत्यन्त ही प्रासंगिक रूप में दुहरा सकता है : "जो दुष्टता तुम मुझे सिखा रहे हो, मैं उसे कार्यान्वित करूँगा; और तुम्हारे लिए यह और भी कठोरता के साथ होगा। हाँ, तुम्हारे निर्देशों का पालन मैं अधिक अच्छे ढंग से कर सकूँगा !"

यह हमें निष्पक्षता के साथ स्वीकार करना होगा कि वैज्ञानिकों ने अपनी भूल का अनुभव किया है, और ऊँचे दर्जे के वैज्ञानिकों ने तो जड़ भौतिकवाद की मान्यताओं को अस्वीकार भी कर

1. फ्री मैन्स वर्शिप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है; निश्चयवादी ब्रह्माण्ड में भी उनकी आस्था नहीं रही है। हेसनबर्ग द्वारा अनिश्चय-वाद के सिद्धान्त के आश्चर्यजनक आविष्कार के बाद से वैज्ञानिकों में एक नई और स्फूर्तिदायक सौम्यता आ गई है और उन्होंने भौतिक विज्ञान की सीमाओं को भी स्वीकार किया है।

अपनी पुस्तक 'दी मिस्टीरियस यूनिवर्स' में सर जेम्स जीन्स कहते हैं : "तीस वर्ष पहले हमने यह सोचा था, या अनुमान किया था कि हम एक ऐसे अन्तिम सत्य की ओर बढ़ रहे हैं, जो अपनी प्रकृति में एकदम यान्त्रिक है। यह हठात् एकत्र हुए अणुओं का ढेर-सा लगता था, जो अन्धी और निरुद्देश्य शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ-साथ कुछ देर तक निरर्थक उछल-कूद करने को विवश था, और अन्ततोगत्वा इसे एक मृत संसार का भाग बनना पड़ता था...आज तो इस धारणा में सहमति का अंश अधिक है, जो विज्ञान के भौतिक स्तर पर प्रायः एकमत हो जाता है, कि ज्ञान की धारा एक अयान्त्रिक वास्तविकता की ओर बढ़ रही है; ब्रह्माण्ड आज एक महान् विचार के रूप में अधिक लगता है बनिस्बत एक बड़ी मशीन के। मस्तिष्क आज भौतिक जगत् में हठात् योंही घुस आने वाली कोई अवांछनीय सत्ता नहीं जान पड़ता; हमें तो अब ऐसा जान पड़ता है कि मस्तिष्क ही वस्तुतः भौतिक जगत् का निर्माता तथा नियामक है।" विज्ञान का इस प्रकार जड़ भौतिकवाद और उसकी प्रक्रियाओं से विलग होना, आज हमारे लिए अत्यन्त प्रसन्नता और उत्साह का विषय है।

संसार के प्रसिद्ध भूतिविज्ञानी रॉबर्ट ए० मिल्लिकन ने अन्वेषणों की एक महत्त्वपूर्ण माला की समीक्षा करते हुए, जिसके अन्तर्गत सापेक्षिकता का सिद्धान्त और हेसनबर्ग की अनिश्चयवादी सिद्धान्त भी अन्त में आते हैं, निष्कर्ष रूप में कहा था : "फल यह है कि जड़ भौतिकवाद मृत हो चुका है। यदि हम गेलीलियो और न्यूटन की भाँति बुद्धिमान रहे होते तो इसका जन्म ही न हुआ होता।"[1]

जूलियन हक्सले ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि आधुनिक जीव-विज्ञान में भौतिक विकासवादियों के इस सिद्धान्त को प्रारंभिक तथा अवैज्ञानिक कहकर अमान्य कर दिया गया है कि मनुष्य केवल एक अत्यन्त विकसित पशु-मात्र है।[2]

हार्वर्ड के जेम्स बी० कोनेन्ट अपनी पुस्तक 'मॉडर्न साइन्स एण्ड मॉडर्न मैन' में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वैज्ञानिक का सारा अत्याचार अब समाप्त हो चुका है और विज्ञान अब दर्शन तथा विश्वास को अपने से अलग नहीं करता, क्योंकि वैज्ञानिक अब यह बात समझ चुके हैं कि **"स्वर्ग और पृथ्वी में बहुत सी ऐसी चीजें हैं जो आसानी से दृष्टिगोचर नहीं होतीं।"**

इस परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए कॉडवैल की 'क्राइसिस इन फ़िज़िक्स' लगभग २० वर्ष की देर के बाद ही प्रकाशित हुई। वह केवल एक मरे हुए घोड़े को चाबुक मार रहा था, यद्यपि चाबुक मारने में उसकी अपनी कुशलता थी।

विज्ञान के क्षेत्र में एक और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह है कि वैज्ञानिकों ने अपना उत्तरदायित्व मनुष्यों के रूप में अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है। अभी तक वैज्ञानिक का आदर्श एक भावना-हीन, बेजिम्मेदार अन्वेषण-यंत्र ही था। अनुसन्धान के क्षेत्र में वह अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा करता था, परन्तु उसके परिणामों के लिए वह अपने-आपको जिम्मेदार नहीं समझता था।

१. 'टाइम', मैटर, वैल्यूज़।
२. मैन स्टैंड्स अलोन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके निकट अनुसन्धान के मानवीय तथा नैतिक पक्षों का कोई मूल्य नहीं था। निश्चय ही अनुबंधित विज्ञान से समस्या का कोई हल नहीं हो सकता। जैसा कि वैज्ञानिकों की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में डी० दे रूजमैन ने बताया था कि रूस में राजकीय दखल के कारण विज्ञान की प्रगति को काफी धक्का पहुँचा है—"वैज्ञानिकों को लाइसैन्सों के अनुसार जीव-विज्ञान पढ़ाना पड़ता था, भाषा-विज्ञान का आदर्श स्तालिन था, और इतिहास का अध्यापन उन्हें बेरिया की होने वाली आत्मस्वीकृतियों को ध्यान में रखकर करना पड़ता था।" इस कांग्रेस के अवसर पर सभी वैज्ञानिक अपने गम्भीर उत्तरदायित्व के संबंध में एकमत थे। यदि एक बार भी मानवीय तत्त्व को प्रवेश मिल सका तो विज्ञान को एक नई दिशा मिल सकेगी, ऐसी आशा है। बुद्धि और आस्था की सेवा में निरत विज्ञान समाज के सुख में वृद्धि कर सकता है। परन्तु जब विज्ञान ही दर्शन का काम करने लगता है, और आध्यात्मिक तथा नैतिक समस्याओं के संबंध में अपने निर्णय देने लगता है, तो वह स्वयं को भी नष्ट करेगा और समाज को भी।

संकटग्रस्त कला : सौंदर्य का विघटन

जब सत्य पर आघात पहुँचता है तो सौन्दर्य और शिव भी प्रभावित नहीं रह सकते। जो भी व्यक्ति आधुनिक शिल्पकला, मूर्तिकला, संगीत, चित्रकला और साहित्य के सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं, वे इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि आज कला के क्षेत्र में एक संकट की स्थिति है। लेनार्डो और पिकासो, माइकेल ऐन्जेलो और ऐपस्टीन, तथा तुलसीदास और सार्त्र के पारस्परिक अंतर को समझने के लिए हमारा कलासमीक्षक होना आवश्यक नहीं। प्रस्तुत निबन्ध आधुनिक कला पर नहीं है, वरन् इसमें उक्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के कारणों को जानने का प्रयत्न-मर किया गया है।

सौंदर्य को पाने की मनुष्य में नैसर्गिक प्रवृत्ति है, और उसके प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदर-मिश्रित भय, आश्चर्य, श्रद्धा और आनन्द के रूप में प्रकट होती है। वह एक ऐसी उपस्थिति का अनुभव करता है जो उससे अधिक गम्भीर और ऊँची है। कलाकार अपने प्रातिभ-ज्ञान तथा दृष्टि के सहारे सामान्य धरातल के नीचे के स्तरों को भी देखता है। चाहे वह ब्रह्मांड हो या मानवीय नाटक, जिसे वह देख रहा है, वह जानता है कि **"साधारण रूप से दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुओं की अपेक्षा और भी गहरी चीजें हैं, जो छिपी हुई हैं।"** सत्य की भांति ही सौन्दर्य भी आध्यात्मिक जगत् से सम्बद्ध है; और सौंदर्य के मानों में अभिव्यक्त आध्यात्मिक मूल्यों के अतिरिक्त, कला और अंततोगत्वा है भी क्या? इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि महान् कला-कृतियाँ, चाहे वे पूर्व की हों अथवा पश्चिम की, सदैव धर्म से प्रेरित रही हैं। चाहे प्लेटो के अनुसरण में लोगों ने सोचा हो कि भौतिक जगत् वस्तुतः शाश्वत तथा स्थायी रूपों की छाया-मात्र है, और चाहे उन्होंने उपनिषदों के द्रष्टाओं के साथ परमतत्त्व को 'वास्तविक से भी वास्तविक' माना हो और चाहे क्रिश्चियनों की परम्परा में उन्होंने विश्व को निर्माता के तेज से अवाक्, अभिभूत देखा हो, प्रत्येक स्थिति में उन्होंने ब्रह्मांड को ईश्वर के मुख पर लिपटा हुआ एक झीना, पार-दर्शक आवरण-मात्र माना है, जो अदृष्ट का बाह्य रूप है। उनके ब्रह्माण्ड के दिव्य तथा शाश्वत आयामों ने आश्चर्य तथा आदरमिश्रित भय को सम्भव ही नहीं, वरन् अपरिहार्य भी बना दिया है। अपने रूमानी कथनों में वे कदाचित् कुछ सीधे तथा मुग्ध-से लगते हैं, परन्तु उनसे प्रसूत कला उनकी आध्यात्मिक स्थिति की गहराई का भली-भांति परिचय देती है। उनके लिए ब्रह्मांड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कुरूपता, भद्दापन तथा अकिंचनता को दिव्य शक्तियाँ ही दूर करके, उसे सौंदर्य से आवेष्टित करती हैं। अपने जड़ भौतिकवाद के साथ वैज्ञानिक मानववादियों ने अपने-आपको एक ऐसे तीन आयामों से युक्त ब्रह्मांड में बंदी पाया है, जिसमें से दिव्य तत्त्व को अलग कर दिया गया है, जिस में कोई आन्तरिक गहराई नहीं है, और जिसमें से कुरूपताएँ और बुराइयाँ न तो बहिष्कृत की जा सकी हैं, और न जिनका बहिष्कृत किया जाना सम्भव ही है। भौतिकवाद स्पष्ट ही सौंदर्य का निषेध है, क्योंकि वह मनुष्य की दृष्टि को इस ब्रह्मांड के तत्त्वों और यांत्रिक स्थिति में ही सीमित कर देता है। भौतिकवादी व्यक्ति एक कारीगर हो सकता है, कलाकार नहीं!

उद्योगवाद द्वारा प्रसूत सभ्यता सचमुच एक कुरूप वस्तु है। क्या एक औद्योगिक नगर से भी घृण्य कोई चीज हो सकती है, जिसमें लाखों श्रमिक टूटी-फूटी और घनी बसी हुई कोठरियों में रहते हैं, जिसकी चिमनियाँ धुआँ उगलकर वायु को दूषित करती रहती हैं, और जिसके शोरो-गुल का कोई अंत नहीं होता? वह औद्योगिक कुशलता को प्राप्त करने के लिए भले ही यत्न कर ले, परन्तु वह मनुष्यों को सौंदर्य से विहीन जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर देता है। इससे यह संभव हो सकता है कि अस्तित्व स्थिर रखने की कठोर प्रतियोगिता से दबे हुए, ये लाखों पिसते हुए व्यक्ति एक मूक भाग्यवाद के साथ इन भद्दी और कुरूप जिन्दगियों के सामने अपने घुटने टेक दें, परन्तु वे कलाकार जिनमें अलौकिक प्रतिभा है इस भौतिकवादी जगत् के गंदे और अमानवीय नरक के सामने आत्म-समर्पण नहीं कर सकते। इसीलिए बहुतेरे सिन्क्लेयर लुइस और आल्डेस हक्सले उस सभ्यता की अमानवीयता की भर्त्सना कर रहे हैं, जो बैबिट और मेन स्ट्रीट की स्थिति के लिए जिम्मेदार है। हाँ, उनमें हमें डिकेन्स की वह अकृत्रिम करुणा और सहानुभूति नहीं मिलती, क्योंकि उनमें डिकेन्स जैसी आस्था नहीं है।

सैवैरिनी के शब्दों में, "प्रत्येक कला-कृति विश्व के प्रति एक दृष्टिकोण को प्रकट करती है, और इसीलिए वह ज्ञान तथा चिंतन के एक ढंग की, या संक्षेप में एक दर्शन की, भी परिचायक होती है।" जैसा हम स्वयं ऊपर देख चुके हैं, भौतिकवाद दर्शन के प्रति विश्वास-घात है, और इसीलिए वह कला तथा सौंदर्य के प्रति भी विश्वासघात है। मार्क्सीय कला के कड़े यद्यपि सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन में, सैवैरिनी ने इस तथ्य को प्रकट किया है कि मार्क्सीय भौतिकवाद तथा सोवियत अनुबन्धन ने रूस की रचनात्मक कला को नष्टप्राय कर दिया है। उन्होंने उसे शासकों के प्रचार, विज्ञापन तथा प्रशंसा का माध्यम बना रखा है। रूसी कला की दयनीय स्थिति पर आन्द्रे जीद ने भी आश्चर्य प्रकट किया है। मार्क्सवादी कम-से-कम अपरि-वर्तनीय अवश्य है; एक भौतिक जगत में गणित तथा मशीन से गहरी महत्ता किसी की नहीं हो सकती। वे बूर्ज्वा कलाकार जिनकी आलोचना कॉडवेल ने अपनी 'स्टडीज इन डाइंग कल्चर' में की है, सचमुच ही दयनीय व्यक्ति हैं। वे उन कारणों से दयनीय नहीं हैं जिनका उल्लेख कॉडवेल ने किया है, वरन् वे दयनीय इसलिए हैं क्योंकि उनके दृष्टिकोण में स्पष्टता नहीं है।

पिकासो, सैवैरिनी, दफी, प्रभाववादियों तथा अति यथार्थवादियों जैसे महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य कलाकारों के कृतित्व में एक संघर्ष तथा तनाव की स्थिति मिलती है। ये कलाकार दो तत्त्वों से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं, जो वर्तमान संसार में अत्यन्त ही सामान्य कोटि के हैं। प्रथम तो आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में देखी गई प्रकृति, रोमांटिकवादियों की दयालु देवी नहीं रही है। प्रकृति निर्दय और भयंकर है, विकर्षक फिर भी आकर्षक। सौंदर्य उसमें है, और होना भी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फलतः ये कलाकार प्रकृति को काली के समान किसी रूप में देखते हैं, जिनमें सौंदर्य और कुरूपता, सौम्यता और बर्बरता, प्रेम और घृणा जैसे विरोधी तत्त्व एक साथ ही मिले हुए हैं। इस दृष्टि से देखने पर कलाकार के सौंदर्य की अभिव्यक्ति गम्भीर और प्रशान्त नहीं रह सकती; उसके अन्दर तनाव, संघर्ष और वेदना होनी ही चाहिए। मेरे मतानुसार तो आधुनिक कला में मिलने वाली घोर विकृतियों का यही अर्थ हो सकता है। दूसरे, अन्य बहुत से आधुनिकों के समान ये कलाकार भी चकित एवं भ्रांत हैं; उनकी भ्रमित और डगमगाती हुई कला उनके अन्तर के भ्रम को ही व्यक्त करती है।

मैं तो समझता हूँ कि बैलौक और ऐरिक गिल आधुनिक कला की भर्त्सना, उसे कुरूपता का सम्प्रदाय कहकर, कुछ अधिक कठोरता के साथ करते हैं। वस्तुतः यह तो ऊल जलूल और भदेस में से सौंदर्य की खोज निकालने के लिए कलाकारों का संघर्ष है। यदि मुझे एक उपमा देने का अवसर हो तो मैं तो कहूँगा कि प्राचीन शिष्ट कलाकार प्रकृति की जूलियट का प्रणय-अभिनन्दन करता हुआ एक उत्तेजित और बहुत कुछ अपरिपक्व रोमियो था, जब कि आधुनिक कलाकार अपनी डेस्डीमोना का गला घोंटते हुए उस क्रुद्ध ऑथेलो के समान है, जो उसे विश्वासघातिनी समझता है, परन्तु फिर भी जिसके लिए वह अपने हृदय की वेदना से आक्रांत होकर चीखता है (Lo, Desdemona ! dead, Desdemona ! dead ! oh !)। वह विकर्षित है, फिर भी आकर्षित है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बुराई और कुरूपताएँ आज बहुत अधिक व्याप्त हैं और इन भयानक दृश्यों से घिरे हुए कलाकार को यदि दुश्चक्र और बुराई की गंदगी और कीचड़ के नीचे पड़ी हुई ईश्वर की छवि देखनी है तो उसे अपार विश्वास और दैवी करुणा से युक्त होना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण को आज के कुछ सचमुच महत्त्वपूर्ण लेखक हमारे सम्मुख लाए हैं, चाहे वे ईलियट क्लॉडेल, पीग्वी जैसे कवि हों अथवा ग्रीन, मौरियाक, बर्नानोज़ और युग की सीमाओं से रहित डॉस्टॉएव्स्की जैसे उपन्यासकार हों। उनकी विषय-वस्तु प्रायः यथार्थवादी और कहीं-कहीं कुरुचिपूर्ण भी है, उनके पात्र दुष्ट और पापी हैं, परन्तु वे फिर भी उनसे निराश नहीं होते और यही उनके कलाकार की महत्ता है। वे अपनी पिन्की, रोडियन और थेरेसा को एकदम पतित ही नहीं दिखाते हैं, वरन् उद्धार-योग्य दिखाते हैं। ओ' नील, जीद तथा सार्त्र जैसे वे मानववादी, जो केवल स्वतःपूर्ण मनुष्य और प्रकृति में विश्वास रखते हैं, अंततोगत्वा यथार्थवाद के अन्वेषक प्रकाश में निराशा की ओर ही पहुँचते हैं, जो उन्हें कुरूपता, तुच्छता, अन्याय, क्रूरता, कपट और उस साहस के दर्शन कराता है, जिनको लेकर मानव-जीवन के अन्तरतम का यह गुह्य नाटक रचा गया है। इसके विपरीत जिनकी आस्था ईश्वर में है, ऐसे ईश्वर में जो स्नेही, दयालु और उद्धारक है, वे जीवन के सम्बन्ध में अधिक यथार्थ और विश्वास की स्पष्टता के साथ चिंतन कर सकते हैं। वे मानवीय नाटक की वेदना का अनुभव करते हैं—उनसे भी अधिक गहराई के साथ जो अनीश्वरवादी हैं—फिर भी वे निराश नहीं होते। केवल वे ही मानव जीवन के सत्य और चिरंतन महत्त्व की अनुभूति कर सकते हैं। उनके दृष्टिकोण को न्यूमैन ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

> **"आह ! कैसा वैविध्यपूर्ण, रंगीन दृश्य,**
> **आशा और भय, विजय और दुःख,**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहस और पश्चात्ताप के साथ रहा है,
जिसके हमारे नीरस तथा जीवन-पर्यन्त संघर्ष का इतिहास बना है!
उसे शक्ति देने और आगे बढ़ाने का शौर्य,
उसकी आवश्यकता के अवसर पर कितना धैर्य, शीघ्रता और उदारता!"

कला के क्षेत्र में वर्तमान संकट का यही वास्तविक अर्थ जान पड़ता है। इसकी उत्पत्ति जीवन की समुचित दृष्टि और सत्य के अभाव से होती है, क्योंकि सौंदर्य तो अंततोगत्वा सत्य की ही शोभा है। ऐरिक गिल ने ठीक ही कहा है: "सत्य के अन्वेषण में निरत रहो, सौंदर्य अपनी चिंता आप ही कर लेगा।"

संकटग्रस्त नैतिकता : शिवम् का विघटन

जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हैं, वे नैतिकता इस बात में समझते हैं कि मुक्त तथा उत्तरदायी मनुष्य उस दिव्य नियम का अनुसरण करे, जिसका पता बुद्धि से लग सकता है या बुद्धि पर आधारित विश्वास से। अतः वे नैतिकता को परम तथा अपरिवर्तनीय मानते हैं। इसके अतिरिक्त उनके मन में अच्छाई और बुराई, उचित और अनुचित का स्पष्ट अन्तर भी विद्यमान रहता है।

जब बुद्धिवादियों ने नैतिकता का सम्बन्ध विश्वास से तोड़ दिया तो उन्होंने नैतिकता के नीचे स्थित तर्क की आधार-शिला खण्डित कर डाली और इस प्रकार उन्होंने नैतिकता को अच्छाई करने के लिए एक स्वानुभूत तथा अबौद्धिक प्रवृत्ति-मात्र ठहराया। कांट के 'कैटीगोरिक इंपैरेटिव' का यही अर्थ है। आत्मवादी नीतिशास्त्रियों के लिए नैतिकता का एक आदर्श, एक कसौटी का प्रतिष्ठित कर पाना असम्भव था। एक ओर नीत्से ने 'सुपर-मैन' की अहन्ता की स्थापना की और दूसरी ओर बेन्थम के अनुयायियों ने 'हेडनिज़्म' को प्रश्रय दिया, जिसके अनुसार वही काम करना उचित है जिससे सुख मिलता हो। पिछली शताब्दी में सबसे अधिक लोकप्रिय, यूटिलिटेरियन सम्प्रदाय ने यह माना कि व्यावहारिक उपयोगिता ही नैतिकता की कसौटी है। इसी को 'प्रैगमैटिज़्म' कहकर भी अभिहित किया गया, परन्तु वस्तुतः यह प्रच्छन्न उपयोगितावाद ही है। जैसी कि मनुष्य की प्रकृति है, उपयोगितावादी नैतिकता का पतन हुआ, और उसने एक निश्चित सिद्धान्त का रूप ले लिया: "पकड़े मत जाओ" कमजोरों के लिए, और "जो कुछ भी कर सको, करो" शक्तिवानों के लिए।

इसके उपरान्त सापेक्षिकतावादियों का आगमन होता है, जिन्होंने नैतिकता के क्षेत्र में भ्रम को और भी बढ़ाया। वैज्ञानिकों ने यह खोज निकाला था कि विज्ञान के प्राकृतिक नियम गणना पर आधारित हैं, सापेक्ष्य हैं और बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं। उन्होंने नैतिकता के क्षेत्र में भी उसी सापेक्षिकता के सिद्धान्त को लागू किया, और इस प्रकार उनके अनुसार औचित्य और शिवम् की भावना बदलती हुई परिस्थितियों में परिवर्तित हो सकती है। अन्ततोगत्वा नैतिक क्षेत्र में अव्यवस्था को एकदम पूर्ण करने के लिए निश्चयवादी तथा फ्रॉयड के अनुयायी आये जिन्होंने कहा कि अपराध-ग्रन्थि केवल गंदलापन है, क्योंकि मनुष्य के सारे व्यवहार अबौद्धिक तत्त्वों द्वारा अनुशासित होते हैं। उन्होंने नैतिकता को एक सामाजिक रूढ़ि से अधिक कुछ नहीं माना। इस सारे भ्रम के फलस्वरूप नैतिक उत्तरदायित्व की भावना विलीन हो गई, उचित और अनुचित, अच्छाई और बुराई का अन्तर मिट गया, तथा घोर अनैतिकता का साम्राज्य हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। स्वतन्त्रता की भावना ने विकृत होकर मुक्त-भोग का रूप धारण कर लिया। हम पश्चिम और अमेरिका में प्रचलित घोर अनैतिकता की भर्त्सना सुनने के अभ्यस्त हो गए हैं, परन्तु बाहर की अनैतिकता के यही आलोचक इस बात को भुला देते हैं कि हमारे सभी विश्वविद्यालयों में हज़ारों छात्रों को वे ही नैतिक दर्शन पढ़ाए जा रहे हैं, जिनके कारण यह अव्यवस्था उत्पन्न हो सकी है। विचार को क्रिया से अलग नहीं किया जा सकता, नैतिकता का सम्बन्ध बुद्धि और आस्था से नहीं तोड़ा जा सकता।

इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो मार्क्सवादियों ने इस 'बूर्ज़ुवा नैतिकता' को उठाकर एक किनारे रख दिया, जो मधुर ध्वनिकारी सूत्रों में आवृत गलदश्रु भावुकता तथा उपयोगितावाद-मात्र है। मार्क्सवाद को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि उसने समाज को वन्य नियम के पंजे से बचा लिया और जड़ आधार से विच्छिन्न नैतिक नियमों की कमज़ोरी को देखा। साम्यवाद उस आधार को देने का वादा करता है। मार्क्सवादी के लिए वह कार्य उचित है जो राज्य की आर्थिक उन्नति में सहारा देता है। निश्चय ही मार्क्सवादियों की इस 'नव्य नैतिकता' के विरोध में बूर्ज़ुवा समाज के सुखवादी, उपयोगितावादी, सापेक्ष्यवादी और निश्चयवादीवर्ग कोई बौद्धिक तर्क नहीं दे सकते। गहरी उपेक्षा के साथ मार्क्सवादी उन्हें करारा जवाब देता है: "तुम्हारी ही मान्यताओं से मैंने यह निष्कर्ष निकाला है" क्योंकि, "जो दुष्टता तुम मुझे सिखा रहे हो, मैं उसे कार्यान्वित करूँगा और तुम्हारे लिए यह और भी कठोरता के साथ होगा! हाँ, तुम्हारे निर्देशों का पालन मैं अधिक अच्छे ढंग से कर सकूँगा।" हम तब तक बुद्धिवाद और दृढ़ नैतिकता को वापस नहीं पा सकते जब तक कि हमारी आस्था ईश्वर और उसके नियम में स्थिर नहीं होती, जो परम है। हमारी आज की सबसे निकृष्ट धारणा यह है कि "जब तक मनुष्य औचित्यपूर्ण कार्य करता है तब तक इस बात की चिन्ता व्यर्थ है कि उसका विश्वास क्या है?" जैसा कि हम स्वयं देख चुके हैं "मनुष्य अपने विश्वास के अनुसार ही व्यवहार भी करता है।"

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी आन्तरिक दायित्व-भावना को पूर्णतया उद्बुद्ध करें। हम स्पष्ट घोषणा करें कि हम मनुष्य की आध्यात्मिक श्रेष्ठता और उसके आध्यात्मिक भविष्य में विश्वास करते हैं क्योंकि जीवन के उच्चतम मूल्य आध्यात्मिक हैं—सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्। मानवता को अराजकता और विनाश से बचाने के भगीरथ प्रयास में सबसे पहले हमें सत्य की पुनर्प्रतिष्ठा करनी होगी। सत्य की प्रतिष्ठा से ही व्यक्ति और समाज दोनों में शिवम् का उदय हो सकता है। किन्तु केवल सत्य का पहचानना ही यथेष्ट नहीं है, उसे नैतिक दायित्व के रूप में ग्रहण कर कर्म में परिणत करना होगा। मानव-समाज के इस आध्यात्मिक पुनर्जागरण में 'सुन्दरम', अपने को पुनः स्थापित करेगा। जब मनुष्य एक बार फिर जीवन-शिल्प का स्वामी बन जायगा तब वह महान् कलाकृतियाँ प्रस्तुत करेगा। उसका सौन्दर्य की स्वप्न स्पष्ट होगा, उसकी कला भी अधिक गहरी और अधिक महान् होगी। इस महान् कार्य में हमें राजनीतिक नेताओं, अर्थशास्त्रियों या कोरे वैज्ञानिकों का मुँह नहीं देखना चाहिए। इस दिशा में हमें हमारे आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक चिन्तक ही आगे का पथ बता सकते हैं। इस दिशा में क्रिश्चियन सिद्धान्त और मूल्य भी महत्त्वपूर्ण हैं जो पश्चिम की आध्यात्मिक सक्रियता के आधार रहे हैं और मानव-इतिहास की क्रान्तिकारी शक्तियों के विधायक रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुमित्रानन्दन पन्त

सन्तुलन का प्रश्न

विचारकों की दृष्टि में हमारा युग एक महान् परिवर्तन तथा संक्रमण का युग है, जिसमें, न्यूनाधिक मात्रा में, संघर्षों तथा संकटों का आना अनिवार्य है। ऐसे संधिकाल में यदि हमारे चिन्तकों का ध्यान मौलिक मानव-मूल्यों की ओर आकर्षित हो रहा है तो यह स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत प्रश्न के अन्तर्गत, पिछले अनेक वर्षों के साहित्य के सम्बन्ध में, इस समस्या का दिग्दर्शन पूर्ववर्ती विद्वान् लेखक विस्तारपूर्वक करा चुके हैं; मुझे, संक्षेप में, केवल उपसंहार-भर लिख देना है।

मानव-मूल्यों की दृष्टि से जिन दो प्रमुख विचार-धाराओं ने इस युग के साहित्य को आन्दोलित किया है, वे हैं मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद। व्यापक दृष्टि से विचार करने पर ये दोनों विचारधाराएँ मानव-अस्तित्व के केवल निम्नतम अथवा बाह्यतम स्तरों का अध्ययन करती हैं और इनके परिणामों को उन्हीं के क्षेत्रों तक सीमित रखना श्रेयस्कर होगा। मार्क्सवाद मानव-जीवन की वर्तमान आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों का सांगोपांग विश्लेषण कर उसकी सामाजिक समस्याओं के लिए समाधान बतलाता है, जिसका परोक्षतः एक वैयक्तिक पक्ष भी है। फ्रायडवाद मानव-अन्तर की रागात्मिका वृत्ति के उपचेतन-अचेतन मूलों का गहन अध्ययन कर मुख्यतः उसकी वैयक्तिक उलझनों का निदान खोजता है, जिसका एक सामाजिक पक्ष भी है। जहाँ पर ये दोनों सिद्धान्त अपने क्षेत्रों को अतिक्रम कर मानव-जीवन एवं चेतना के ऊर्ध्वस्तरों के विषय में अपना यांत्रिक अथवा नियतिवादी निर्णय देखने लगते हैं, अथवा उन शक्तियों के स्तरों का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, वहाँ पर ये दृष्टि-दोष से पीड़ित होकर, मानव-मूल्य-सम्बन्धी गम्भीर समस्याएँ उपस्थित करते हैं। किन्तु, मानव अस्तित्व एवं चेतना के सभी स्तरों के परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, सर्वांगीण सामाजिक विकास की दृष्टि से, मानव व्यक्तित्व के पूर्ण उन्नयन के हेतु उसके निम्न भौतिक प्राणिक स्तरों का विकास होना भी समान रूप से आवश्यक है। इस दृष्टि से, मार्क्सवाद तथा फ्रायड के मनोविज्ञान की सीमाओं को मानते हुए भी लोक-जीवन हिताय उनकी एकान्त उपयोगिता एवं महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में, नवीन विश्व-जीवन-वृत्त के निर्माण में उनका वर्तमान जीवन के गर्द-गुब्बार से भरा हाथ उतना ही उपादेय प्रमाणित होगा जितना मानव अस्तित्व के उच्चतम शिखरों से अवतरित भावी सौन्दर्य तथा आशा के सम्मोहन से दीप्त अभिनव चैतन्य की किरणों का।

वैसे, मानव-प्रज्ञा के अविकसित होने के कारण, उच्च-से-उच्च सिद्धान्त या आदर्श भी —चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक, धार्मिक हो या राजनीतिक—संकीर्णता के सम्प्रदाय या रूढ़िगत दल-दल में फँसकर नीचे गिर जाते हैं। किन्तु यदि व्यापक विवेक तथा सहानुभूति के साथ, वर्तमान विश्व मानव संचय के साथ सामंजस्य बिठाते हुए, उपर्युक्त विचारधाराओं का समुचित अध्ययन एवं वर्तमान विश्व-परिस्थितियों में उनका सम्यक् प्रयोग किया जाय तो उनमें लोक-जीवन के लिए हितकर उपकरणों के अतिरिक्त मानवता के सर्वांगीण सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए भी प्राणप्रद पोषक तत्त्व मिलेंगे। कम्युनिस्ट देशों की सामूहिक जीवन-रचना की वर्तमान स्थिति में, साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से स्वतन्त्र वैयक्तिक प्रेरणा के अवरुद्ध हो जाने के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चिम के प्रबुद्ध लेखकों तथा चिन्तकों के मन में जो प्रतिक्रियाएँ चल रही हैं (जिसका विस्तृत विवेचन पूर्ववर्ती लेखों में हो चुका है) उनको हमें अक्षरशः स्वीकृत नहीं कर लेना चाहिए। कम्युनिस्ट देशों की उन असंगतियों को मार्क्सवाद के प्रारम्भिक प्रयोगों की कूड़े की टोकरी में भी डाला जा सकता है। मार्क्सवाद का प्रयोग और भी अधिक व्यापक आधारों पर वर्तमान जीवन की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों पर किया जा सकता है। उसे एक यान्त्रिक सिद्धान्त के रूप में न ग्रहण कर, उसके अन्धप्रवर्ग को संयमित कर सृजनात्मक संचरण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है और सम्भवतः भारतवर्ष जैसा महान् देश, जिसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि इतनी प्रौढ़ है, अपने साध्य-साधन की एकता की कसौटी पर कसकर, इस महत् प्रयोग को एक दिन सफल भी बना सके। जिन देशों में मार्क्सवाद के प्राथमिक प्रयोग हुए हैं उनमें भी २०–२५ वर्षों के अन्तर्गत, मानव-मूल्यों की दृष्टि से, व्यापक परिवर्तन नहीं उपस्थित हो सकेंगे, और उनकी जीवन-रचना की भूमि से भी उच्च-से-उच्चतर सांस्कृतिक शिखर नहीं निखर उठेंगे, यह अभी नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्त के जीवन और व्यक्ति के जीवन के लिए एक ही अवधि निर्धारित करना न्यायसंगत नहीं है।

हमें आवश्यकता है, बाध्यतः परस्पर-विरोधी लगने वाली···विभिन्न स्तरों तथा क्षेत्रों की विचारधाराओं का विराट् समन्वय तथा संश्लेषण कर उन्हें साहित्य में, सृजनात्मक स्तर पर उठाने की···जिससे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, संस्कारों तथा स्वार्थों से पीड़ित एवं कुण्ठित मानव-चेतना को अपने सर्वांगीण वैयक्तिक तथा सामाजिक विकास के लिए एक व्यापक सन्तुलित धरातल मिल सके, उसके सम्मुख एक ऐसा उन्नत मानवीय क्षितिज खुल सके जो उसे समस्त अभावों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तत्पर कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके। व्यक्तिवाद, समाजवाद, भाववाद, वस्तुवाद, भूत अथवा अध्यात्मवाद एक-दूसरे के विरोधी नहीं, अन्ततः एक-दूसरे के पूरक हैं। आज के साहित्य में यदि विराट् या अन्तरात्मा के दर्शन नहीं मिलते—जो मूल्यों का धरातल है—तो इसका कारण इस संक्रमणशील युग के तथाकथित विरोधी सिद्धान्त एवं विचार-सरणियाँ उतना नहीं हैं जितना इस युग के साहित्य-स्रष्टाओं अथवा द्रष्टाओं की सीमाएँ···और सम्भवतः उनकी ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, यशलिप्सा, दलबन्दी आदि की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ, जिनका क्रीड़ास्थल इस परिवर्तन युग का उनका पर-दुख-कातर अंतस्तल बना हुआ है। साहित्य संस्कृति के पुजारियों तथा मूल्यों के जिज्ञासुओं को बाहर के साथ ही अपने भीतर भी खोज करनी चाहिए, सामाजिक धरातल को सँवारने से पहले मानसिक धरातल का संस्कार कर लेना चाहिए—विशेषकर ऐसे संक्रमण-काल में जब ह्रास और विकास, पतझर तथा वसन्त की तरह, साथ-ही-साथ नवीन वृत्त संचरण के रथ-चक्रों में घूमते हैं। उसे मरणशील ह्रासोन्मुखी संकीर्ण प्रवृत्तियों के कूड़े-कचरे में से विकास की प्रसारकामी ऊर्ध्व प्रवृत्तियों को चुनकर अपनी चेतना में ढाल लेना चाहिए, क्योंकि उनके लिए मूल्य मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक संवेदन का प्रश्न नहीं है, वह उनके आत्मनिर्माण, मनोविन्यास तथा उनकी सृजन-तन्त्री की साधना का आधारभूत अंग भी है।

मानव-मूल्यों का अन्वेषक—चाहे वह स्रष्टा हो या द्रष्टा—उसे महत्तर आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य तथा श्रेय के सूक्ष्म संवेदनों की जाह्नवी के अवतरण के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है। उसे वैभिन्न्य की बहिर्गत विषमता तथा कटुता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जीवन-वैचित्र्य की समता तथा संगति में परिणत करना है, जिसके लिए आत्म-संस्कार सर्वोपरि आवश्यक है। साहित्यकार, साधक, दार्शनिक—इन सबको अन्ततः महत् इच्छा का यन्त्र बनना पड़ता है।

मूल्य-मर्यादा की प्रगति के स्रोत को केवल सामाजिक परिस्थितियों के अधीन मानना उतना ही एकांगी दृष्टिकोण है जितना उसे केवल मनुष्य के आन्तरिक संस्कारों में मानना है। मानव-मूल्य के मूल बाहर भीतर दोनों ओर फैले हुए हैं, "तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः।" व्यक्ति और समाज उसके दो पक्ष हैं जिनमें सामंजस्य स्थापित करके ही स्थिति और प्रगति सम्भव हो सकती है। हम बाहर के सम्बन्ध में ही भीतर को और भीतर के सम्बन्ध में ही बाहर को समझ सकते हैं। मानवता के सर्वांगीण विकास एवं निर्माण के लिए हमें भीतर और बाहर दोनों का रूपान्तर करना पड़ेगा। तत्त्वतः मानव-जीवन के सत्य के मूल बाहर-भीतर दोनों से ऊपर या परे हैं, जैसा कि हम आगे चलकर विष्णु के रूपक में देखेंगे, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे बहिरंतर के दोनों सापेक्ष पक्षों का ध्यान रखकर उनमें सन्तुलन भरना होता है।

पश्चिम के कुछ चिन्तक यदि बाह्य परिस्थितियों के संगठन के बोझ से आक्रान्त होकर मानव-मूल्यों का स्रोत यदि व्यक्ति या मनुष्य के भीतर मानने लगे हैं तो यह केवल पश्चिम के वर्तमान बहिर्भूत यान्त्रिक जीवन के प्रति उनके मन की प्रतिक्रिया-मात्र है। पश्चिम में अन्तर्जीवन का एकान्त अभाव होने के कारण वहाँ के प्रबुद्ध विचारकों का मनुष्य के भीतर की ओर झुकना स्वाभाविक है। वास्तव में व्यक्ति और समाज जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से, एक-दूसरे के सम्बन्ध में ही सार्थक हैं और उसी रूप में समझे भी जा सकते हैं। निरपेक्ष व्यक्ति को अज्ञेय या अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। इसलिए यदि मार्क्सवाद सामाजिकता को अधिक महत्त्व देता है या उसके प्रारम्भिक प्रयोगों में सामूहिक संचरण अधिक प्रबल हो उठा है तो उसका उपचार व्यक्ति को अधिक महत्त्व देने से नहीं होगा, प्रत्युत, बहिरंतर की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करने से होगा। इस युग में, इसीलिए, राजनीतिक संचरण की पूर्ति के लिए एक व्यापक सांस्कृतिक संचरण की भी आवश्यकता है।

मानव-मूल्यों के स्रोत को मनुष्य के भीतर ही मान लेना इसलिए भी हानिकर सिद्ध होगा कि वर्तमान युग-संक्रमण की स्थिति में मनुष्य का मनुष्य बन सकना सरल या सम्भव नहीं। उसके व्यक्तित्व में अभी उस उदात्त सन्तुलन की कमी है जो उसे युगीन प्रवृत्तियों की बाहरी अराजकता तथा अन्तःसंस्कारों की सीमाओं से ऊपर उठाकर प्रतिनिधि मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित कर सके। उसका ऐसा विवेकशील व्यक्तित्व होना जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल्यों-सम्बन्धी दुरूह सामाजिक दायित्व को समझकर उसे स्वतः ग्रहण करने योग्य आत्म-त्याग एकत्रित कर सके यह भी अपवाद ही सिद्ध हो सकता है और अल्पसंख्यक सृजनशील व्यक्ति इतने स्थितप्रज्ञ, तटस्थ, निष्पक्ष हो सकेंगे, इस पर भी सहज विश्वास नहीं होता।

इस संक्रमण-काल ने मनुष्य की अहमिका प्रवृत्ति तथा उसकी कामवृत्ति को बुरी तरह झकझोरा है। ये एक प्रकार से सभी संक्रमण युगों के लिए सत्य तथा सार्थक हैं, क्योंकि उच्चतर विकास के ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। मानव अहन्ता को व्यापक बनाकर, मानव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा के गुणों को पहचानकर उनसे सम्पन्न बनाना होता है। निम्न प्राण-चेतना (काम) को ऊर्ध्वमुखी होकर व्यापक प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द की अनुभूति प्राप्त कर नवीन नैतिक-सामाजिक सन्तुलन ग्रहण करना होता है, इसीलिए विश्वप्रकृति संक्रमण-काल में उन्हें प्रारम्भ में ही सशक्त बना देती है। फ्रॉयड ने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी वर्तमान रागात्मक स्तर की क्षुद्रता तथा संकीर्णता की पोल खोलकर आज के प्रबुद्ध चिन्तक को मोहयुक्त कर दिया है। वास्तव में प्राण चेतना के विकास के लिए उपयुक्त मानवीय परिस्थितियों के अभाव के कारण मानव की रागात्मिका वृत्ति, पशु-स्तर पर उतरकर, अभी अचेतन के अन्ध आवेगों से परिचालित हो रही है। उसके मनुजोचित ऊर्ध्व विकास के लिए हमें स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्ध को एक व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर उठाना होगा।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ इस युग के बहुमुखी विचार-वैभव को साहित्य तथा संस्कृति की प्रेरणाभूमि पर उठाने के लिए तथा अपने को मानव-मूल्यों का ज्योतिवाहक बनाने के लिए आज के साहित्य-स्रष्टा तथा सांस्कृतिक द्रष्टा को सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि अपना यथेष्ट आत्म संस्कार करना होगा। यही उसके ऊपर स्वस्वीकृत सबसे महान् दायित्व है। मानव-मूल्यों की चेतना से अपनी चेतना का तादात्म्य करके उसे अपने मन तथा प्राणों के जीवन में मूर्तिमान करना—यही उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है। इस दायित्व के गुरुत्व को उसका साधक ही अनुभव कर सकता है। यही वह तप, त्याग या लोककर्म है जिसे उसे तत्काल ग्रहण करके, धीरे-धीरे उसे अपने को पूर्णरूपेण अर्पित करके, अपने जीवन में चरितार्थ करना है।

मानव-मूल्यों के सर्वव्यापक सत्य के रूपक को हमारे यहाँ महाविष्णु के रूप में अंकित किया है, जो प्रभ-विष्णु भी हैं। वह शेष-शय्या पर (अनन्त काल के ऊपर) स्थित हैं। प्रत्येक युग में उनके गुणों के अंश विश्वचेतना में अवतरित होकर देश-काल में अभिव्यक्ति पाते हैं। वह जलशायी भी—देश से भी ऊपर—स्थित हैं। वह योगनिद्रा में (विश्व-विरोधों में सम) शान्त आनन्द की स्थिति में हैं, जिस स्थिति में एक सहज स्फुरण (संकल्प) उनकी नाभि (रजोगुण) से ब्रह्मा अथवा सृजन संचरण के रूप में सृष्टि करता है। उनके हाथ में चक्रवत् विश्वमन घूमता रहता है इत्यादि। यह मानव-मूल्यों के सत्य के सम्बन्ध में एक पूर्ण दृष्टिकोण है। मानव-मूल्यों का स्रोत देश-काल से ऊपर है। भूत, भविष्य, वर्तमान में अभिव्यक्ति पाने वाले मूल्य सब उसी सत्य के विकासशील अंश हैं। तीनों काल एक-दूसरे पर अवलम्बित होने के साथ ही मुख्यतः उस सत्य पर अवलम्बित हैं। उसी के गुण संचय करके भूत वर्तमान में और वर्तमान भविष्य में विकसित होता है। उस सत्य को आप चाहे दिव्य कहें या मानवोपरि, वह मानव से पृथक् नहीं है। उसे दिव्य न कहकर मानवीय ही कहें तो वह वर्तमान मानव-विकास की स्थिति से कहीं महत् है जिसमें अनेकों भविष्यों का मानव अन्तर्हित है। यदि हम इस दृष्टिकोण से उस सत्य पर विचार करें तो हमें वर्तमान पाश्चात्य विचारकों की "जो समस्त अतीत है वही यह क्षण है और जो यह क्षण है वह समस्त भविष्य बन जायगा—इसी क्षण में हमें शाश्वत को बाँधना है" आदि जैसी तर्क-प्रणाली की यान्त्रिकता स्पष्ट हो जायगी।

हमने अपने साहित्य में पश्चिम के जिस विकासवाद के सिद्धान्त को अपनाया है वह अधूरा है। उसमें नीचे से ऊपर की ओर आरोहण तो है पर ऊपर से नीचे की ओर अवतरण तथा अन्तःसंयोजन (री-इंटीग्रेशन) के पक्षों का अभाव है। इस अपूर्ण सिद्धान्त को स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लेने के कारण ही हम केवल भूत और वर्तमान के संचय के बल पर अग्रसर होने की असफल चेष्टा कर नित्य नवीन विरोधी मतों को जन्म देते जा रहे हैं। विकास में सानन्द या अविच्छिन्नता खोजना भ्रम है। विकास के प्रत्येक युग में विश्वचेतना में महत् से नवीन गुणों का भी आविर्भाव होता रहता है। इस महत् में ही बीज रूप में समस्त सृष्टि के उपादान अन्तर्हित हैं।

साहित्य-स्रष्टा के लिए विकास से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सृजन का है। वह मन के उच्चोच्चतर स्तरों से प्रेरणा ग्रहण करके अपनी सृजन-चेतना के वैभव से विकास को नित्य नवगुण-सम्पन्न कर उसे प्रगति दे सकता है। स्रष्टा के लिए विवेक के पथ से अधिक उपयोगी एवं पूर्ण श्रद्धा का पथ है। वह सहज तथा प्रशस्त होने के कारण लोक-सुलभ भी है। अल्पसंख्यक विवेकशील साहित्यिकों के कंधों पर जन-समाज के जीवन का दायित्व सौंप देने में यह भी भय है कि वर्तमान विषम सामाजिक परिस्थितियों में उन अल्पसंख्यकों की मानवता की धारणा स्वभावतः अपने ही वर्ग के मानव तक सीमित रह सकती है। जन मानवता का विराट् वैचित्र्य उनकी प्रबुद्ध सहानुभूति से कहीं व्यापक तथा अकल्पित हो सकता है। फिर स्रष्टा को हम केवल साहित्य-स्रष्टा तक ही सीमित नहीं रख सकते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा स्तर पर—चाहे वह राजनीतिक भी क्यों न हो—जीवन-निर्माता जीवन-स्रष्टा तथा द्रष्टा भी हो सकता है और सृजन में ही निर्माण की पूर्ण परिणति भी होती है।

संक्षेप में मैं सांस्कृतिक मान्यताओं एवं मानव-मूल्यों का स्वस्वीकृत दायित्व अल्पसंख्यक, स्वतन्त्र विवेकपूर्ण संकल्पयुक्त व्यक्तियों को सौंपने के बदले समस्त जन समाज को सौंपना अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ जो श्रद्धा के पक्ष से मानव-मूल्यों के सत्य से संयुक्त होकर, अपने-अपने क्षेत्र में मानवता के विशाल रथ को आगे बढ़ाने में अपना हाथ बँटा सकते हैं। उन्हें—जैसा कि आज के समस्त पश्चिम के विचारक सोचते हैं—किसी तर्क-बुद्धिसम्मत विवेक के जटिल सत्य के जटिलतर दायित्व के भूल-भुलैये में खोकर अपने चिन्तन, अनुभूति, सौन्दर्य-बोध की समस्त शक्ति से स्थायी मानव-मूल्य की इसी क्षण की विशेष मानवीय स्थिति की सही व्याख्या पहचानने जैसे और भी दुरूह बौद्धिक व्यायाम नहीं करने पड़ेंगे—जो शायद कुछ अति अल्प-संख्यक प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही सुलभ है; उन्हें विराट् विश्व-जीवन के अन्तरतम केन्द्रीय सत्य पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखकर, अपनी बहिरंतर की परिस्थितियों को अतिक्रम करते हुए, उनका युगजीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्निर्माण कर एवं उन्हें व्यापक मानव-जीवन की एकता में बाँधते हुए अन्ततः सम्पूर्ण तथा बाह्यतः समस्त के साथ आगे बढ़ना होगा। इसी में वह अपनी-अपनी स्थिति से स्वधर्म का पालन कर सकते हैं। हमारे सर्वोदय के उन्नायकों ने भी श्रद्धा के पथ से उन्हीं सत्यों के सत्य से प्रेरणा ली है जिनके बिना उनका व्यक्तित्व शीर्षहीन हो जाता है। आज के युग में जब कि भौतिक विज्ञान के विकास के कारण लोक-जीवन की परिस्थितियाँ जड़ न रहकर अत्यधिक सक्रिय हो गई हैं जन-साधारण को सृजन-प्रेरणा से वंचित कर सकना सम्भव भी नहीं है—यही इस युग की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी देन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

डॉक्टर राकेश गुप्त

भक्ति-भावना और रीतिकालीन कवि

आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक रीतिकालीन काव्य-परम्परा के प्रति सहृदय साहित्य-प्रेमियों का भाव सर्वथा आदरपूर्ण ही था। स्वयं भारतेन्दु की अनेक रचनाएँ स्पष्ट रूप से इसी परम्परा में लिखी गई हैं। पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के आविर्भाव के पश्चात् रीति-युग के लेखकों एवं उनकी रचनाओं के प्रति एक घृणा के भाव का प्रचार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल के कवि, विशेष रूप से नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों के लेखक, आज के समीक्षा-प्रधान युग में आलोचकों के सामने अभियुक्त की हैसियत से डरते-डरते आकर खड़े होते हैं। उनकी प्रत्येक बात शंका की दृष्टि से देखी जाती है और उनकी प्रत्यक्ष अच्छाइयों में भी दोष-दर्शन का प्रयत्न किया जाता है। इन कवियों की भक्ति-भावना को भी आलोचकों ने ऐसी ही दृष्टि से देखा है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के मत से समस्त नायिकाभेद-सम्बन्धी साहित्य का राधाकृष्ण की भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के अनुसार इन कवियों ने भक्ति के नाम पर नग्न-शृङ्गार का निर्लज्ज चित्रण किया है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि इन कवियों ने प्रेम भक्ति का दिव्य चित्र नहीं खींचा। श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार भक्ति-काल का अलौकिक शृङ्गार रीति-काल में लौकिक शृङ्गार में परिणत हो गया। डॉ० नगेन्द्र के मत से रीति-काल में भक्ति का आभास-मात्र मिलता है।

कृष्ण और गोपियों की शृङ्गार-लीलाओं का चित्रण रीतिकालीन कवियों के साहित्य से पहले हमें हरिवंश, पद्म, विष्णु, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में, दक्षिण के आलवार नामक सन्तों के साहित्य में, तथा जयदेव, उमापति धर, चंडीदास, विद्यापति, नरसिंह मेहता, सूरदास, नन्ददास आदि कवियों की वाणी में विशद रूप में प्राप्त होता है। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि शृङ्गार का जिस सीमा तक वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थों में अथवा उपर्युक्त लेखकों द्वारा हुआ है, उस सीमा का अतिक्रमण किसी भी प्रसिद्ध रीतिकालीन लेखक ने नहीं किया। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात जो उतने ही विश्वास के साथ कही जा सकती है वह यह है कि पुराणों के अथवा भक्त कवियों के शृङ्गार-वर्णन में रामकृष्ण के नाम के अतिरिक्त और कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी बात ऐसी नहीं है जिसके आधार पर उसे शुद्ध लौकिक शृङ्गार से भिन्न किया जा सके।

इन दो बातों को ध्यान में रखते हुए जब हम रीतिकालीन शृङ्गार की पूर्ववर्ती शृङ्गार से तुलना करते हैं तो दो अन्तर हमें बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं : (१) सूर आदि भक्तिकालीन कवि प्रायः विरक्त थे, पर रीतिकालीन कवि प्रायः गृहस्थ थे; (२) भक्त-कवियों का शृङ्गार प्रायः स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है, पर रीतिकालीन कवियों का शृङ्गार प्रायः नायिका-भेद के साँचे में ढला हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं दो भेदों के आधार पर भक्तिकालीन शृङ्गार को भक्तिपूर्ण तथा रीतिकालीन शृङ्गार को भक्तिरहित समझा गया है। पर यह विचारणीय है कि इन विभेदों के आधार पर ऐसा समझना कहाँ तक युक्ति संगत अथवा समीचीन हो सकता है।

पहला विभेद कवियों के विरक्त अथवा गृहस्थ होने से सम्बन्धित है। यहाँ यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि विरक्ति अथवा वैराग्य को भक्ति के लिए कभी भी आवश्यक नहीं समझा गया। भक्ति-धर्म का तो आविर्भाव ही गृहस्थों के लिए हुआ है। भक्ति-मार्ग को प्रवृत्ति-मूलक तथा ज्ञान अथवा योग-मार्ग को निवृत्तमूलक कहा गया है। वैराग्य को तो एक प्रकार से भक्ति-धर्म का विरोधी भी कहा जा सकता है (साधन के रूप में)। पुष्टि-मार्ग के संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गृहस्थ-जीवन को श्रेष्ठ मानकर उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है। हमारे धर्म-शास्त्र-प्रणेताओं ने भी गृहस्थाश्रम को अन्य तीनों आश्रमों का सहारा मानते हुए सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। ऐसी स्थिति में रीतिकालीन कवियों पर उनके गृहस्थ होने के कारण अभक्त होने का आरोप करना भक्ति-मार्ग के मूल पर ही कुठाराघात करना है।

शंका का दूसरा कारण रीति-कवियों द्वारा राधाकृष्ण की शृङ्गार-लीलाओं के वर्णन के लिए नायक-नायिका-भेद के ढाँचे का उपयोग है। पर यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने ऐसा महाप्रभु चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी के प्रभाव में आकर किया है। रूपगोस्वामी ने सारे रस-शास्त्र को वैष्णवशास्त्र का रूप दे डाला। उन्होंने अपने 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु' नामक ग्रन्थ में पाँच भक्ति-रसों को स्वीकार किया और उज्ज्वल अथवा शृङ्गार-रस को इन पाँचों में सम्राट् मानते हुए अपने दूसरे ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में उसका विस्तृत विवेचन किया। इसी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण को एकमात्र नायक तथा उनकी प्रेमिकाओं को नायिका मानते हुए नायक-नायिका-भेद के सम्पूर्ण विषय को उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में खींच लिया। इस ग्रन्थ का समय सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग है, और हिन्दी का नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी समस्त साहित्य इससे प्रभावित होकर इसके बाद ही लिखा गया है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में कभी-कभी भ्रमवश ऐसा सोचा जाता है कि श्रीकृष्ण के बालरूप के उपासक होने के कारण वे उनकी शृङ्गार-लीलाओं के विरोधी थे। पर ऐसा समझने वाले कदाचित् यह भूल जाते हैं कि श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण शृङ्गार-लीला उनकी बाल-क्रीड़ा के ही अन्तर्गत है। 'भागवत' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि रासलीला के समय कृष्ण की अवस्था केवल सात वर्ष की थी तथा अक्रूर के साथ वृन्दावन से मथुरा जाते समय वे ग्यारह वर्ष से भी कम के थे। इसके अतिरिक्त 'भागवत' की अपनी सुबोधिनी नामक टीका में भी (१०-३३-२६) महाप्रभु ने इस बात का स्पष्ट कथन किया है कि भगवान् कृष्ण ने काव्यशास्त्र की विधि के अनुसार भी गोपियों के साथ रति की। बहुत सम्भव है कि अष्टछाप के महान् कवि सूरदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और नन्ददास ने महाप्रभुकृत इसी व्याख्या से प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपने नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की हो।

नायक-नायिका-भेद के सम्बन्ध में उस युग के दो प्रबल एवं प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों के संरक्षण, समर्थन एवं स्वीकृति को ध्यान में रखते हुए इस शंका के लिए अब अवकाश नहीं बचता कि इस परम्परा में रचना करना भक्ति-विरोधी कार्य हो सकता है। नायिका-भेद के अनेक रीतिकालीन लेखकों ने तो अपने ग्रन्थों में इस बात का निर्भ्रान्त उल्लेख भी कर दिया है कि उनके नायक-नायिका लौकिक नहीं हैं :

"जगनायक की नायिका बरणी केशवदास।"[1]
"बरनि नायक नायकनि, रच्यो ग्रन्थ मतिराम।
लीला राधारमन की सुन्दर जस अभिराम॥"[2]
"माया देवी नायिका, नायक पूरुष आप।"[3]
"आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई,
न तो राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है।[4]

इस प्रकार यह सर्वथा सिद्ध है कि भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन शृङ्गार में अलौकिक एवं लौकिक का भेद नहीं किया जा सकता। राधा और कृष्ण दीर्घकाल से भारतीय जनता की भक्ति-भावना के आलंबन रहे हैं। उनके दुर्लभ लीलास्वाद को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने के हेतु अनेक काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न भक्तों ने उनकी मनोहर क्रीड़ाओं को छन्द और लय के सुमधुर एवं आकर्षक आवरण में प्रस्तुत किया है। भक्तिकाल के शृङ्गार को ही, भक्ति-सम्प्रदायों के आचार्यों का अनुमोदन पाकर, रीति-कवियों ने नायिका-भेद के साँचे में ढाल दिया है।

रीतिकालीन कवियों ने अपनी भक्ति-भावना को राधा और कृष्ण के शृङ्गार-वर्णन के रूप में तो अभिव्यक्त किया ही है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे उद्गार भी किए हैं जिनसे उनकी भक्ति-भावना की हार्दिकता एवं गहराई का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी की सतसई में, जो उस युग के काव्य-प्रेमियों का कण्ठहार थी, शुद्ध भक्ति-भाव के अभिव्यंजक अनेक दोहे भरे पड़े हैं। उनमें से कुछ उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं :

मन मोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरधारी उर धारि॥
थोरे ई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुम हू कान्ह मनो भये, आजकालि के दानि॥
मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपने-अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज॥

अन्तिम दोहे के सम्बन्ध में यह कहना कदाचित् आवश्यक नहीं है कि बाहर से जो एक चुनौती

१. रसिकप्रिया, पृष्ठ ४६।
२. रसराज, तृतीय छन्द।
३. देव, प्रेमचन्द्रिका।
४. दास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई देती है वह वास्तव में कवि का अपने प्रभु की पापियों को तारने की शक्ति में अडिग विश्वास है। कवि का विश्वास बाह्याडम्बर में न होकर हृदय की सच्ची भक्ति में है :

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन कांचै नाचै वृथा, सांचै रांचै राम॥

नायिका-भेद के जनप्रिय कवि मतिराम और पद्माकर ने भी अपनी भक्ति-भावना को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मतिराम ने जो थोड़ा-सा भी इस विषय पर लिखा है उससे यह स्पष्ट है कि भक्ति उनके लिए केवल कुछ औपचारिक धार्मिक कृत्यों का संकलन-मात्र नहीं थी। उन्होंने उसके गहन तत्त्व को समझ लिया था और उनकी दृष्टि में जीवन की सार्थकता राधा और कृष्ण की मधुर क्रीड़ाओं के आनन्द में अपने को मग्न कर देने में ही थी। उन्होंने डंके की चोट पर कहा है :

राधा मोहनलाल को जाहि न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह॥

इस कथन की ओजस्विता का स्रोत एक भक्ति-रस-आप्लावित हृदय ही हो सकता है।

पद्माकर कृत 'गंगालहरी' तथा 'प्रबोध-पचीसा' नाम के ग्रन्थ पूर्णरूपेण भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति के लिए ही लिखे गए हैं। पहले ग्रन्थ में गंगा की पाप-नाशिनी शक्ति का विशेष रूप से उल्लेख है। दूसरे ग्रन्थ में दीर्घकालीन जीवन की अनुभूतियों के आधार पर अनेक प्रकार की भावनाएँ सचाई के साथ अभिव्यक्त की गई हैं। अन्य भक्त-कवियों की भाँति पद्माकर ने भी अपने पापों को स्पष्ट रूप से बिना किसी झिझक के स्वीकार करते हुए अपने प्रभु के कृपालु स्वभाव में अपनी अडिग आस्था प्रकट की है। राम-नाम के निरन्तर जप को उन्होंने मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ एवं सरलतम साधन माना है :

काहे को बघंबर को ओढ़ि करौ आडम्बर,
काहे को दिगम्बर ह्वै दूब खाय रहिये।
कहै 'पद्माकर' त्यों काय के कलेस हित,
सीकर सभीत सीत बात ताप सहिये॥
काहे को जपौगे जप, काहे को तपौगे तप,
काहे को प्रपंच पंच पावक में दहिये।
रैन दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥

निष्कर्ष रूप में हम यही कहेंगे कि परम्परा और अन्तर्साक्ष्य दोनों के प्रमाण से रीति-कवियों की भक्ति-भावना की सचाई पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। वास्तव में अविश्वास करने का कुछ आलोचकों द्वारा लगाये गए निराधार आरोपों के अतिरिक्त और कोई कारण ही नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर हरदेव बाहरी

स्त्रियों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण

१. बोली

देश, काल और जाति के भेद से भाषा-भेद होते हैं, यह सर्वविदित है। परन्तु इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं गया कि भाषा में लैङ्गिक भेद भी होता है। प्रायः प्रत्येक समाज में पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में अन्तर होता है। ऐसी अनेक जातियाँ बताई जाती हैं जिनमें पुरुषों और स्त्रियों की भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं—कम-से-कम बोली का भेद तो स्पष्ट है। मध्य अमरीका में कारिब जाति के पुरुषों और स्त्रियों की भाषा अलग-अलग है। इतिहासकारों ने लिखा है कि कारिब लोगों ने मध्य अमरीका की अरावक जन-जाति को विध्वस्त करके उनकी स्त्रियों को सन्तान चलाने के लिए अपने घरों में डाल लिया था। इनके बच्चे पहले तो मातृभाषा सीखते हैं, पर ५-६ वर्ष की अवस्था के उपरान्त लड़के अपने पिता की और लड़कियाँ अपनी माता की भाषा को ग्रहण करने लगती हैं। इस बात को यों कहा जा सकता है कि स्थायी रूप से स्त्रियों में मातृभाषा और पुरुषों में पितृभाषा का प्रचलन होता है।

इतिहास की दृष्टि से किसी युग में भारत में भी यही बात रही होगी। आर्यों ने तमिल (सं० द्रविड, द्रविड) स्त्रियों से विवाह किया। इनकी भाषा निश्चय ही अलग रही होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि कितनी पीढ़ियों तक स्त्री-पुरुषों की भाषा भिन्न बनी रही, क्योंकि प्राचीन वेदकालीन जन-साहित्य उपलब्ध नहीं है। परन्तु वैदिक भाषा और संस्कृत पर द्रविड आदि प्रागार्य भाषाओं का प्रभाव बहुत अधिक है—यह मुख्यतया उन स्त्रियों के कारण पड़ा होगा।

संस्कृत नाटकों में पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में बड़ा अन्तर है। पति संस्कृत बोलता है और पत्नी शौरसेनी और महाराष्ट्री का व्यवहार करती है। यह उस समय की वस्तुस्थिति का परिचायक है। आज भी ऐसे घराने बहुत से हैं जिनमें पुरुष खड़ी बोली बोलता है और स्त्री अवधी, बुंदेली या ब्रजभाषा। ऐसे पुरुषों का अभ्यास शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय या सामाजिक सम्बन्धों के कारण खड़ी बोली हिन्दी का है—विशेष करके नगरों और कस्बों में। स्त्रियाँ अधिकतर घर की चारदीवारी में अपना समय बिताती हैं। अपेक्षाकृत उनमें शिक्षा की सदा से कमी रही है। प्रौढ़ और अनपढ़ अथवा कमपढ़ स्त्रियों की बोली बदलती भी बहुत कम है। उनके द्वारा अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा पूर्णरूपेण होती है। पुरुषों की भाषा का स्वरूप कुछ-न-कुछ बदलता रहता है।

उन घरों को छोड़ दीजिए जहाँ पति पंजाबी और पत्नी दिल्ली की है अथवा पति बनारस का (खत्री) और पत्नी अमृतसर की है, या कोई अन्तर्प्रादेशिक युग्म है—बंगाली और बिहारिन, राजस्थानी और गुजरातिन, हिन्दी और मराठिन, आदि आदि। इनकी तो भाषा ही भिन्न होती है। पर ऐसे दम्पती नगर-नगर, गाँव-गाँव और गली-गली में मिल जायँगे जिनकी बोली में स्पष्ट अन्तर है। हमने सन् १९४४ में लाहौर नगर के एक मुहल्ले का भाषा-विवरण तैयार किया था। सौ घरों में से केवल ११ घर ऐसे मिले जिनमें स्त्री और पुरुष की बोली एक ही थी। २० अन्य घरों में बोली का अन्तर कम था। ७ घरों में भाषा ही भिन्न थी जैसे लहँदी और पंजाबी, पंजाबी और बागड़ू, पंजाबी और पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी या लहंदी और सिंधी, राजस्थानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी और गुजराती, इत्यादि। शेष ६२ घरों में बोली का अन्तर स्पष्ट था। एक रोचक तथ्य यह भी प्राप्त हुआ कि लगभग ३० प्रतिशत पतियों ने दूसरी बोली के रूप में अपनी पत्नियों की बोली को अपना रखा था, केवल ५ प्रतिशत घरों में पति की बोली को पत्नी ने अपनाया था।

प्रत्येक देश में ऐसे कई परिवार हैं जिनमें या तो पुरुष दो बोलियाँ बोलते हैं और स्त्रियाँ एक बोली, या स्त्रियाँ दो बोलियाँ बोलती हैं और पुरुष एक बोली। ऐसी दशा में स्त्री या पुरुष को अपने जीवन-साथी की सुविधा के लिए अपनी साधारण बोली छोड़कर कभी-कभी टूटी-फूटी दूसरी बोली में बातचीत करनी पड़ती है। प्रायः स्त्रियाँ अपनी मूल भाषा के संरक्षण का बहुत ध्यान रखती हैं।

चिरकाल तक मुग़ल-घरानों में बेगमों की भाषा बादशाहों और अमीर-दरबारियों की भाषा से अलग रही। उर्दू का विकास इन्हीं बेगमों की बोली से हुआ। जिसे 'उर्दू की ज़ुबान' या 'किले की ज़ुबान' कहते हैं वह इन बेगमों की ही खिचड़ी बोली थी। बेगमें कई प्रान्तों से आती थीं, खड़ी बोली हिन्दुई ही इनके विचारों और भावों का माध्यम होती थी जिस पर अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अतिरिक्त फ़ारसी का प्रभाव भी पड़ा। शिक्षा की भाषा, राजभाषा, दरबार की भाषा फ़ारसी थी। प्रायः राजपुरुष इसी में बातचीत करते थे। इसीलिए बेगमों की भाषा में भी कई शब्द फ़ारसी के घुस आए थे। यह तो स्वाभाविक ही था। बेगमों की भाषा पर लिखे गए व्याकरण, शब्दकोश, मुहावरा-कोश आदि देखने से उर्दू की प्रवृत्तियों का मूल स्रोत प्राप्त हो जाता है।

स्त्रियों की इस मिली-जुली भाषा को रेख़्ती कहते थे। बहुत से रेख़्ती-गो शायरों ने इस भाषा को साहित्य में लाकर अमर करने की चेष्टा की।

स्पेन और फ्रांस की सीमा पर बास्क जाति में अधिकतर पुरुष बास्क भाषा छोड़ चुके हैं—वे स्पेनी भाषा ही जानते हैं; लेकिन स्त्रियाँ बराबर बास्क भाषा का व्यवहार करती हैं।

जिन स्त्री-पुरुषों में बोली का भेद नहीं होता, उनकी शिक्षा, संस्कृति, कार्य-व्यवसाय आदि जीवन की अवस्थाएँ प्रायः एक-सी होती हैं। संस्कृत नाटकों में भी रानी, तापसी, विदुषी और कुछ अन्य विशिष्ट स्त्रियों के मुख से संस्कृत बुलवाई गई है। हिन्दी-साहित्य में कुछ एक नाटककारों और कथाकारों ने स्त्री-पुरुष की भाषा का भेद रखा है, परन्तु प्रायः साहित्यकार समान भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक और स्वाभाविक परिचय नहीं मिलता।

जिसे हम भेद का अभाव कह रहे हैं वह भी नितान्त समानता की कोटि का नहीं होता। बाह्य स्वरूप एक होने पर आन्तरिक सूक्ष्म भेद कई प्रकार के रहते हैं जिनकी ओर ध्यान दिलाना इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

२. उच्चारण

स्त्रियों के गले में ध्वनि-पिट्टक छोटा होता है। पुरुषों का ध्वनि-पिट्टक बड़ा होता है और इसीलिए गले के बाहर निकला भी रहता है। इसी कारण से प्रायः पुरुषों की ध्वनि मोटी, कड़ी, कर्कश और ऊँची होती है। स्त्रियों की आवाज प्रायः बारीक, मीठी, कोमल, स्पष्ट और मद्धम होती है। उसमें एक गूँज-सी होती है। इस भेद के अनेक स्तर हो सकते हैं और किसी स्तर पर पुरुष और स्त्री के उच्चारण में कोई भेद नहीं जाना जा सकता। कुछ स्त्रियाँ पुरुषों की तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोलती हैं और कुछ पुरुष स्त्रियों की तरह। स्त्रियाँ बोलती भी बहुत हैं। इतिहास के आरम्भ से ही पुरुष ऐसे काम करता आ रहा है जिनमें बोलने और दूसरों से बातचीत करने का अवसर कम मिलता है। शिकार खेलना, युद्ध करना, खेती-बाड़ी करना, खान खाइयाँ खोदना, मजदूरी करना, इत्यादि ऐसे काम हैं जिनमें लगे हुए पुरुष बात-बात कम कर पाते हैं। इन कार्यों से निवृत्त हो करके भी वे पड़े सोते हैं—विश्राम में भी बोलने की गुंजाइश नहीं होती। स्त्रियों के कार्य घर में सम्पन्न होते हैं जहाँ काम-काज के साथ बातचीत, गाना-गुनगुनाना बराबर चलता है। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक समाजप्रिय होती हैं। बातूनी झगड़ों में भी होशियार होती हैं। सखी-सहेलियाँ बटोरने, अड़ोसनों-पड़ोसनों से प्यार बढ़ाने में और फिर बिगाड़ कर लेने में वे बहुत दक्ष होती हैं। सारांश यह कि भाषा-सम्बन्धी अभ्यास से प्राप्त दृढ़ता, स्पष्टता और प्रगल्भता स्त्रियों की वाणी में विद्यमान रहती है। ऊँचे चिल्लाने और व्याख्यान देने का अवसर उन्हें कम मिलता है। घरेलू जीवन में शोर मचाने की गुंजाइश कहाँ? अलबत्ता जो स्त्रियाँ स्त्रियोचित जीवन को त्याग देती हैं—जैसे पढ़ी-लिखी महिलाओं में कुछ-एक, मीरासनें, भिखारिनें, और वेश्याएँ—तो उनकी भाषा पुरुषों की भाषा की कोटि में आने लगती है। बड़े-बड़े व्याख्याता और वक्ता पुरुषों में होते हैं, दूसरी ओर तोतले-हकले-थथले भी पुरुषों में अधिक होते हैं। स्त्रियों की भाषा मध्यम (निश्चित और स्पष्ट) मार्ग से होकर चलती है। उसमें उच्चारण के उतार-चढ़ाव, तान और लय के नाना रूप कम होते हैं।

खड़ी बोली में एक कहावत है—'औरत की जीभ कैंची की तरह चलती है।' प्रायः स्त्रियाँ तेज बोलती हैं।

यह भी देखा गया है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की भाषा में एकाक्षर शब्द अधिक होते हैं। बहुत सी स्त्रियां लम्बे लम्बे नाम लेने में असमर्थ होती हैं। शब्दों की कटाई-छटाई में इनका काफ़ी हाथ होता है।

स्त्रियों की ध्वनि-सम्बन्धी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए यह खोज करने की आवश्यकता है कि कौन-कौन ध्वनियाँ उन्हें अधिक प्रिय होती हैं। जेस्पर्सन ने अंग्रेजी में देखा कि स्त्रियाँ 'र' का उच्चारण एक विशिष्ट ढंग से करती हैं और उनकी बोली में ह्रस्व स्वरों का बाहुल्य पाया जाता है। हिन्दी में ऐसा जान पड़ता है. कि स्त्रियाँ मृदु व्यंजनों और अनुनासिक ध्वनियों को अधिक अपनाती हैं। वे द्वित व्यंजनों को तोड़कर स्वरभक्ति लगाने की भी आदी होती हैं, जैसे स्वराज्य की जगह सवराज, प्रश्न की जगह प्रशन, पत्र की जगह पत्तर, इत्यादि। इसका कारण यह है कि द्वित व्यंजन से पूर्व अक्षर पर बलाघात रहता है जो पुरुषों की वाणी में अधिक होता है। स्वरभक्ति से बलाघात बँट जाता है। लहँदी में देखा गया कि प्रायः सब पुरुष ख़, ज़, ग़, फ़ का उच्चारण फारसी-अरबी से प्राप्त शब्दों में करते हैं—जैसे ख़ाली, ग़रीब, ज़ोर, फ़ालतू आदि में। पर, स्त्रियाँ खाली, गरीब, जोर, फालतू ही बोलती हैं। लेकिन अभ्यास से वे नई ध्वनियाँ बहुत जल्दी सीख जाती हैं। उनकी वाणी में लोच होती है। अंग्रेजी के फ़, ज़, श वर्णों का उच्चारण पूर्वी उत्तरप्रदेश के लड़के विश्वविद्यालयों में रहकर भी फ, ज, स-सा करते हैं। अपेक्षाकृत लड़कियों का उच्चारण शुद्ध होता है। इस विषय में खोज की आवश्यकता है।

स्त्रियाँ जिस प्रकार अधिक स्पष्ट बोलती हैं, इसी प्रकार वे अधिक स्पष्ट सुनती भी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके कान बहुत अभ्यस्त होते हैं। उच्चारण की सूक्ष्मताओं और वाणी के अन्तर की पकड़ उनमें कमाल दरजे की होती है। बोली की नकल उतारने में वे पटु होती हैं।

स्त्रियाँ प्रायः कठोर रसों की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हो पातीं। वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक रस पुरुषों की वाणी में और शृंगार, करुण और वात्सल्य स्त्रियों की वाणी में अधिक विशद रूप में आते हैं। उनका कोमल स्वभाव कोमल वाणी का रूप धारण करता है। भाषा में व्यक्तित्व अपने प्रकृत रूप में आता है।

पुरुषों के वाक्य भले ही लम्बे और संयुक्त हों, स्त्रियों के वाक्य छोटे-छोटे और मिश्रित होते हैं। उनके वाक्य टूटे-फूटे और अपूर्ण भी होते हैं। भावुकता उन्हें अपने वाक्य पूर्ण नहीं करने देती। कुछ तो वे वाणी से प्रकट करती हैं और कुछ आँखों से व्या मुख-मुद्रा से। इनसे भी यदि कुछ नहीं कहा जा सकता तो आँसुओं में कह डालती हैं। संयम और आवेश दोनों की अति के कारण उनकी भाषा में वाक्यों की बचत हो जाती है। उनका भाव भाषा के वाहन पर बहुत देर तक चढ़ा नहीं रह पाता।

हमारा यह विश्वास कि है भाषा से ध्वनिशास्त्री के लिए यह जान लेना सम्भव है कि किसी स्त्री में कितनी मात्राएँ स्त्रीत्व की हैं और कितनी पुरुषत्व की, अथवा यह कि किसी पुरुष की बोली में कितना पुरुषत्व है और कितना नहीं है। परन्तु इस दिशा में कुछ कार्य नहीं हुआ। भाषा-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान को अलग-अलग और मिलकर दोनों तरह से सत्यान्वेषण करने की आवश्यकता है।

२. शब्द-भाण्डार

भाषा के निर्माण में स्त्रियों का क्या योग है ? इस प्रश्न की ओर हम प्रत्येक भाषा के अन्वेषक का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। बच्चा अपनी भाषा माँ से सीखता है। 'मातृभूमि' की जगह चाहे कुछ देशों में 'पितृभूमि' कहा जाता है, पर 'मातृभाषा' के स्थान पर 'पितृभाषा' कहीं नहीं कहते। माता ही की बोली का अनुकरण करते-करते बच्चा अपने अ आ उ ऊ क प ब को सार्थक बनाना सीखता है। माता ही उसे अपने ध्वनि-यन्त्रों की पेशियों में लचक लाना सिखाती है। माता ही उसे ध्वनि निकालने की कला में प्रवीण बनाती है। उसीके सम्पर्क में रहकर अबोध बच्चा चार-पाँच वर्ष तक अपना शब्द-भांडार बनाता है और अपनी भाषा का संगठन करता है। किसी विद्वान् ने कहा है कि जन्म से पहले दो वर्षों में मनुष्य जितना कुछ सीखता है उतना जीवन के अन्य किन्हीं दो वर्षों में कदापि नहीं सीख पाता। मातृभाषा का प्रभाव उसकी बोली में जीवन-भर रहता है। इस प्रभाव की गहराई और व्यापकता की कई अवस्थाएँ हो सकती हैं। लड़कियाँ अपनी माताओं के सम्पर्क में अधिक काल तक रहती हैं। जीवन में प्रविष्ट हो जाने पर भी उन पर पड़ने वाले नये प्रभाव बहुत कम पड़ते हैं। पर लड़कों की बोली पर अनेक अन्य प्रभाव पड़ते हैं—कई बार उनकी बोली अपनी मातृभाषा से भिन्न हो जाती है, चाहे इसका आंशिक प्रभाव भी बना रहता है।

लेकिन, स्त्रियों का अपना शब्द-भांडार एक सीमित और विशिष्ट प्रकार का होता है। वे बहुत बोलती हैं, वे तेज बोलती हैं, वे छोटे-छोटे वाक्यों में बात करती हैं—यह सब इसीलिए के उनके पास शब्दों की वह प्रचुरता नहीं जो मनुष्य को गम्भीर और अनिश्चित बना देती है। प्रायः सभी पारिभाषिक शब्द पुरुषों द्वारा गढ़े जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान के शब्द-निर्माण में भी स्त्रियों का योग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगण्य है। नये शब्दों, देशी गढ़नों और क्रान्तिकारी अभिव्यक्तियों के उत्पादन और विकास में नवयुवकों और युवा पुरुषों का विशेष हाथ होता है। यह बड़ी विचित्र बात है कि भाषाओं (कम-से-कम आर्य भाषाओं) के प्रायः स्त्रीलिंग रूप पुल्लिंग रूप से ही बनते हैं—जैसे कुत्ता से कुतिया, शेर से शेरनी, धोबी से धोबिन, लड़का से लड़की। स्त्रीलिंग शब्द से पुल्लिंग रूप क्यों नहीं बनते? आर्य-भाषा-भाषियों के पितृ-प्रधान परिवार होते हैं। यह देखने की आवश्यकता है कि मातृ-प्रधान जातियों में शब्दों का लिंगान्तर करने की क्या व्यवस्था है। संस्कृत में एक ओर अमरत्व, सौंदर्य, जागरण आदि पुल्लिंग और दूसरी ओर इन्हीं के पर्याय अमरता, सुन्दरता, जागृति आदि स्त्रीलिंग शब्द क्यों हैं? इस बात पर अनुसन्धान करने की आवश्यकता है कि स्त्रियों की बोली में स्त्रीलिंग शब्द अधिक होते हैं अथवा पुल्लिंग। महादेवी वर्मा, होमवती देवी, सुमित्राकुमारी सिनहा, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि हिन्दी की लेखिकाओं की कृतियों में से ही कुछ तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं। उत्तर-पश्चिमी भारत में तौलिया, पहिया, घास, छत आदि अनेक शब्द पुल्लिग हैं, जो पूर्वी प्रान्त में स्त्रीलिंग हैं। यह भी ध्यान रहे कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या बहुत अधिक रही है। क्या हिन्दी में सामर्थ्य, विजय और श्वास आदि अनेक पुल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग रूप में प्रयुक्त करने की बान महिला साहित्यकारों से तो नहीं आई?[1] इन सभी प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता है।

स्त्रियों का व्यावहारिक शब्द-भाण्डार बहुत सम्पन्न होता है। घर-द्वार, खान-पान, कपड़े-लत्ते, सगे-सम्बन्धी, रीति-रिवाज आदि के सम्बन्ध की उनकी शब्दावली पुरुषों की शब्दावली की अपेक्षा अधिक समृद्ध होती है। पुरुष-लेखकों और स्त्री-लेखकों की रचनाएँ इस सत्य पर अधिक प्रभाव डाल सकती हैं। रेख्ती के कोश इसका प्रमाण हैं। स्त्रियों की शब्दावली बहुत व्यापक नहीं होती। मीरां से लेकर शान्ति मेहरोत्रा एम० ए० तक की कृतियों में ऐसे शब्दों की संख्या बीसियों तक पहुँचती है जो अनेक बार दोहराये गए हैं। इनसे भाव और भाषा की गहराई और तीव्रता का परिचय तो मिलता है, पर व्यापकता का नहीं। सच तो यह है कि महिलाओं का कार्य व्यवहार, उनका अनुभव और चिन्तन एक सीमित घेरे में होता है।

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका व्यवहार केवल स्त्रियाँ करती हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें वे नहीं बोलतीं। अनेक शरीरावयवों, स्वाभाविक शरीर-क्रियाओं और कुछ विचार-द्रव्यों का नाम स्त्रियाँ नहीं लेतीं। कहीं-कहीं स्त्रियाँ 'मजा' या 'स्वाद' शब्द नहीं कहतीं। किसी स्त्री की कृति में 'चुम्बन' 'पुलकित' आदि शब्दों को पढ़कर उसके यौन-विद्रोह या स्त्रीत्व के असन्तोष का अनुमान किया जा सकता है। स्त्रियों की भाषा अधिक श्लील, संयत और व्यंजनापूर्ण होती है। नवयुवक आपस में बैठकर जो बातें किया करते हैं उस स्तर की बातें नवयुवतियों में नहीं होतीं। वे लज्जालु, संकोची और संयत होती हैं। स्त्रियों की गालियाँ भी इतनी नंगी और फक्कड़ नहीं होतीं जितनी पुरुषों की। कुछ गालियाँ, शाप, आशीर्वाद और बोल स्त्रियों के ही मुख से सुने जा सकते हैं। इनका व्यवहार करने वाला पुरुष स्त्रैण समझा जाता है। उदाहरण—दाढ़ी-जरा, दहिजरा, कोख-जली, माँग-जली, निगोड़ा, कलमुँहा, मूंडी-काटा, मुआ, अल्लाह मारी (मुसलमानों में), एवं कीड़े पड़ें, कहाँ उजड़ गई थी, आग लग जाय, तथा बूढ़ सुहागिन हो, कोख ठंढी रहे, माँग भरी रहे और सुहाग लुट गया, गोद सूनी हो

1. मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे—महादेवी वर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई, इत्यादि। महिलाओं का कोमल हृदय उनसे ऐसे शब्द नहीं बुलवा सकता जिनकी किसी के हृदय पर चोट लगे। 'मर गया' को वे अनेक तरह से कहेंगी। 'वह बीमार है' की जगह 'उसके दुश्मन बीमार हैं', 'उसका पिंडा फीका है' आदि बोलेंगी। यार (दोस्त) का अर्थ 'जार' भी हो सकता है, इसलिए वे इसका प्रयोग न करेंगी। पुरुष जिसकी नौकरी करते हैं, उसे 'मालिक', 'सरकार' आदि कहकर पुकारते हैं। 'मालिक' का अर्थ 'पति' भी हो सकता है इसलिए खड़ी बोली प्रदेश की स्त्रियाँ 'सरकार' कहेंगी 'मालिक' नहीं।

कई ऐसे शब्द हैं जो स्त्रियों के ही मुख में सजते हैं—जैसे, मेरी फूल-सी बिटिया, नौज, मेरा वीर (भाई), माँजाई, बाबुल, इत्यादि।

अनेक देशों में स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेतीं। भारत में प्रायः स्त्रियाँ 'पति' शब्द भी नहीं कहतीं। इसके लिए 'ये मेरे वो हैं', 'वो मेरे ये हैं', 'घर वाला', 'मेरा आदमी', 'मालिक', साईं, (स्वामी) और सम्बोधन करते हुए 'मुन्नी के पिता', 'लल्लन के बाबू', 'मोहन (या रधिया) के 'भाई' आदि प्रयोग करती हैं। हिन्दी-साहित्य में जो 'प्रिय', 'नाथ', 'प्राणनाथ' आदि शब्द हैं वे साधारण बोलचाल में नहीं मिलते। लोक-गीतों में कुछ शब्द 'बालम', 'पिया', 'पीतम', 'पी', 'माहिया', 'रसिया', 'कंत' आदि आते हैं। वे प्रेमी के लिए हैं, पति के लिए नहीं हैं।

पति का नाम न लेने के कारण स्त्रियों को जो कष्ट होता है उससे पाठक परिचित हैं। 'माखन लाल' नाम बताने के लिए वे 'घी का भाई', 'लस्सी में से निकलने वाला' और न जाने क्या-क्या कहती हैं। वे माखन नहीं खातीं, क्योंकि माखन तो माखन लाल का पर्याय है; वे बच्चे को 'मेरे लाल' कहकर नहीं पुकारतीं। जिसके पति का नाम ताराचन्द हो वह तारा और चांद को इंगित करके और (दिन में) न जाने किन-किन हेर-फेरों से नाम बता पाती हैं। जिनके पति का नाम 'रामलाल' होता है वे ऐसे सभी नामों को अधूरा बोलती हैं या टाल जाती हैं जिनमें 'राम' या 'लाल' शब्द आता है जैसे रामचन्द, रामधन, गंगाराम, श्री राम, श्यामलाल, लालजी आदि। 'कृष्ण' नाम के पति वाली स्त्री कृष्ण की पुजारिन होते हुए 'कृष्ण' नाम नहीं लेती, दूसरे नाम लेती है।

स्त्रियाँ अपने ससुर, सास, जेठ, जेठानी का नाम भी नहीं लेतीं।

स्त्रियों की शब्दावली में अतिशयोक्तिपूर्ण, व्यंग्यात्मक, और शिष्ट शब्द पुरुषों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

४. लोकवार्ता

भाषा को स्त्रियों की सबसे बड़ी देन हैं मुहाविरे, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, गीत और लोक-साहित्य के विविध रूप। 'चूड़ियाँ ठंडी करना', 'दाई से पेट छिपाना', 'उधेड़ बुन', 'कंघी-चोटी करना', 'बात पल्ले बाँधना', 'ओढ़नी बदलना', 'उधेड़ के रख देना' आदि मुहाविरे, 'आ पड़ोसन मुझ-सी हो', 'कोस न चली बाबा प्यासी', 'मत कर सास बुराई, तेरे आगे आई', 'घी कहाँ गया, खिचड़ी में', 'ननद का ननदोई, गले लाग-लाग रोई', 'सौत बुरी चून की', 'जिसको पिया चाहे वही सुहागिन', 'जिये मेरा भाई, गली-गली भौजाई', 'रात-भर मिमियाई और एक बच्चा ब्याई', 'तू भी रानी मैं भी रानी, कौन भरेगा पानी', 'तेली की जोरू बनी फिर भी रूखा खाया', 'जैसे कन्ता घर रहे वैसे रहे विदेस', 'थाली फूटी-न-फूटी झन्कार सबने सुनी', 'कोई पूछे-न-पूछे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा धन सुहागिन नाम', 'कोदों का भात किन भातों में; ममिया सास किन सासों में,' इत्यादि सैकड़ों लोकोक्तियाँ स्त्रियों की गढ़न का परिचय देती हैं। ऐसे मुहाविरों और लोकोक्तियों का संग्रह करके उनका भाषाशास्त्रीय अध्ययन और विश्लेषण करने की बड़ी आवश्यकता है।

लोक-कथाओं और पहेलियों का जन्म भी अधिकांशतः स्त्रियों से होता है। कहानी नानी सुनाती है, नाना क्यों नहीं सुनाता ? लड़कियों और महिलाओं के मनोरंजन का यही प्रमुख साधन है। काम-काज से छुट्टी पाकर वे पहेलियाँ और कहानियाँ सुनती-सुनाती हैं। गीतों में स्त्रियों की छाप स्पष्ट है। नगर की कवयित्री अपने नाम का ढिंढोरा पिटवाती है। गाँव की कवयित्री गुम-नाम रहकर अपने भावों को अभिव्यक्त करती है। प्रेम वह भी करती है- माँ बाप से, भाई से और अपने 'उस' से। पर वह अपना घूँघट नहीं खोलती, वह अपने प्रेम को बेचने नहीं निकलती। इसीलिए उसकी कृति लोक-सम्पत्ति हो जाती है, किसी व्यक्ति का कॉपी-राइट उस पर नहीं होता।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

हंसकुमार तिवारी

कला, सौन्दर्य और संस्कृति

कला, सौन्दर्य और संस्कृति—अरसा हुआ कि इनकी चर्चा आम हो आई है। लेकिन यह आम चर्चा महज एक जबानी जमा खर्च है, बातों की बात। तत्वत: अगर इनकी सूझ-बूझ भी आम और सामाजिक हो पाती, तो वह संस्कारिता हर दृष्टि से उन्नत, उपादेय और मंगलमयी होती। पर वास्तव में न तो वैसी बात है, न वैसा हो सकने की सम्भावना ही है। इसके कारण भी हैं। जहाँ तक सौन्दर्य-बोध और कला चेतना का सवाल है, हम सामाजिक तौर पर उसका एक परम्परागत रूप पाते हैं, उसके क्रम-विकास की एक रूप-रेखा तैयार कर सकते हैं। इसलिए कि सौन्दर्यप्रियता मनुष्य की एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है, कला जो कि 'माध्यम के रूप में आकृति का निर्माण' है, उसकी एक आवश्यकता है और ये कलात्मक रूप ही संस्कृति के पर्याय हैं।

रूप-रचना की प्रेरणा जैसी स्वाभाविक हुआ करती है, स्वरूप-विवेचन से जान-पहचान वैसी सहज नहीं होती। कोई भाषा बोल लेता है, तो उसके यह मानी तो नहीं कि वह व्याकरण के सूत्रों से संगठित उसके संगीतमय स्वरूप की भी सही जानकारी रखता है। इस जानकारी की शायद आवश्यकता भी अनिवार्य नहीं। धार्मिकता मूलतया आचरणगत ही होती है, शास्त्र कण्ठाग्र करने से नहीं आती। कलाकारिता, सौन्दर्य-बोध और संस्कार, ये भी शास्त्रीय नहीं होते, शास्त्र किन्हीं अंशों में सामाजिक सहृदयता का परिमार्जन और परिष्कार कर सकते हैं, रसग्राही चेतना उद्बुद्ध, उन्मुख और संस्कृत हो सकती है। किन्तु सहृदय सामाजिक से जिसकी अपेक्षा है, वह पूरी नहीं होती। आम तौर से लोगों में यह जो सुन्दर शब्द का प्रयोग हम पाते हैं, वह हर ऐसी वस्तु या बात के लिए एक भावात्मक स्वीकृति भर होता है, जो कि अच्छी या अपने ढंग की अनूठी समझी जाती है। सिद्धान्तत: सौन्दर्य-शास्त्र का कार्य सौन्दर्य का स्वरूप-विवेचन भर ही है, किसी को इस योग्य बनाना नहीं कि वह सुन्दर की रचना कर सके अथवा उसे पूर्णतया हृदयंगम करा दे सके। फिर यह विषय कुछ ऐसा है कि जिसकी सहज प्रतीति तो हरेक को होती है, प्रतीति कराने की अक्सर पाण्डित्यपूर्ण चेष्टाएँ भूल-भ्रांतियों से भरी होती हैं। सौन्दर्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों तक में सुन्दर की अक्सर परिभाषाएँ ऐसी शाब्दिक हैं, जिनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ सही-ग़लत का सवाल ही नहीं उठता; बहुत तो उन्हें सुविधा या असुविधाजनक अथवा सहज या जटिल कह सकते हैं। जटिलता की यह गुत्थी और उलझ ही जाती है, जब इसके कहलाने वाले समझदार स्वयं स्पष्ट और एकमत नहीं हो सकते। दुर्भाग्य से कला या सौन्दर्य के विचार-विश्लेषण में शुरू से आज तक ऐसा ही होता आया है। सर्व-साधारण और ऐसे विषयों के बीच की जो योजक कड़ी हैं, वे तो ऐसे व्याख्याता-विचारक ही हैं किन्तु चूँकि वह योजक रेखा ही विषय के आदि-अन्त के मूल बिन्दुओं के बीच उलझनों में भटकी-सी है, इसलिए ऐसे सामाजिक संस्कार का फिर सवाल ही कहाँ उठता है।

हिन्दी में इन विषयों की गहरी और शास्त्रीय चर्चाएँ थोड़े दिनों से होने लगी हैं, जो कला के अभिमूल्यन की नई दृष्टि सम्पन्न जागरूकता की परिचायक हैं और इसी बीच कुछ ग्रन्थों में इस विचार-परम्परा के प्रति व्यापक जिज्ञासा, गम्भीर मनन एवं भेदक अन्तर्दृष्टि के भी दर्शन मिलते हैं। भूल-भ्रांति के कुहरे-भरे मार्ग पर सहज-सुगम रोशनी की लकीर खींचने की कोशिश भी इस दिशा में दिखाई दे रही है, जो कि शुभ है। इस सम्बन्ध के उल्लेख योग्य ग्रन्थ तो हिन्दी में कई हैं, पर यहाँ हम उनमें से तीन को ही अपने इस प्रबन्ध में ले रहे हैं, 'कला और मानव', 'सौन्दर्य शास्त्र', तथा 'कला और संस्कृति' देखने में अलग-अलग दिशा में होते हुए भी तीनों का क्षेत्र लगभग एक है; एक-दूसरे से घनिष्ट सम्बन्धित हैं। दूसरे शब्दों में यों कहें, प्रत्येक का अस्तित्व अन्य दो पर ही पूर्णतया आश्रित है।

'कला और मानव' चार निबन्धों का छोटा सा संग्रह है और अंग्रेजी पुस्तक का भाषान्तर है। निबन्धों में कला और सौन्दर्य-शास्त्र के आपसी सम्बन्धों पर संक्षिप्त और सुचिंतित विचार दिये गए हैं, जिनमें स्वाध्याय और मानवशीलता की छाप स्पष्ट है और विषय प्रतिपादन के लिए जिन तर्कों की अवतारणा की गई है, वे बेशक जोरदार हैं, निर्णय चाहे मान्य न हों। लेखक की नई दृष्टि का परिचय इस स्थापना की चेष्टा से मिलता है कि उन्होंने कला वस्तु और माध्यम के अन्तर का विशद विवेचन करते हुए यह दिखाया है कि अभिमूल्यन-सम्बन्धी सारी भूल-भ्रांतियाँ अब तक माध्यम विचार की भूल से ही होती रही हैं। **"कोई एक साल की बात है शायद लन्दन के टाइम्स के लिटरेरी सप्लिमेंट में कला की व्याख्या करते हुए किसी समालोचक ने कहा था कि कला माध्यम के रूप में आकृति का निर्माण है। मेरे खयाल में इससे अधिक सच्ची व्याख्या मिलना कठिन है। हमें केवल इस बात को समझ लेना चाहिए कि हम इस व्याख्या के 'माध्यम' को ठीक समझ रहे हैं या नहीं। मेरा विश्वास है कि किसी भी मान्य सौन्दर्य-शास्त्र का अपेक्ष्य अंग इस शब्द का पूरा-पूरा विश्लेषण है और यदि इसके ठीक अर्थ और महत्व को समझ लिया जाय तो प्रतिनिधान (रिप्रेजेंटेशन) और अप्रतिनिधान (नन-रिप्रेज़ेंटेशन), सत्य, प्रकृति की नकल, ललित कला के रूप में कविता क्या है आदि समस्याएँ, जो हमारे कला-समीक्षकों को भ्रांति में डाल रही हैं, स्वयं ही हल हो जायँगी।"**

माध्यम का पचड़ा बड़ा पेचीदा है। इसमें कोई शक नहीं और प्रस्तुत पुस्तक में बड़े विस्तार से, सशक्त युक्तियों द्वारा बड़ा अच्छा विवेचन किया गया है। त्रिपदात्मक प्रवृत्ति के बीच का पद माध्यम है, इसे मानकर सुगमता से काम चल सकता था, बशर्ते कि कला आदि का सम्बन्ध बहुपदात्मक नहीं होता। मसलन संगीत की बात ली जाय। गायक, गीत, ध्वनि, ध्वनिवाहक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शून्य, वायु, श्रवण, श्रोता—इन इतनी आनुषंगिक बातों में कौनसी को तीसरा पद माना जाय। अन्य कलाओं के साथ भी ऐसी ही उलझन आती है और ऐसे में निश्चय रूप से तीन पदों का निर्वाचन एक टेढ़ा काम है। लेखक ने इन्हें भी सापेक्ष त्रिपदात्मिका मानकर एक ऐसे निर्णय पर पहुँचने की कोशिश की है, जिसमें उनके जानते विवाद की गुञ्जाइश नहीं। किसी कला के प्रथम और तृतीय पद उनकी राय में सौन्दर्यनिष्ठ संवेद्यता और सौन्दर्य होते हैं और माध्यम कला-वस्तु। सौन्दर्यनिष्ठ संवेद्यता से हम कह सकते हैं उनका अभिप्राय सृजनक्षम प्रतिभा से या उसके अधिकारी कलाकार से है। एक स्थान पर साधारण मनुष्य और कलाकार में कुछ पार्थक्य उन्होंने बताया है कि साधारण मनुष्य की प्रकृति और कलाकार की प्रकृति में केवल यही अन्तर है कि कलाकार में सौन्दर्य-सम्बन्धी संवेद्यता निश्चित रूप से रहती है। इस संवेद्यता की भी अपनी प्रकृति होती है कि वह इन्द्रियजनित संवेदनाओं को सूक्ष्म रूप में ग्रहण करने वाली तथा तत्पर होती है। इस तरह संक्षेप में वह रूप यों होता है।

	कलाकार	माध्यम	सौंदर्य
यथा	चित्रकला	संसार का दर्शनीय अंग, रंग रेखा, पुँज आदि	सौंदर्य

इस निश्चय से समस्याओं के निराकरण हो जाते और आपत्तिजनक कोई अंजाम नहीं निकलता, तो बात नहीं थी। इस माध्यम विचार की स्थापना में कुछ ऐसी बातों की अवतारणा हो आई, जिनमें काफी कुछ कहने-सुनने की गुंजाइश हो गई, बल्कि स्वयं परस्पर विरोधी बातें भी आ गईं, यथा ललित-कलाओं के वैधानिक-क्रम में कविता का स्थान सबसे नीचे रखना। ऐसे क्रम में कविता का स्थान यहाँ वा वहाँ हो, अपना वैसा कोई आग्रह नहीं; कविता जहाँ भी होगी, अपने गुण और शक्ति के अनुरूप वह कविता होगी। किन्तु उसके लिए जो बात कही गई है, उस पर ही बात आती है। प्रस्तावना में लेखक कहते हैं—"तुकबंदी मेरे खयाल में अशोध्य कमजोरी है।....मेरा यहविश्वास दृढ़ होता जाता है कि कविता पूर्ण रूप में संतुष्ट नहीं करती। यह इस'मानवी संसार की चाल-ढाल से दूषित है और संसार की क्षणभंगुरता इसमें इस प्रकार गुँथी है कि यह शक किये बिना नहीं रहा जा सकता कि इसकी उस क्षणभंगुरता के अतिरिक्त और कोई सार्थकता नहीं।"

'ललितकला के रूप में कविता का स्थान' में कहते हैं—"कविता से निर्मल यानी सौंदर्यनिष्ठ आनन्द की प्राप्ति केवल इसलिए होती है क्योंकि उसके सब तत्त्व अनियमानुसार संगठित हैं, यानी लय और व्यतिरेक के नियमों के अनुकूल हैं। परन्तु यह आनंद उतना गहरा नहीं, जितना अन्य ललितकलाओं से प्राप्त आनंद हो सकता है।"

लेखक ने काव्यानंद की क्षीणता के दो कारण बताए हैं। एक: कविता संवेदनाओं के सभी गुणों का प्रयोग कर लेती है और सभी इंद्रियों को साथ ही क्रियाशील करती है। दूसरा: काव्यमय संवेदनाएँ असली संवेदनाएँ बिलकुल नहीं हैं, केवल उनकी प्रतिक्रिया मात्र हैं और चूँकि कविता में असली संवेदनाओं की गहराई, वास्तविकता नहीं रहती, इनकी आनंददायिनी शक्ति भी कम होती है।

शास्त्रकारों ने ऐसी शंकाओं का बड़ा विस्तार से और सूक्ष्म विवेचन किया है, जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। प्रसंगवश स्वयं लेखक ने इसी पुस्तक में यत्र तत्र जो मंतव्य दिये हैं, संक्षेप में वही इसके उत्तर हो सकते हैं। यथा—कवि के अनुभव अधिक परिपूर्ण और कम क्षीण होते हैं।"[1] "इन्द्रियों द्वारा विश्व के विभिन्न अंगों के, उनकी अपूर्व घनिष्ठता और पवित्रतामय रूप में, तीव्र आस्वादन तक पहुँची हुई सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता ही कलाकार का निर्माण करती है।"[2] "ऐंद्रिक संवेदनाओं में यह श्रेष्ठ आनन्द जिस में उनके अभिप्राय की छाया भी न हो, संवेद्यता का तथ्य है।....."[3] जो संवेद्यता कला की मूल प्रेरणा है, उसका अगर स्वरूप ही उपर्युक्त है, तो आनन्दशक्तिसम्पन्न वास्तविकता का और कौन-सा रूप हो सकता है, जो काव्य में नहीं मिलता?

कविता की क्षण-भङ्गुरता तब शायद स्पष्ट हो पाती, जब कि नित्यता की आयु का निश्चित परिमाण मालूम होता। उपन्यासकार शरच्चन्द्र ने भी एक बार यही बात कही थी कि किसी देश का साहित्य नित्यकाल का नहीं होता। संसार की सभी सृष्ट वस्तुओं की तरह इसके भी जन्म और विनाश का क्षण होता है। इस 'नित्य' शब्द का कोई गोल-मोल अर्थ तो अपने को नहीं आता, पर अगर दीर्घजीवन क्षण-भङ्गुरता का उत्तर है, तो कविता की लम्बी आयु के हम प्रमाण दे सकते हैं। राम नहीं रहे, 'रामायण' है; कौरव-पाण्डवों के प्रतापी पराक्रम का सूरज डूब गया और 'महाभारत' है; उज्जयिनी के वे दिन जाते रहे, कालिदास की कविता है। ऐसे और अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। दो कवियों की उक्तियाँ भी.......

We have found safety with all things undying
The winds, and morning, tears of men and mirth,
The deep night, and birds singing and clouds flying
And sleep and freedom, and the autumnal earth.

और

युगे-युगे लोक गिये छे एसे छे
दुखीरा केंदे छे, सुखीरा हंसे छे
प्रेमिक ये जन भालो से बेसे छे
आजि आमादेरि मतो।
तारा गे छे, शुधु ताहादेर गान
दुहाते छड़ाये कोंटे गेछे दान
देशे-देशे तार नाहिं परिमाण
भेसे-भेसे जाय कतो।

अन्य ललित कलाओं जैसा गहरा आनन्द काव्य से नहीं प्राप्त होता, इस पर युक्तियाँ दी जा सकती हैं, पर बात जैसे जँचती नहीं। संगीत हमारी अनुभूतियों को मूर्त करने में सफल है, किन्तु उसका आधार अमूर्त ध्वनि होता है, कविता के द्वारा आध्यात्मिक जगत् को रूप देने की ज्यादा सुविधा है, इसलिए कि शब्दों की आत्मा से अधिक निकटता है। एक सज्जन ने सौंदर्य-चेतना को आध्यात्मिक कहते हुए यह बताया है कि हमारी सौंदर्यानुभूति का स्वरूप ध्वन्यात्मक रहा है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि सौंदर्य का आस्वादन आँखों के बजाय कानों से ध्वनि

१. पृष्ठ २३ २. पृष्ठ ११ ३. पृष्ठ १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में किया जा सकता है। जो हो, इन बातों के सिवाय कविता की सबसे जो बड़ी विशेषता है, वह है अन्य सारी ललित कलाओं की अपनी जो एक खास अभिव्यंजना होती है, अपना जो एक ढंग होता है, कविता सफलता से उन सभी को अपने में ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता रखती है। संगीत, चित्र, भास्कर्य, सबकी विशेषता को यह अपने में प्रतिफलित कर सकती है। संगीत की गेयता से ही सम्पूर्ण गीति-कविता अनुप्राणित है। कालिदास की कविता में उसके उदाहरण हैं। अंग्रेजी की सारी रोमाण्टिक कविता, बंगला में कवि रवीन्द्र के गीत, हिंदी में छायावाद की श्रेष्ठ रचनाएँ, गीत और चित्र के मनोरम समन्वय हैं। क्लासिक-साहित्य में तक्षण और स्थापत्य की भंगिमा भरपूर है। सारा संस्कृत-साहित्य, लैटिन-साहित्य भास्कर्य की भंगिमा से महिमामय हो उठा है। फिर काव्य की अपनी शक्ति और विशेषता तो है ही। जहाँ तक सांसारिक चाल-ढाल से दूषित होने की आशंका है, वह केवल कविता से ही क्यों, प्रत्येक ललित कला की प्रेरक सौंदर्य-निष्ठ संवेद्यता उसकी शिकार मानी जा सकती है। क्रोचे ने तो स्पष्टतया यह कहा है कि वास्तविक सौंदर्य तो वही है, जो शिशु की आँखों से देखा गया होता है। आन्तरिक विकास के कारण और सामाजिक जीवन की जटिलता की वजह से हमारी विशुद्ध सौंदर्य-चेतना नैतिक और व्यावहारिक क्रियाओं से ढक जाती है।

कविता का माध्यम लेखक भावनात्मक अर्थ मानते हैं और शब्द, ध्वनि, संगीत का उसके लिए कोई मूल्य-महत्त्व नहीं मानते। शब्द के उन्होंने दो अंग कहे हैं—संवेदनात्मक और आशयात्मक। संवेदनात्मक रूप में शब्द ध्वनि का विषय, श्रवण-सम्बन्धी चेतनाओं का मिश्रण और स्वरों तथा व्यंजनों का समुदाय है। परन्तु भाषा में ध्वनियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता—वह महज वस्तुओं के प्रतीक का काम देती है। आशयात्मक शब्दों के भी उन्होंने दो पहलू दिये हैं—संज्ञानी और भावनात्मक तथा इस भावनात्मक की भी दो शाखाएँ की हैं—निरपेक्ष व स्वतन्त्र तथा सम्भाव्य व आश्रित। और इस प्रकार उनके निर्णय का रूप जो होता है, वह है,

- शब्द
  - ध्वनि के रूप में
  - अर्थ के रूप में
    - बौद्धिक
    - भावनात्मक
      - सौंदर्यनिष्ठ
      - काव्यनिष्ठ

और तब कहते हैं शब्द, जहाँ तक कि वे शब्दों और अर्थों दोनों को उपलक्षित करते हैं, कविता का माध्यम नहीं। शब्द तभी कविता का माध्यम कहे जा सकते हैं यदि हम शब्दों का तात्पर्य कविता की तरह का भावात्मक अर्थ समझें।

शब्द, अर्थ, भाव—कविता में इनके अर्थ—अभिप्राय और सम्बन्ध बहुत बार एक-से होते हैं। शब्द और अर्थ तो पार्वती-परमेश्वर के समान अभिन्न माने गए हैं :

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वंदे पार्वती-परमेश्वरौ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनवगुप्त ने उस काव्यार्थ को भावना मानने में सहमति दिखाई है, जो पाठक-चित्त में विज्ञापित होकर रस-रूप में अनुभूत होते हैं—

संवेदनाख्य व्यंग्य परसंवित्ति गोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥

जिस भाव को इमोशन कहते हैं, उसे ही संविद् या ज्ञान भी कहा जाता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति और लय ज्ञान-रूप में ही होता है। भरत ने कहा है :

वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः ।

अर्थ शब्द का अर्थ अभिधेय नहीं, बल्कि मूल रूप से काव्य जो प्रकाशित करना चाहता है, अर्थ वह है और इस तरह काव्य की अभिप्रेत वाणी रस या सौंदर्य ही है। ध्वनिकार ने भी शब्द और उसके साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक प्रतीयमान अर्थ का उल्लेख किया है, जो अवयवों से परे लावण्य की तरह रहता है।

काव्य-पाठ में इन शब्दों की एक साथ ही कितनी पृथक् क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं, रिचर्ड्स ने अपने काव्यास्वादन-सम्बन्धी सिद्धान्त में इसे बताया है। कविता पढ़ते समय एक ओर तो हम शब्दों को आँखों से देखते हैं, दूसरी ओर मन के कानों से उनकी शब्दात्मक ध्वनिमूलक कल्पना तिरने लगती है। और उच्चारण में वाग्यंत्र के अनुभव की छाया भी उस पर पड़ती है। इन सबके सम्मिलित प्रतिक्रियास्वरूप चित्त में जो एक आलोड़न उपस्थित होता है, वासनारूप उससे जो एक नया मानसिक व्यापार खड़ा होता है, वही काव्यास्वाद का कारण होता है। इसलिए भावनात्मक अर्थ कविता का माध्यम हो, कोई बात नहीं, शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध और साधित उद्देश्य के स्वीकृत स्वरूप के समझने में भ्रम नहीं पैदा होना चाहिए। ध्वनियों के सौंदर्य का भावनात्मक अर्थों के सौंदर्य में स्वाभाविक प्रक्रिया से ही रूपान्तरण हो जाता है। हर्बर्ट रीड ने शब्दों की रूपमयता के लिए कहा है, कविता शब्दों में व्यक्त होती है और शब्द प्रतिमाएँ खड़ी करते हैं, सो कविता में हमें इन दोनों के लिए सतर्क होना चाहिए।

हमारी अपनी धारणा है, कविता रूप-सृष्टि है—वांगमयी मूर्ति। भाषा में अभिव्यक्त होकर भी इसके रूप होता है, भाषा नहीं होती। सृष्टि तो संगीत, चित्र, मूर्ति भी हैं, परन्तु वे रूपाश्रयी न होकर भावाश्रयी हैं; रूपायन तो कविता ही है। सृष्टि-रचना की कोई चीज बोलती नहीं, अपितु हमारे अंतर में अपने को प्रकाशित करके ही सार्थक हो लेती हैं। दृष्टि में उनका अर्थ-बोध है। काव्य की भाषा भी बोलने के बजाय रूप खड़ा करती है, इसलिए कलाकृति को समझना नहीं पड़ता, वह समझ आती है।

हीगेल ने आधार की मूर्त्तता के आधार पर कला की उच्च-निम्न कोटि कायम की थी। किन्तु प्रस्तुत लेखक जब यह कहते हैं कि यह विभक्तिकरण का ग़लत प्रनियम है, क्योंकि प्रयुक्त सामग्री या भौतिक पदार्थों की महत्त्वहीन विभिन्नताओं पर आधारित है, तब वे स्वयं क्यों वैधानिक क्रम बनाने में लग जाते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। माध्यम स्वरूप वे जागतिक उपकरण को नहीं मानते, पार्थिव-जगत् के अंग-विशेष को मानते हैं; कला का प्रथम पक्ष या प्रेरणा सौंदर्य-निष्ठ संवेद्यता को मानते हैं और काव्य या अन्य कलाओं की एक ही स्थापना सौंदर्य मानते हैं, तो ऊपर-नीचे या छोटी-बड़ी जाति या कोटि क्या हो सकती है? प्रत्येक कला सृष्टि है, इसलिए मूल्य और महत्त्व की दृष्टि से उन सबका समान होना जरूरी है, बल्कि सब समान हैं। क्रोचे ने तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी सारी पुस्तकें जला देने की बात कही थी, जिनका ताल्लुक कला के वर्गीकरण से हो।

इन कुछ बातों को छोड़कर विश्लेषण, तर्क और पैनी अंतर्दृष्टि से पुस्तक का अपना मूल्य है और वह एक नई दृष्टि देती है, जो विचारोत्तेजक है।

भारत की कला साधना की कड़ी बड़ी लम्बी है और विभिन्न कलाओं में उसके अभिनव दान की अपनी विशेषता और महत्त्व है। इससे भारतीय जीवन में सौंदर्य-बोध का अवश्य ही महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह प्रमाणित होता है। किन्तु सौंदर्य के स्वरूप का सार्वभौम विवेचन अपने यहाँ एक प्रकार से किया ही नहीं गया। साहित्य के आचार्यों ने वाङ्मय के विस्तृत विवेचन में सौंदर्य की प्रासंगिक चर्चा जरूर की है, पर ऐसी कोई प्राचीन पोथी नहीं पाई जाती जिसमें कि सौंदर्य का सर्वांगीण तथा तात्त्विक विवेचन किया गया हो। भरत से पंडितराज जगन्नाथ तक की आचार्य परम्परा में वाङ्मय का जरूर इतना सूक्ष्म विचार किया गया है, जैसा कि और कहीं नहीं किया गया, किन्तु वह विचार रस, अलंकार, ध्वनि-वक्रोक्ति आदि तक ही सीमित रहा। सबसे पहले वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक फिर पंडितराज जगन्नाथ ने ही रस-ध्वनि के अतिरिक्त सौंदर्य की एक विशेष चित्तभाव के रूप में चर्चा और स्थापना की। इस मान्यता से काव्य-विचार की एक अधिक उदार एवं नई दिशा जरूर खुल गई, परन्तु उस रमणीयता के स्वरूप-विचार का खास कोई आग्रह या प्रयास सामने नहीं आया, जब कि इस गूढ़ एवं आवश्यक विषय पर विदेशों में एक लम्बे अरसे से बड़े-बड़े विचारकों ने बड़े और महत्त्वपूर्ण कार्य किये। आज हिन्दी में वह चेतना और तत्परता अवश्य दिखाई दे रही है, फिर भी फुटकर लेखों के सिवाय सौंदर्य-शास्त्र सम्बन्धी काम की पुस्तक हिन्दी में उल्लेख-योग्य नहीं दिखाई देती। बहुत पहले श्री हरिवंशसिंह शास्त्री की छोटी सी पुस्तक 'सौंदर्य-विज्ञान' निकली थी; उस दिशा में दूसरी यह 'सौंदर्य-शास्त्र' है।

जैसा कि पुस्तक का नाम है, वास्तव में वैसे गूढ़ शास्त्रीय विवेचन का भारी-भरकम स्वरूप तो इसका नहीं है, पर यह एक सुन्दर परिचयात्मक कृति है, जो सौंदर्य-सम्बन्धी नवीन उद्भावनाओं के क्रमिक रूप और इतिहास : रूप और स्वरूप; भौतिक और आध्यात्मिक विचार-परम्परा और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि पर उपयोगी प्रकाश डालती है और कला-सौंदर्य के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में संक्षेप में विचार करती है। सौंदर्य की शास्त्रीय विवेचना सौंदर्य-शास्त्र का काम है और शास्त्र वह है जो वस्तुओं के चेतन स्वरूप और उनके आध्यात्मिक प्रभावों को व्यवस्था देता है। व्यवस्था की मूल बात वास्तव में संगति है—यह विज्ञान और शास्त्र दोनों को मान्य है, भेद दोनों में वास्तविक और आध्यात्मिक दृष्टि का है। प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण का जो साधारण अनुभव है, विज्ञान का लक्ष्य उसी तक जाता है और आन्तरिक अनुभवों के मनन से सत्य की प्रतीति शास्त्र का काम है, क्योंकि विचार के निर्णय की सत्यता अनुभवों की अनुकूलता पर ही प्रतिष्ठित होती है। अतएव शास्त्र की जिम्मेदारी सिर्फ इतनी ही नहीं होती कि वह सौंदर्य के रूप और स्वभाव का निश्चय करे, बल्कि सौंदर्य का आध्यात्मिक पहलू, तज्जात आनन्द-चेतना और उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार-विश्लेषण भी उपस्थित करना होता है। सौंदर्य-शास्त्र से हमें उस व्यावहारिकता और उपयोगिता की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए कि वह कलालोचकों को सौंदर्य के निर्णीत मान दे या रचनाकारों को कलाकृति के निर्माण के बँधे-सधे तौर-तरीके बताए। जो लोग इस उपयोगितावादी दृष्टि से इसे टटोलेंगे, उन्हें निराशा ही मिलेगी। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक या आर्थिक उपयोगिता के बिना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि सौंदर्य की परिभाषा सम्भव न हो, तो कहना होगा कि सौंदर्य-शास्त्र का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः अपने तौर पर सौंदर्य-विवेचन की यह विशेषता एक कठोर उत्तरदायित्व है, जिससे सौंदर्य-शास्त्र पर आज तक जटिलताओं का बोझ बढ़ता रहा है और सौंदर्य एक अजीब गुत्थी होकर सामने आता रहा है। दर्शन और विज्ञान की पद्धतियों पर उसके बहुत ही सूक्ष्म और विशद विवेचन किये गए हैं, फिर भी निर्विवाद और सामान्य मान्य स्वरूप अभी तक परीक्षित है। सबका सार अभी तक तो इतना ही हासिल है कि सौंदर्य सत्य है, किन्तु वह समझने की वस्तु है, समझाने की नहीं।

लेखक ने अब तक का उद्भावित सभी विचार-पद्धतियों की चर्चा से सौंदर्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। पहले अध्याय में तो शास्त्र क्या है और उसके अनुकूल सौंदर्य-शास्त्र क्या है, यह विस्तार से बताने की चेष्टा की है। पुस्तक के रूप, भोग और अभिव्यक्ति, सौंदर्य और आनन्द तथा कला में सौंदर्य—ये तीन अध्याय सुलिखित और अधिक उपयोगी हैं, जिनसे विषय के स्वरूप पर बहुत कुछ रोशनी पड़ती है। रूप के बारे में लेखक कहते हैं, रूप के अध्ययन में हमें यह समझना आवश्यक है कि यह गुण भोग-पदार्थों में निहित होते हुए भी उनसे पृथक् है। भोग्य पदार्थ इसके अवयव हैं और रूप अवयवी है।···व्यापक अर्थ में रूप का अर्थविन्यास, संयोजन, संगठन, संघटन, अथवा व्यवस्था किया जा सकता है जिससे अनेकों में एकता का बोध होता है। ध्वनि में भी रूप होता है, जिससे संगीत का जन्म होता है; गति में भी रूप होता है, जिससे नृत्य की अनुभूति उत्पन्न होती है।

तत्त्वतः बात यह निकलती है कि संगीत सौंदर्य का कारण है। आधुनिक विज्ञान भी रूपगत गुणों को सापेक्षता, संगति, समता और सन्तुलन आदि से ही निर्दिष्ट करता है।

रूपबोध और रूप-रचना में इसी समग्रता से आनन्द या सुख मिलता है। इस अर्थ में संगति वास्तव में विरोध का अभाव है। उसकी आनुपातिक मात्रा को निर्दिष्ट कर सकना तो सम्भव नहीं, परन्तु उसकी निश्चित या आवश्यक पूर्णता में ही सौंदर्य और आनन्द की अवस्थिति है। उस संगति को सन्तुष्टिप्रद संगठन-भर कह सकते हैं। रचना में जिस आनन्द की अभिव्यक्ति को अलौकिक, स्वर्गीय आदि कहने के लोग आदी हैं, उसका वाच्यार्थ ही हकीकत में अभिप्रेत नहीं होता; वह एक ऐसे आविष्कार से अभिप्राय रखता है, जो कि सामान्यतया लोकचक्षु के अन्तराल में होता है और इसीलिए रचनाकार में एक दिव्य दृष्टि मानी गई है।

Poetry alone can tell her dreams;
With the fine spell of words alone can save
Imagination from the sable chain
And dumb enchantment.

यानी मन की असीम आकांक्षा मानो एक माया की कठोर काली जंजीर से बँधी है; स्वप्न को शब्दों में रूप देने की क्षमता केवल कविता में ही है, काव्य ही शब्दों की जादूशक्ति से बन्दी भावों को मुक्त कर सकता है।

यह अज्ञात, अरूप, अजाने को रूप देने का काम प्रत्येक कला करती है, कोई स्वर से, कोई रंग से और वहीं कला का सम्बन्ध सौंदर्य-शास्त्र के विचार से जुड़ जाता है। पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्री इसे मूर्तकरण (ऑब्जेक्टिफिकेशन) कहते हैं। अपने यहाँ अभिनवगुप्त ने इसे 'शारीरीकरण' कहा है। इस रूप से हमें जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह हमारे मन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्वादन क्रिया का नाम है। जैसे अर्थ। अर्थ अपने पार्थिव शरीर या शब्द का बोधक नहीं, बल्कि समझने की क्रिया है। इसी प्रकार वस्तु में प्रतीयमान या प्रत्यक्ष होने पर भी सौंदर्य रसिक की आत्मा की जाग्रत आस्वादन-क्रिया का नाम है।

पुस्तक में अनेक तथ्य और सत्य समाविष्ट हैं, जिनसे हिन्दी-पाठक लाभान्वित होंगे। सौंदर्य एक यथार्थ अनुभव है और वस्तु से लेकर आत्मा के प्रभाव तक उसकी जो लम्बी प्रक्रिया होती है, सौंदर्य-शास्त्र का उद्देश्य उसी को समझाना है, जो एक कठिन ही नहीं, कठोर काम भी है। इस क्षेत्र में हिन्दी में अभी पर्याप्त प्रयास की अपेक्षा है।

संस्कृति की भी चर्चा हमारे यहाँ बात-बात में होती है और हर विषय के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है—धर्म और संस्कृति, शिक्षा और संस्कृति, सभ्यता और संस्कृति, साहित्य और संस्कृति, विज्ञान और संस्कृति—आदि इत्यादि। किन्तु उसके व्यापक और प्रकृत स्वरूप की निश्चित धारणा सहज नहीं। आदिमकाल से लेकर आज तक मनुष्य की जो आशातीत उन्नति हुई है, उसकी मुख्यतया दो दिशाएँ हैं। जीवन की मोटी जरूरतों के बाह्य उपादानों के विकास से यह सभ्यता रूप ले सकी है और आध्यात्मिक विकास के फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-कला की जो शाखा पल्लवित हुई है, वह मनुष्य की संस्कृति की दिशा है। विचार और धर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है।

'कला और संस्कृति' में स्वाध्यायशील मनस्वी लेखक ने न केवल विचारों से स्वरूप की विवेचना की है, बल्कि प्राचीन साहित्य, कला और जीवन की साधना से जो उसका एक अखंड-अनन्त स्रोत प्रवाहित होता आया है, उसका भी बड़ा मार्मिक विवेचन किया है और सत्य की अनेक ज्ञातव्य दिशाओं का सोदाहरण संकेत किया है, संस्कृति और कला के सम्बन्ध में सुलझे और हृदयग्राही विचार व्यक्त किये हैं। संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है, वह जीवन की प्राणवायु है जो उसके चैतन्य भाव की साक्षी देती है। संस्कृति विश्व के प्रति अनन्त मैत्री की भावना है। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन हलचल का लोकहितकारी तत्त्व उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति कला को जन्म देती है। कला का सम्बन्ध जीवन के मूर्त रूप से है। संस्कृति को मन और प्राण कहा जाय, तो कला उसका शरीर है। संस्कृति इसलिए आवश्यक है कि भविष्य में विचारों की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिए आवश्यक है कि यन्त्र की दासता से मनुष्य अपने को बचा सके। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है।

पुस्तक का मूल्यवान अंश विचारों की इन लड़ियों में नहीं, जितना कि लेखक के उन प्रकरणों में है, जहाँ उन्होंने भारतीय सौंदर्य-परम्परा, रूप-विधान की समृद्धि और विकसित सशक्त शब्दावली का मूल्यवान अध्ययन और अनुशीलन उपस्थित किया है। जैसा कि लेखक ने कहा है, बंगाल की आन्धना, राजस्थान के मँहदी माँड़ने, बिहार के ऐंपन, उत्तर प्रदेश के चौक, गुजरात-महाराष्ट्र की रँगोली और दक्षिण भारत के कोलम, इनके वल्लरी-प्रधान और आकृति-प्रधान अलंकरणों में कला की एक अति प्राचीन लोकव्यापी परम्परा आज भी सुरक्षित है। उसे अपनी शिक्षा और सार्वजनिक जीवन में पुनः प्रतिष्ठित करना होगा। इसी प्रकार से वस्त्र, आभूषण, बरतन, उपकरण, चित्र, शिल्प, खिलौने, जहाँ जो सौंदर्य की परम्परा बची है, उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहानुभूति के साथ समझकर पुनः प्रतिष्ठित करना होगा।

पुस्तक में २७ लेख हैं और समय-समय से लिखे गए होने के कारण उनमें एकतारता अवश्य नहीं है, पर सब-के-सब संस्कृति और शिल्प से ही सम्बन्धित हैं। चाहें तो सबको तीन कोटियों में बाँटकर देखा जा सकता है—भावात्मक, विश्लेषणात्मक और शोध अध्ययन। मनु, पाणिनी, वाल्मीकि, व्यास में अध्ययन और नवीन जीवन दर्शन की छाप है। 'राजघाट के खिलौनों का अध्ययन', 'मध्यकालीन शस्त्रास्त्र', 'भारतीय वस्त्र और सजावट' में भारतीय राष्ट्रीय कला, सौंदर्य-साधना और कला-रचना का शोधपूर्ण विवरण ही नहीं, विचारपूर्ण विवेचन भी है। तथ्यों और उनको रखने की युक्ति में नई दृष्टि के आकर्षण से पुस्तक पठनीय और उपादेय है। इससे लेखक के गम्भीर अध्ययन का ही परिचय नहीं मिलता, नियोजन की नवीन दृष्टि भी मुग्ध करती है।[1]

श्रीपतराय

नैराश्य के पुजारी

श्री जैनेन्द्रकुमार हमारे कथा-साहित्य के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। उनकी प्रतिभा अप्रतिम है। एक छोटे उपन्यास 'परख' तथा कुछेक और कहानियों के बल पर जितना यश उन्हें मिला वह अभूतपूर्व है और अनुचित कदापि न था। उनमें बड़ी मौलिकता, विचारों में बड़ी निर्भीकता, उनके लेखन में बड़ी मार्मिकता और शक्ति थी। उनकी शैली का सौन्दर्य सूक्ष्मतम मानवीय मनोभावों में उनकी गहरी पैठ के प्रति प्रेम और आदर जगाता था। उनके विचार गहरे और सुलझे हुए थे। वे एक अनोखी मौलिकता और अभिव्यंजना लेकर साहित्य में आये और खूब चमके। एक समय था कि उनकी शैली के अनुगामी अनेक नवविकसित लेखक थे। इन अनुगामियों की बहुत बड़ी पंक्ति थी। जैनेन्द्रजी सच ही बड़े बुद्धिमान हृदय-धर थे। बुद्धि और हृदय का इतना सफल समागम, सामंजस्य दुष्कर था। उनकी अनेक कहानियाँ, उनके उपन्यास 'परख', 'त्याग-पत्र' सचमुच ही कृतित्व के रत्न हैं। वे हमारे साहित्य की अमूल्य निधि हैं। पर वह सारी चमक, वह सारा चमत्कार गया कहाँ? आज तो उसकी कल्पना भी दूभर है। वे राह शायद वहाँ भटके जहाँ उन्होंने कहानी कहने की कला अथवा क्षमता को गौण मानकर दर्शन के ऊसर मटियाले आकाश में विचरण का स्वप्न देखा। जो वह थे वह कुछ कम स्पृहणीय न था कि वे उसके साथ ही दार्शनिक बनने की आकांक्षा को भी पोषित करते। (साहित्यकार का दर्शन उसका साहित्य क्यों न हो?) वहाँ वे राह भटके तो फिर राह न पाई, न पाई। जीवन में व्यक्ति राह एक ही बार खोता है, क्योंकि फिर और कुछ खोने को बचता ही नहीं।

१. 'कला और मानव'—बाल सीताराम मर्ढेकर
'सौन्दर्य-शास्त्र'—डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
'कला और संस्कृति'—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज यह सोच-सोचकर कलेजा मुँह को आता है कि उनके अन्दर जो कोमल, स्पन्दनशील, विवेक-आप्लावित कलाकार था उसे दर्शन के मिथ्याभिमान ने गला घोटकर मार डाला। आज वह कलाकार दम तोड़ चुका है और लगता है कि अब कोई शक्ति—दैवी या मानवी—उनकी रक्षा नहीं कर सकती। आज हम उनके दो हाल में प्रकाशित उपन्यासों की मीमांसा करेंगे।

उपन्यास शब्द के साथ वास्तविक अनुभव का लगाव आवश्यक है। उपन्यास एक क्रम-बद्ध कथा है जो इतिहास की भाँति चाहे नितान्त घटित न भी हो—होना कुछ आश्चर्यकर भी नहीं है—पर उसका सम्भाव्य होना आवश्यक है। उपन्यास का सबसे सीधा प्रयोजन यह होता है कि वह प्रकृति से लिये हुए चित्रों और दृश्यों के माध्यम से मनोरंजन करे और उन चित्रों अथवा दृश्यों को भावनाजन्य वर्णन में बाँधे। उपन्यास को मैं लेखन-कला का उत्कृष्टतम रूप मानता हूँ। इसे मैं संसार की कल्पना-संस्कृति के आधुनिक युग का सबसे बड़ा उपहार भी मानता हूँ। नाटक, संगीत, चित्र और वास्तु-कला के पीछे विकास का एक बहुत बड़ा इतिहास है जैसा कि उपन्यास के पास नहीं है। उपन्यास का जन्म, ऐतिहासिक मानदण्डों से, अभी बहुत अल्पकालीन है। आज इसका व्यास बहुत बड़ा है और यह सामान्य कथा-उद्घाटन से लेकर दार्शनिक चिन्तन तक को अपनी परिधि में बाँधता है। उसकी सफलता उसमें वर्णित अथवा चित्रित तत्त्वों की मानवीय स्पन्दनशीलता पर आधारित होती है। पर उपन्यास मात्र कल्पना-मिश्रित गद्य नहीं है। वह है मनुष्य के जीवन का गद्य, उसके सम्पूर्ण जीवन को मुखर करने वाला गद्य। इसीलिए केवल ऊपरी चमक-दमक, शैली के चमत्कार से सफल उपन्यास का सृजन नहीं हो सकता; जहाँ केवल शैली का चमत्कार हो वहाँ समझ लेना चाहिए कि और कोई चमत्कार नहीं है। उसके लिए जीवन में गहरी पैठ, गहरी अनुभूति और व्यापक सहानुभूति की माँग पग-पग पर, पल-पल में होती है। और इसीलिए उसका कला-रूपों में इतना ऊँचा और महत्त्वशील स्थान है। और आगे, इसीलिए, उसमें सफलता इतनी दुष्प्राप्य है, उसका लेखन इतना कष्टकर एवं सर्वग्राही। उपन्यास और कला-रूपों से भिन्न इसलिए भी है कि उसमें वह शक्ति है कि जीवन के गोपनीय अन्तरंग—यथा, मानसिक संघर्ष—को भी वह पाठक के सम्मुख उद्घाटित करता है। इस प्रकार यथार्थ का यह चित्रण उससे भिन्न है जो कविता, नाटक, संगीत या चित्र-कला द्वारा होता है। उपन्यास अपनी परिधि में समूचे, अविभाज्य जीवन को समेटता है; कुछ भी नहीं है जो उसकी परिधि से बाहर है—मनुष्य का चेतन, अर्द्ध-चेतन अथवा अचेतन।

जितना पारदर्शी होकर उपन्यासकार का व्यक्तित्व इस माध्यम से सामने आता है उतना सम्भवतः किसी और माध्यम से आ ही नहीं सकता। कारण सरल है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का उपन्यास प्रतिबिम्ब है—किसी तत्त्व-विशेष का नहीं, सम्पूर्ण जीवन का। इससे स्पष्ट है कि उपन्यासकार कुछ भी छिपाकर, बचाकर नहीं रख सकता। और उपन्यासकार के निजी जीवन की सचाई और निश्छलता का उपन्यास से और व्यापक कोई मापदण्ड नहीं है। चाहे अथवा अन-चाहे, उपन्यासकार का समूचा व्यक्तित्व उघड़कर जैसे प्रखर प्रकाश में पाठक के सम्मुख छिद्रान्वेषण की भिक्षा माँगता है। एक बार इस माध्यम को अपनाया नहीं कि फिर इसके अपरिवर्तनीय नियम लेखक पर घटित हुए। कपट, छल, असत्य इस माध्यम के घातक शत्रु हैं। आलोचक चाहे क्षमा कर दे, आँख चुरा ले, पर काल और मानव बड़े कड़े और निर्मम निर्णायक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। लेखक का असत्य, उसका कपट हीरक-कण की भाँति मन की अन्तरतम गहराइयों में भी चमक उठते हैं। कहाँ छिपाये लेखक उनको? अन्ततोगत्वा, किसी उपन्यास की कसौटी उसका वह स्नेह होता है जो वह पाठक में उपजाता है, वैसे ही जैसे मैत्री या सखा-भाव की, या और भी किसी अन्य उस गुण की जिसे परिभाषा की परिधि में बाँधा न जा सके। उपन्यास की तीक्ष्ण मानवता—या और आगे बढ़कर कहें तो उसकी दमघोंट मानवता—से बचना सम्भव नहीं है। मानवता से हम अपने जीवन में घृणा कर सकते हैं, (वह भी निरापद नहीं है) पर किसी कला-कृति में हमने उसको उन्नत करने का प्रयास किया या उस पर मुलम्मा चढ़ाया कि वह कला-प्रतीक धराशायी हुआ।

द्वितीय महायुद्ध से लेकर अब तक के हमारे उपन्यास-साहित्य में एक असीम निराशा परिलक्षित होती है। एक के बाद दूसरा उपन्यास मेरी इस धारणा को पुष्ट करता है। इसके कारण सामाजिक एवं नैतिक हैं। युद्ध के साथ-ही-साथ जीवन की गति में त्वरा उत्पन्न हुई। नौकरियाँ मिलीं, व्यापार बढ़ा, धन का विनिमय बढ़ा; आवश्यक वस्तुओं के मूल्य आसमान छूने लगे; इसकी आर्थिक प्रतिक्रिया भयानक हुई। चोरबाजारी से पैसा सुगमता से आने की राहें खुल गईं। मनुष्य की निकृष्टतम समाजद्रोही प्रवृत्तियों का नग्न रूप समस्त सामाजिक परम्पराओं को चीरकर उभड़ आया और समादृत हुआ। लेखक इस सारी उथल-पुथल में अपने को असहाय, निरीह, निहत्था महसूस करता था। उसके सारे नैतिक मानदण्ड ध्वंस हो गए। अपने जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के लिए उसे पग-पग पर समझौता करना पड़ा। उसके अन्दर की मानवता, विवेक, का ह्रास हो गया। उसने समझा कि इतने बड़े परिवर्तन के सम्मुख उसका अपना कोई बल नहीं है। कुछ भी नहीं है जिसे वह बदल सके या जिसके विरुद्ध उसकी आवाज कारामद हो। इससे उत्पन्न होती है निराशा और कुण्ठा। पुराने नैतिक मानदण्ड ढह गए, नया कुछ अभी तक बना नहीं। निराशा और कुण्ठा, अपने बाह्य और आन्तरिक विश्व के बीच एक भयानक पार्थक्य के अस्तित्व से वह हताश हो उठा। उसे यह तक समझ में नहीं आया कि इन दो विश्वों के बीच एकात्मता, सामंजस्य अथवा पार्थक्य महान् साहित्य के लिए श्रेयस्कर है। इतनी बड़ी विडम्बना के सम्मुख यदि हमारे साहित्यकार दिशा भूल बैठे तो आश्चर्य ही क्या? आश्चर्य यदि है तो केवल इतना ही कि समाज के सबसे प्रबुद्ध वर्ग की हैसियत से वह आज भी मूल्यों के वास्तविक धरातल को नहीं समझते। नहीं समझते कि इसी विसंगति से उनका मोरचा है और उनकी सफलता या अन्यथा इसी के परिणाम पर अवलम्बित है। देश की स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ हमारे जीवन में नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं। काली प्रभुता गोरी प्रभुता से अधिक आक्रामक और नृशंस सिद्ध हुई। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो जन्म से पहले ही हत हो गई। इस नवोदित स्वतन्त्रता की किरणें सामान्य जनता के जीवन को आलोकित न कर सकीं। कुछ परिवर्तन तो अवश्य हुआ पर उससे केवल इतना ही आभास हुआ कि कितने और परिवर्तन की आवश्यकता है। सामाजिक स्वास्थ्य के लिए अभी बहुत रास्ता तै करना था। दार्शनिक नैराश्य ही जीवन का खाद्य, उसका पोषक (अथवा घातक?) तत्त्व बच रहा। यह नैराश्य धीरे-धीरे आत्मा को जड़ बनाता है, चेतना को कुण्ठित करता है। अवसाद से बढ़कर भयंकर मनःस्थिति और क्या होगी? इस नैराश्य से व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर अपने ही दुःखों की लम्बमान छाया को यथार्थ मानने लगता है और यह छाया बढ़ते-बढ़ते महान् आकार धारण कर लेती है, जब चेतना के समस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारों को यह छाया बन्द कर देती है। यहाँ से नितान्त व्यक्तिवादी कला का प्रादुर्भाव होता है। जब ऐसा नहीं होता तब कलाकार दिवा-स्वप्न, तिलिस्म और जासूसी की शरण लेता है। स्पष्ट है कि ये मनःस्थितियाँ स्वस्थ नहीं हैं। इनका कला पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है—वह गूढ़, रहस्यमयी एवं प्रतीकात्मक होकर रह जाती है और जन-जीवन से दूर जा पड़ती है और मरणासन्न तो होती ही है। जीवन तो नैराश्य के दूसरे छोर से प्रारम्भ होता है।

श्री जैनेन्द्रकुमार के दोनों उपन्यास 'सुखदा' और 'विवर्त' इसी अभेद्य नैराश्य के परिणाम हैं। दोनों तिलिस्म हैं—दिवा-स्वप्न तक भी वे नहीं हैं क्योंकि स्वप्न में शायद अधिक विश्वसनीयता हो। यहाँ सौन्दर्य तो क्या, काल्पनिक सौन्दर्य भी नहीं है। यथार्थ से वे बहुत दूर हैं—सामाजिक यथार्थ से भी और वैयक्तिक यथार्थ से भी, क्योंकि न वे समाज के प्रति सच्चे हैं, न व्यक्ति के। (क्या व्यक्ति से अलग समाज के प्रति सचाई सम्भव है?) जीवन कहीं उनमें है ही नहीं। जीवन के चित्र वे हैं ही कब? और इतनी बोझिल, गतिहीन तिलिस्मी कहानी पढ़ना धैर्य की परीक्षा नहीं तो क्या है?

सुखदा क्षयग्रस्त होकर चीड़ के वृक्षों से घिरे अस्पताल में अपनी कहानी लिपिबद्ध करती है। नैराश्य और एकाकीपन से कहानी का आरम्भ होता है। वह सम्पन्न घराने की लाड़ों-पली लड़की है। उसका विवाह उसके माता-पिता के स्तर से थोड़ा उतरकर एक अतिशय सहृदय और विवेकशील पुरुष (मेरी दृष्टि में) से होता है। आर्थिक दृष्टिकोणों के वैमत्य के कारण पति-पत्नी में इस प्रश्न को लेकर अनबन होने लगती है। दोनों के आर्थिक स्तरों का यह अन्तर ही आपसी मनोमालिन्य का कारण बनता है, इस प्रसंग को, यद्यपि, लेखक ने बहुत स्पष्ट नहीं किया है। विवाह के डेढ़ वर्ष बाद एक बालक का जन्म होता है। एक दिन एक बीसवर्षीय युवक एक टहलुए का वेश धरकर आता है और इस परिवार में नौकरी चाहता है। वह रख लिया जाता है। सुखदा को प्रारम्भ से ही शक है कि वह किसी क्रान्तिकारी दल का सदस्य है। एक दिन वह काम छोड़कर चला जाता है और उसके दूसरे दिन सुखदा उसकी तसवीरें अखबारों में देखती है कि वह गिरफ़्तार हो गया है। इस एक घटना से सुखदा का जीवन अचानक, अनायास एक नई दिशा पकड़ लेता है और वह क्रान्ति की ओर मुड़ पड़ती है। (क्या क्रान्तिकारी इतने ही तर्कशून्य, नकारात्मक, जीवन से असन्तुष्ट, ऊबे हुए एवं दर्शनरहित होते हैं?) इस लड़के के लिए सुखदा अपार ममत्व से भर जाती है। और यहाँ से उसके राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ होता है और इस जीवन के साथ ही अपने पति से उसकी वितृष्णा भी बढ़ने लगती है।

इस नये क्षेत्र में सुखदा हरीश के सम्पर्क में आती है जो उदात्त क्रान्तिकारी है और घोर व्यक्तिवादी। वह उससे बहुत प्रभावित होती है। हरीश को सुखदा के पति श्रीकान्त पहले से जानते हैं। सुखदा का अनुमान है कि श्रीकान्त उसके राजनीतिक जीवन से असन्तुष्ट हैं यद्यपि उपन्यासकार ने इसके लिए कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया है। यह अस्पष्टता ही सम्भवतः इस उपन्यास का चरम गुण है। यहाँ से कहानी इस लोक से विदा लेकर तिलिस्म की दुनिया में जा पहुँचती है, क्योंकि जब एक दिन सुखदा हरीश से मिलने जाती है तो वे अपने स्थान से जा चुके होते हैं और उनके स्थान पर सुखदा की भेंट एक मि० लाल से होती है जो हरिदा (हरीश) का परिचय-पत्र लाये हैं। यहाँ से उनके नेतृत्व में काम होने लगता है। ये मि० लाल सुखदा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर आसक्त हो जाते हैं।

इन घटनाओं के बीच सुखदा के पुत्र विनोद को पढ़ने के लिए नैनीताल भेजने का हास्यास्पद प्रसंग भी लाया गया है। उससे मूल कहानी का कोई सम्बन्ध नहीं है। मि० लाल अचानक जापान जाने का निश्चय करते हैं। शायद वहाँ सम्पर्क स्थापित करने के लिए ? और सुखदा को एक बहुत ही निजी पत्र लिखते हैं जिसे पढ़कर सुखदा बस उनकी हो जाती है। (ऐसी घटनाएँ जीवन में क्यों नहीं होतीं ?) तभी पता चलता है कि मि० लाल ने दल के साथ द्रोह किया है और उनको दण्डित होना पड़ेगा।

इसके बाद अकस्मात् हरीश फिर इस कहानी में प्रवेश करते हैं। उनके सम्मुख लाल का मुकदमा पेश होता है। उन पर सुखदा के प्रति आसक्ति का जुर्म है। हरिदा का निर्णय होता है कि सुखदा लाल को दो दिन अपने पास रखे और प्यार करे। (जी, आप विश्वास नहीं करेंगे न !) फिर इसके बाद थोड़ी जासूसी भाग-दौड़ है। सुखदा अपने को लाल के प्रति समर्पित करती है। पर वे उसे छोड़कर चले जाते हैं। इसके पश्चात् फिर एक बार उनका सुखदा से साक्षात्कार हो जाता है; वह तो आत्म समर्पण के लिए आतुर बैठी है। वे उसे पाश में लेकर लगभग तोड़ डालते हैं, वह गल जाती है, उनका उन्माद उतर जाता है। इस बीच हरिदा ने दल भंग करने का निश्चय कर लिया है और वे उसे भंग भी कर देते हैं। कारण, गांधीवाद। सभी सदस्य तितर-बितर हो जाते हैं।

हरीश श्रीकान्त को विवश करते हैं कि वह हरीश को पुलिस के हवाले करके उनकी गिरफ़्तारी के लिए जो ५,०००) का इनाम है (क्या मैंने बताया नहीं ?) उसे ले ले। श्रीकान्त यन्त्रचालित-से यह कर देते हैं और ५,०००) लाकर घर पर रखते हैं। सुखदा के लिए उसके पति का यह व्यवहार अन्तिम प्रहार सिद्ध होता है। वह पति को छोड़कर अन्तिम रूप से अपनी माँ के पास चली जाती है। उससे आगे क्षयग्रस्त होकर अस्पताल पहुँच जाती है और इस अनर्गल कहानी का अन्त होता है, जैसे मन पर से एक भारी बोझ उतर गया हो।

'सुखदा' की कहानी से बहुत-कुछ मिलती-जुलती कहानी विवर्त की भी है। उसकी भी बानगी देख लीजिए। जितेन साधारण माता-पिता का पुत्र है। पर छोटी उम्र में ही यशस्वी बन सका है। एक अंग्रेजी पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करता है। भुवनमोहिनी एक बड़े आदमी की लड़की है। (कैडिलैक गाड़ी हाँकती है !) उसके पिता रिटायर्ड जज हैं और सर हैं। उनकी पत्नी और पुत्र की मृत्यु आसपास हुई जिसके कारण वे जीवन से उदासीन हो गए। अब उनके जीवन का सहारा भुवनमोहिनी बच रही है। भुवनमोहिनी का प्रेम जितेन से है जो उससे विवाह करना चाहता है। पर जितेन ग़रीब है और वह अमीरज़ादी है इस बात को लेकर दोनों में झगड़ा होता है और मोहिनी विवाह करने से इन्कार कर देती है। तदनन्तर वह अपने पिता-मित्र के पुत्र बैरिस्टर नरेशचन्द्र से विवाह की स्वीकृति दे देती है और वह सम्पन्न भी हो जाता है। वह (लगता है) अपने वैवाहिक जीवन में सुखी भी है। इसके चार वर्ष बाद अचानक जितेन एक क्रान्तिकारी के रूप में, एक मेल ट्रेन उलटकर, पनाह लेने मोहिनी के घर आया है। वह घायल हुआ है और चंदेक दिन मोहिनी के यहाँ रहकर स्वास्थ्य-लाभ करता है और मोहिनी उसकी सेवा-सुश्रूषा बड़े यत्न से करती है। पर जब वह जाता है तो मोहिनी के दस-बारह हज़ार के ज़ेवरात साथ ले जाता है, अपने दल में लौटता है और ज़ेवरात को बेचकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नक़द बनाने के बजाय यह नायाब नुस्खा पेश करता है कि भुवनमोहिनी को उड़ा लाया जाय और पचास हज़ार की माँग की जाय। मोहिनी पकड़कर लाई भी जाती है। जब वह जितेन के सामने पेश की जाती है तो अपने पुराने प्रेम के वश हो कातर हो उठती है और उसके पैर पकड़ लेती है जिन्हें वह चूमती है और दया की भीख माँगती है। (मैं समझता हूँ कि इससे अधिक घृणित आत्म-समर्पण का उदाहरण शायद साहित्य में कहीं ढूँढ़ने से भी न मिले!) इस बात से जितेन इतना आर्द्र हो आता है कि अपने पूरे दल का भार मोहिनी पर छोड़ देता है और स्वयं आत्म-समर्पण कर देता है। उसके लिए फाँसी की कोशिशें होती हैं पर शहादत न मिलने के कारण उसे फाँसी नहीं लगती। (और वह हमारे गले की फाँसी बना रहेगा!)

इन दोनों उपन्यासों की कहानी में, चरित्रों में, घटनाओं में, दोनों के मौलिक दर्शन में बड़ा साम्य है यहाँ तक कि वे एक-दूसरे की प्रतिलिपि होकर रह गए हैं। और ये दोनों ही जैनेन्द्रजी के और पहले के उपन्यास 'सुनीता' के विकृत रूप हैं। 'सुनीता' में सौंदर्य भी था, अर्थ भी। एक मूल-भूत सामाजिक समस्या की ओर अच्छा संकेत था। पर उसकी दो धुँधली और विकृत प्रतिलिपियों से हिन्दी-साहित्य को विभूषित करने की भला क्या लाचारी थी? सिवा इसके कि लेखक के पास नया कुछ कहने के लिए न था, पर कुछ कहना उसके लिए नितांत अनिवार्य था। इन दोनों कहानियों को मैंने आपके सम्मुख इसलिए रखा है कि आप देखें कि ये निरे कल्पना-लोक के चित्रण हैं। न वास्तविक जीवन में ऐसी सुखदा होती हैं, न हरीश, न भुवनमोहिनी, न जितेन। क्रांतिकारियों का—जो हमारे देश के गौरव हैं—इससे बड़ा विद्रूप हमारे इतिहास में कहीं और न मिलेगा। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार के परी-तिलिस्म, जासूस-लोक को भी औपन्यासिक जामा पहनाने का अधिकार लेखक को है; पर यथार्थ और कल्पना का इतना कुरूप और हास्यास्पद घोल प्रस्तुत करने का अधिकार और छूट जैनेन्द्र जैसे ख्याति और यशप्राप्त लेखक को भी नहीं है। क्रांतिकारियों का एक आन्दोलन था, एक सामूहिक अस्तित्व था। उसे इस सीमा तक व्यक्तिगत रूप देना मात्र व्यक्तिवादी विचार-धारा का हीन प्रदर्शन है।

पात्रों की दृष्टि से ये दोनों ही उपन्यास मिथ्या हैं। भाषा तक वे वह बोलते हैं जो जैनेन्द्र जी बोलते हैं—जटिल, अस्पष्ट, ऊबड़-खाबड़, कर्ण-कटु। इन पात्रों का स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं; वे तो केवल अपने नियंता के इशारों पर नक्लो-हरकत करते हैं। जब तक पात्र नितांत स्वाभाविक न हों—यहाँ तक कि पाठक को उनके किसी कर्म से आपत्ति न हो—तब तक वे पाठक की सहानुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। उपन्यास और इतिहास के अंतर को मैं पूर्णतः स्वीकार करता हूँ। पर उपन्यास के पात्र को न केवल स्वाभाविक होना पड़ेगा वरन् उसे विश्वसनीय भी होना पड़ेगा। यह पर्याप्त नहीं है कि अमुक कर्म सम्भव है, यह सिद्ध करना होता है कि वह कर्म सामान्य जीवन की परिधि में आ गया है। इन दोनों ही उपन्यासों के पात्र न केवल सामान्य नहीं हैं और विलक्षण हैं अपितु वे जीवित हाड़-मांस के हैं ही नहीं। वे केवल विचार हैं जो मोम के गुड्डे-गुड़िया बनकर किसी बन्द शीशे की बोतल में उछल-कूद करते हैं और पाठक उनका विमूढ़ दर्शक है। या फिर वे अशरीरी विचार हैं जिनके ऊपर लेखक ने घटनाओं को टाँग दिया है। काल-निरपेक्षिता उपन्यास का गुण कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसका सबसे बड़ा बल मानवता है और मानव-जाति काल-निरपेक्ष नहीं हो सकती। मनुष्य जन्म लेता है, युवावस्था को प्राप्त होता है, मर जाता है। इस क्रम को उलट-पलटकर लेखक हमारी श्लाघा का पात्र नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतिकारियों का जो जीवन, उनका जो दर्शन श्री जैनेन्द्रकुमार ने यहाँ प्रस्तुत किया है वह हमारे
ज्ञात इतिहास से मेल नहीं खाता। ये दोनों ही उपन्यास कालातीत और काल-निरपेक्ष हैं। उनसे
पता ही नहीं चलता कि वे हमारे सामाजिक जीवन के किस काल-विशेष के चित्र हैं। हरीश और
जितेन, सुखदा और भुवनमोहिनी को विश्वसनीय यदि बनाना है तो उनको और मांसल बनाना
पड़ेगा। अभी तो वे केवल छायाएँ हैं।

नैराश्य इन दोनों ही उपन्यासों का संदेश है——नैराश्य को यदि यह संज्ञा दी जा सके।
यहाँ तक भी मुझे आपत्ति नहीं है—यदि लेखक को चहुँ ओर अंधकार ही दिखाई देता है तो उसे
अधिकार है कि वह उसे अन्धकार ही कहे। पर जीवन के जिस प्रशस्त मार्ग से होकर वह अन्धकार
तक पहुँचता है उस मार्ग में उसे जो कुछ दिखाई देता है उसे अपने अन्तिम निर्णय अथवा लक्ष्य
से कलुषित करने का अधिकार उसे नहीं है। पर जैनेन्द्रजी ने इन दोनों ही उपन्यासों में असंदिग्ध
रूप से यही किया है। जीवन को इस प्रकार झुठलाना अनुचित है।

'सुखदा' और 'विवर्त' दोनों ही भारतीय क्रांतिकारियों के वर्णन हैं। पर इस क्रांति की
विशेषता शायद यही है कि इनमें वर्णित क्रांतिकारी ही न्यूनतम विश्वसनीय हैं। इनके चरित्-
नायक हरीश और जितेन न शक्तिपूर्ण हैं, न विश्वासोत्पादक। वे केवल सपाट चित्र हैं, उनमें
गोलाई है ही नहीं। वे पूरे मानव नहीं हैं और इसलिए वे उपन्यास के सफल चरित्र नहीं हैं,
और चाहे जो कुछ भी हों।

श्री जैनेन्द्रकुमार निम्न मध्यवर्ग के जीवन के बड़े सफल चितेरे हैं। पर जब वे मध्य अथवा उच्च मध्यवर्ग का चित्रण करते हैं तो सर्वथा कृत्रिम लगते हैं। फिर इन दोनों ही उपन्यासों में इस मध्य और उच्च मध्यवर्ग को चित्रित करने का मोह क्यों?

इन दोनों ही उपन्यासों में नारी का नीचाशय आत्म-समर्पण मन को विषाक्त बना देता है। यह केवल नारी का चरम निरादर नहीं है, यह सारी कला और सत्य का अनादर है। उदाहरण के रूप में 'सुखदा' से ये वाक्य उद्धृत करता हूँ:

मैं उठकर आई और उनके पैरों में बैठकर बोली, 'मुझे मार दो, मुझे मार दो।'

और इसके कुछ और बाद निम्नलिखित वर्णन उपर्युक्त आत्म-समर्पण का भाष्य है:

लगा जैसे जाने क्या ऊपर से उतर गया है, सामने से हट गया है, भीतर से खुल गया है। मानो मैं हल्की हो आई। जैसे मीठी धूप में लजाती, खिलती, इठलाती, हल्की-फुल्की बदली होऊँ।

और 'विवर्त' में इसी प्रबन्ध को कुछ और भद्दा और अश्लील रूप दिया गया है:

मोहिनी ने जितेन के दाहिने हाथ को खींचकर बार-बार मुँह से लगाया, सारे चेहरे से लगाया और सुबकते सुबकते कहा—'जितेन''''जितेन!'

'उठो', जितेन ने कहा—'दरवाज़ा खुला है, बन्द कर दो। इतनी नीच बनती हो! इस में तुम्हें न आए, मुझे शरम आती है।'

इस पर मोहिनी झुककर बूट के तस्मों से कुछ ऊपर पाँव के मोज़ों पर बार-बार जितेन के दोनों पैरों को चूम उठी। (इसके पहले जितेन इसी युवती को अपने पाँवों पर से झटक चुका है और युवकों को आदेश दे चुका है कि वे उसे घसीटकर ले जायँ)।

नारी के निरीह आत्म-समर्पण का यह नग्न चित्र साहित्य में अनजाना है। कहीं यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक की दमित वासनाओं (एवं आकांक्षाओं !) का विस्फोट तो नहीं है ? पर कितना अधम, कितना अशोभन ! जैसे नारी का कोई व्यक्तित्व हो ही नहीं, वह मात्र कठपुतली हो !

नैराश्य के इन पुजारियों के सम्मुख अन्धकार है, निविड़ अन्धकार। पर जीवन कब अन्धकार में पनप सका है ? इसीलिए क्या यह उचित नहीं है कि वे प्रकाश में आएँ जहाँ जीवन है—उद्दाम जीवन, दुर्दमनीय स्फूर्ति ? आशा की यह लौ कब बुझी है ![1]

नरोत्तम नागर

जैनेन्द्र का सोच-विचार

जैनेन्द्रजी हिन्दी के माने हुए लेखक हैं। आप कहानियाँ लिखते हैं, उपन्यास लिखते हैं, और सोच-विचार करते हैं। यहाँ हम जैनेन्द्रजी के सोच-विचार का 'कुछ' परिचय देने का प्रयत्न करेंगे—'कुछ' इसलिए कि जैनेन्द्रजी बात को तीन-चौथाई कहते हैं और एक-चौथाई अनकही छोड़ देते हैं, और कभी-कभी तो अपनी बात को कहने के लिए मौन का, कुछ संकेतों और ध्वनियों का प्रयोग करते हैं जिन्हें या तो वे खुद समझ सकते हैं या फिर···

जैनेन्द्रजी की दुनिया में एक और भी मुसीबत है। इस दुनिया में आदमी बात को नहीं पकड़ता, बल्कि बात आदमी को पकड़ती है। ऐसी हालत में जबकि, बकौल जैनेन्द्रजी, न तो सत्य को पकड़ा और न ही उसे शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, जैनेन्द्रजी का इतना कुछ लिख डालना (चारों पुस्तकों में कुल मिलाकर १२०४ पृष्ठ हैं) सचमुच में एक इतर-मानवीय करतब है। जैनेन्द्रजी, सचमुच, अद्भुत कौशल के धनी हैं। गोगिया पाशा का नाम शायद आपने सुना होगा। आँख पर पट्टी बाँधकर भरी सड़क पर वह साइकल चलाता है। जैनेन्द्रजी का करतब उससे कहीं बढ़ा-चढ़ा है। जैनेन्द्रजी का सोच-विचार, खुद उन्हीं के शब्दों में, **"जैसे आदमी दायें और बायें अपने इन दो पैरों पर चलता है वैसे ही बुद्धि 'हां' और 'नहीं' इन दो पैरों पर चलती है।"** क्या आपने अपने गाँव में, या नगर में, किसी ऐसे हिरना को किलोलें करते या चौकड़ियाँ भरते देखा है जिसके अगले पाँवों में 'हां' की और पिछले पाँवों में 'नहीं' की चक्की के पाट बंधे हों। भगवान् की कृपा से जब पंगु गिरिवर चढ़ सकते हैं और मूक वाचाल हो सकते हैं तो जैनेन्द्रजी की बुद्धि या कल्पना भी पाँवों में 'हां' और 'नहीं' की चक्की के पाट बाँधकर कुलाचें भर सकती है। इतना ही नहीं, बल्कि जैनेन्द्रजी में इन 'पंगुओं' और 'मूकों' से अधिक गुण हैं। 'हां' और 'नहीं' के पाट बाँधकर आपकी कल्पना कुलाचें ही नहीं भरती, वह दुनिया-भर की समस्याओं का हल भी करती है, या इन समस्याओं को कुछ ऐसा रूप देकर छुट्टा छोड़ देती है कि वे हल होने से सदा इन्कार करती रहें : **"सवाल है ही इसलिए नहीं कि शान्त होकर सो जाय, वह सिर्फ इसलिए है कि दूसरे सवाल को जन्म देता है····"**

इससे भी बढ़कर यह कि **"हमको मान लेना चाहिए कि जो शब्दों में आता है, सत्य उसके परे रह जाता है।···"** सत्य शब्दों में पकड़ाई दे या न दे, इसके बावजूद जैनेन्द्रजी

---

१. 'सुखदा', 'विवर्त'—लेखक जैनेन्द्र कुमार; प्रकाशक, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत-कुछ कहते और बहुत-कुछ करते हैं। जैसे—वह परिवर्तनों को अपने ऊपर होने ही नहीं देते बल्कि परिवर्तन करते भी हैं···आदमी अपूर्ण रहने के लिए नहीं है, इसलिए वे पूर्णता की ओर बढ़ते हैं···घटनाओं को स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि घटित भी करते हैं···और वह किसी के (चाहे वह भगवान् ही क्यों न हो) केवल उपादान, केवल उपकरण ही नहीं बल्कि कर्ता भी हैं···चीज़ें बदलती हैं, वे सदा बदलती रही हैं, यहाँ तक ही मनुष्य का सत्य नहीं है, इस-लिए वह ऐलान करते हैं : "हम चीज़ों को बदलते हैं, हम उन्हें बदलते रहेंगे!"

बदलने-बदलाने का यह काम जैनेन्द्रजी इतने सम्पूर्ण रूप में और इतनी खूबसूरती के साथ करते हैं कि उसके बाद और किसी चीज की जरूरत नहीं रह जाती; क्रान्ति का तो निश्चय ही नहीं : "अतः क्रान्ति नहीं की जा सकती। वह नहीं की जानी चाहिए। उसका प्रचार अनिष्ट है···जो उसे करना चाहते हैं, वे बादल को मुट्ठी में पकड़कर उसे बरसाना चाहते हैं।" लेकिन, और इसके लिए जैनेन्द्रजी की तारीफ करनी चाहिए कि, वह संकीर्ण नहीं हैं। बावजूद क्रान्ति से इस दो-टूक इन्कार के, 'भाषा में और व्यवहार में" वह उसे सह सकते हैं, बशर्ते कि उसका "प्रयोग कवि-भाषा में ही किया जाय।' जाहिर है कि जैनेन्द्रजी क्रान्ति से भय नहीं खाते : "न समझा जाय कि मैं क्रान्ति से भय खाता हूँ।" बात केवल इतनी है कि क्रान्ति का कोई क्या करेगा जब कि "वह प्रतिक्षण हो रही है। युद्ध प्रतिक्षण हो रहा है। वह कभी समाप्त नहीं होगा···जीवन निरी मुलायम चीज़ नहीं है। वह युद्ध है···जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझौता नहीं, और कोई अन्त नहीं है।"

सो जैनेन्द्रजी डरपोक नहीं, योद्धा हैं। युद्ध की भाषा में बात करना जरूरी समझते हैं, और यह बताने में अनेक पन्ने उन्होंने काले किये हैं कि "युद्ध की परिभाषा में ही जीवन को देखना क्यों ज़रूरी है!" जैनेन्द्रजी योद्धा हैं, और उनका युद्ध निरुद्देश्य नहीं बल्कि सोद्देश्य है। ग़लत न होगा अगर हम यह कहें कि जैनेन्द्रजी, विचारों की दुनिया में, सर्वहारा के योद्धा हैं। विचारों की दुनिया में सर्वहारा कौन होता है? वह जिसके पास विचार न हों, जो बुद्धि से वंचित हो। बुद्धि के खिलाफ जैनेन्द्रजी ने इतना जमकर युद्ध किया है कि उन्हें सहज ही महावीर चक्र प्रदान किया जा सकता है।

यहाँ एक संस्मरण का उल्लेख कर दें। एक बार जैनेन्द्रजी ने स्वर्गीय प्रेमचन्द्र जी से पूछा—"आप बताइए कि अपने सारे लिखने में आपने क्या कहा और क्या चाहा है।" प्रेमचन्द जी ने बिना देर लगाए उत्तर दिया—"धन की दुश्मनी।" जैनेन्द्रजी से भी अगर यही सवाल किया जाय तो वह उत्तर देंगे—"बुद्धि की दुश्मनी।"

किसी को कोई सन्देह नहीं रह जाय, इसलिए जैनेन्द्रजी और भी स्पष्टता के साथ कहते हैं : "तो एक तरह से या दूसरी तरह से, सीधे या टेढ़े, उघड़ी कि लिपटी वही-वही बात मैंने कहनी और देनी चाही है।" वही-वही बात से मतलब है बुद्धि की दुश्मनी की बात, जो जैनेन्द्रजी के समूचे साहित्य में व्याप्त है, और जिसके लिए "जीवन को युद्ध की ही परिभाषा में देखना" जरूरी है।

सचमुच बहुत ही बड़ा काम जैनेन्द्रजी ने अपने हाथों में लिया है। लेकिन इतना बड़ा काम करते हुए भी जैनेन्द्रजी सराहनीय विनम्रता का परिचय देते हैं। यह बहुत बड़ी बात है। कारण कि बुद्धि का दम्भ और अहम् तो खैर जैसा होता है वैसा होता ही है, लेकिन उस मूर्खता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दम्भ भी कुछ कम नहीं होता जो लाठी लेकर बुद्धि के पीछे पड़ जाती है। जैनेन्द्रजी की खूबी यह है कि वह बहुत ही सादगी और विनम्रता से बुद्धि के खिलाफ लाठी चलाते हैं—"मेरी एक कमज़ोरी है। उससे मैं तंग हूँ। पर वह मुझसे छूटती नहीं है। मूर्ख जानना चाहता है और मेरे साथ मूर्खता लगी है कि मैं जानना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि जाना ज़र्रे को भी नहीं जा सकता।" लेकिन यह तो विनम्रता की शुरुआत-मात्र ही है। इसके बाद जैनेन्द्रजी कहते हैं: "जो जानता है कि वह विद्वान् है ऐसे महापण्डित को सँभालने की शायद साहित्य में ताकत नहीं है।" सो जैनेन्द्रजी ने अपने साहित्य और विचारों की दुनिया को, ऐसे पात्रों और चरित्रों से आबाद किया है जो सब-कुछ जानते हुए भी जानने का जानना क्या होता है, यह नहीं जानते।

जैनेन्द्रजी का प्रेमचन्दजी से घनिष्ठ सम्पर्क था। दोनों एक-दूसरे को खूब चाहते थे, बावजूद इसके कि लाठी लेकर बुद्धि का पीछा करने में प्रेमचन्द जी ने जैनेन्द्रजी का कभी साथ नहीं दिया।

जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी पर अनेक लेख लिखे हैं। इन लेखों में उन्होंने, मुख्य रूप में, प्रेमचन्दजी की एक विशेषता का उल्लेख किया है। वह यह कि प्रेमचन्दजी अनेकों में से एक नहीं थे, अनेकों से अलग नहीं थे, अनेकों जैसे थे, अनेकों को अपने हृदय से लगाने में उन्हें कभी किसी हिचक, दुविधा या 'स्व' और 'पर' के झमेले का अनुभव नहीं होता था। प्रेमचन्द के साथ पाठक, जैनेन्द्रजी के ही शब्दों में, "बहुत सतर्क और उद्बुद्ध होकर नहीं चलता क्योंकि उसे भरोसा होता है कि ग्रन्थकार उसे छोड़कर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा।" इतना ही नहीं, बल्कि और भी "स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द सहज ही अविजेय हैं।" इसी बात को अगर पलटकर जैनेन्द्रजी पर लागू किया जाय तो कहना होगा—"अस्पष्टता के मैदान में जैनेन्द्रजी सहज ही अविजेय हैं।" प्रेमचन्दजी के समान "बात को ऐसा सुलझाकर कहने की आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है······उनकी कलम सब जगह पहुँचती है, लेकिन अंधेरे में भी वह धोखा नहीं देती······अपने पाठकों के साथ मानो वे अपने भेद को बाँटते हुए चलते हैं······प्रेमचन्द में से कहीं कोई वाक्य उठा लें तो जान पड़ेगा कि मानो वह स्वयं सम्पूर्ण है, चुस्त, कसा हुआ, अर्थपूर्ण।"

जैनेन्द्रजी इस स्पष्टता के अयोग्य हैं, ऐसी कोई बात नहीं। यह बात दूसरी है कि उन्होंने शौकिया अपने को 'हाँ' 'ना' की चक्कियों से बाँध रखा है। जैनेन्द्रजी में भी इस स्पष्टता के दर्शन होते हैं, विशेषकर उस समय जब वह घर-गिरस्ती की बातें करते हैं—अपनी घर-गिरस्ती की भी और दूसरों की घर-गिरस्ती की भी, जब वह उस पत्नी की बात करते हैं जिसके घर में खाने वाले सात हैं और कमाने वाला कोई नहीं, जब वह खुद अपने उस जीवन का जिक्र करते हैं जब तेइस-चौबीस वर्ष की आयु हो जाने पर किसी काम में न लग सकना उन्हें बुरी तरह अखरता है, माँ की प्रेमभरी दृष्टि हृदय को कुरेदती है, घर पर रहना दूभर मालूम होता है, अपना अधिकांश समय वह किसी पुस्तकालय या मटरगश्ती में काटते हैं, और अन्त में, नौकरी की खोज में, कलकत्ता की यात्रा करते हैं और जो-कुछ अपने पास था उसे भी गँवाकर वापिस लौट आते हैं।

जैनेन्द्रजी की पहली कहानी की कहानी पहले प्रेम की भाँति मधुर है। एक पुराने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथी विवाह करते हैं और एक भाभी को ले आते हैं। भाभी पढ़ी-लिखी थीं। पत्र-पत्रिकाएँ मँगाती थीं, उन्हें पढ़ती थीं और चाहती थीं कि वे भी कुछ लिखें। दोनों लिखने का कार्यक्रम बनाते। भाभी तो कुछ लिख भी लेतीं, लेकिन जैनेन्द्रजी की समझ में न आता कि क्या लिखें। आखिर एक दिन घटी दिलचस्प घटना को ज्यों-का त्यों कागज पर उतार डाला। जाकर सुनाया भाभी को (घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी)। भाभी लजाई, मगर खुश भी हुईं। यह थी जैनेन्द्रजी की पहली कहानी जो जाने फिर क्या हुई! उसकी एक स्मृति बाकी है जो भारतीय परिवार में भाभी के मधुर अस्तित्व की याद दिलाती रहेगी।

इससे भी मधुर स्मृति चार रुपये के उस पहले मनीआर्डर की है जो जैनेन्द्रजी को, बिना माँगे, अपनी कहानी के पारिश्रमिक स्वरूप प्राप्त हुआ था। एक मित्र थे जो सन् २०-२१ की गरमागरम देशसेवा के बाद सन् २६-२७ तक खाली हाथ हो गए। अब क्या करें? नेतागिरी भूखे पेट तो चलती नहीं। सो एक छोटी-सी पाठशाला में पच्चीस या चालीस रुपये पर अध्यापक बन गए। पाठशाला चाहे जितनी छोटी हो, लेकिन उनके विचार बड़े थे। उन्होंने एक पत्रिका निकाली—छपी-छपाई नहीं, बल्कि हाथ की लिखी। उसमें जैनेन्द्रजी की कहानियाँ भी थीं। इनमें से एक कहानी किसी मित्र ने 'विशाल भारत' में भेज दी जो उसमें छपी। फिर एक दिन 'विशाल भारत' से चार रुपये का पहला मनीआर्डर भी आ गया: "मनीआर्डर क्या आया, मेरे आगे तिलिस्म खुल गया......रुपया मेरे आगे फ़रिश्ते की मानिन्द था जिसका जन्म न जाने किस लोक का है। वह अतिथि की भांति मेरे 'लेख' (कहानी का शीर्षक) के परिणामस्वरूप मेरे घर आ पधारा तो मैं अभिभूत हो रहा।"

इसी के साथ-साथ ऐसा भी हुआ है जब, कोशिश करने पर भी, पैसा पाने की इस खुशी को जैनेन्द्रजी प्राप्त नहीं कर सके हैं। जेब में कहानी और हृदय में पाँच रुपये पाने की आकांक्षा लिए उन्होंने पत्र-कार्यालयों का द्वार खटखटाया है। इस सिलसिले में एक सम्पादक का उन्होंने जिक्र किया है जो "मालिक भी थे, लेखकों को पारिश्रमिक अवश्य और काफी परिमाण में देना चाहते थे, प्रतीक्षा यह थी कि पत्रिका नफा देने लगे।" जैनेन्द्रजी जानते हैं कि 'पत्रिका के नफा देने' तक प्रतीक्षा करने के क्या मानी होते हैं। और अकेले जैनेन्द्रजी ही क्यों, यह एक ऐसी बात है जिसे आप भी जानते हैं, मैं भी जानता हूँ, वे सब लोग जानते हैं जिन्हें दिन-भर भटकने के बाद भी दो जून चैन से रोटी नहीं मिलती।

जैनेन्द्रजी की आकांक्षा थी कि "ऐसे जिओ जैसे कि फूल जीता है, सूरज, चाँद और तारे जीते हैं, अजगर जीता है, पंछी जीता है"......लेकिन जीवन में गरुड़ जाति के ऐसे लोग भी हैं जो आदमी को फूल, सूरज, चाँद और तारों की भाँति नहीं जीने देते, बल्कि उसे कुएँ का मेंढक या अपनी और दूसरे देशों की जनता का शिकारी बनाकर रखना चाहते हैं: "पेट को खाली रखकर आदमी को आसानी से कुएँ का मेंढक बनाया जा सकता है। उसके साथ जोड़ दीजिए भविष्य की चिन्ता......" आदमी को कुएँ का मेंढक बनाने का कारण है: "सिर के ऊपर गरुड़ की तरह झपटते हुए जो लोग इधर-से-उधर उड़ा करते हैं, ऐसे पुरुषों के भोज्य के लिए ज़रूरी है कि कुछ अंधे कुएँ हों जहाँ काई जमा हुआ करे और आदमी मेंढक हुआ करें।"

लेकिन बात केवल अंधे कुँओं का निर्माण करने और आदमी को मेंढक बनाने तक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित नहीं है। के इसबाद : "शास्त्र सिखाते हैं और प्रचार बताता है कि फौज में मौज है और वहाँ मारने और मरने दोनों में पुण्य है।" सो सैनिक छावनियों और अड्डों का जाल फैलता है : "सेनाएँ इसलिए नहीं कि वे देश की रक्षा करें, बल्कि देश इसलिए कि वे सेनाओं का पालन करें।" जैनेन्द्र का वह रूप जहाँ वह अपने देश से, अपने देश की जनता और उसकी बोलचाल से, अपने देश की आजादी, साहित्य और संस्कृति से प्रेम करते हैं, सीधा हृदय को स्पर्श करता है।

बहुत पहले, शुरू के दिनों में ही, जैनेन्द्रजी ने एक कहानी लिखी थी। "इस कहानी में एक पब्लिक लीडर मंच पर आते हैं जो भारत माता की याद अंग्रेज़ी में ही कर पाते हैं।" इस कहानी को एक पत्र में छपने के लिए दिया गया, लेकिन सम्पादकमहोदय ने इस कहानी का इतना संशोधन किया कि वह "शुद्ध तो हो गई, पर मेरी नहीं रही।" लेकिन यह कहानी उस समय लिखी गई थी जब भारत आज़ाद नहीं था। आज़ादी मिलने के बाद भी स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई देता : "हिन्द की धरती पर सुविधापूर्वक यदि वही जी सके जो अंग्रेज़ी जानता है तो यह गुलामी है कि आजादी।"

इसी प्रकार और भी : "सरकार एक बड़ा-सा व्यूह है जिसके ऊपर गांधी टोपी पहने चन्द देशी लोग दीखते हैं, लेकिन उनका मुख्य कलेवर बने हुए नाना अमलदारियों (सर्विसेज़) के वे काले साहब लोग हैं जिन्हें अंग्रेज़ी तौर-तर्ज़ में ढाला गया है। पहले उनका काम राजा और प्रजा के बीच गहरी खाई बनाए रखना था, आज भी वही काम है। उस गहरी खाई के पानी में फाइलें चलती रहती थीं, आज उन फाइलों की गिनती बढ़ गई है। लेकिन वे डोंगियाँ खूबसूरत लाल फीतों की पाल फहराए यहाँ-से-वहाँ और वहाँ-से-यहाँ विहार करती हुई घूमती रहकर नाना व्यूहों की रचना भला कर लें, वे राजा और प्रजा इन दो तटों के बीच किसी सद्भाव की सृष्टि कर उनमें अभेद लाने की सम्भावना को निकट नहीं लातीं।"

'हाँ' और 'नहीं' के पाटों से मुक्त जैनेन्द्र की लेखनी जब दृश्यमान जीवन के यथार्थ को व्यक्त करती अत्यन्त मुखर होकर हमारे सामने आती है : "गुलामी से छूटना है तो धरती से लगकर रहने वालों की ओर हमें मुँह मोड़ना होगा। जो उन्नत थे, समृद्ध थे, मालिक की जगह पर से हमने उन्हें जान-बूझकर हटा दिया है। अमरीका के वैभव पर हम विस्मय प्रकट कर लेंगे, लेकिन मालिक की जगह उसे नहीं बिठाएँगे।"[1]

१. 'मन्थन'; 'काम प्रेम और परिवार'; 'सोच-विचार'; 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'; लेखक—जैनेन्द्र कुमार; प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गजानन माधव मुक्तिबोध

समीक्षा की समीक्षा

साहित्यिक समीक्षा की समस्याएँ जितनी विविध हैं उतने ही उनसे सम्बन्धित दृष्टिकोण भी। दृष्टिकोण के इस वैविध्य के भीतर बहुधा मात्रवैयक्तिक रुचि और संस्कार की शक्ति ही दिखाई देती है, तो कभी यथार्थदर्शी मौलिक चिन्तन भी प्रकट होता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि समीक्षा के क्षेत्र में विभिन्न मन्तव्यों को प्रकट करने वाला साहित्य भी समीक्ष्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया जाय। इसी दिशा की ओर, हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री प्रभाकर-माचवे कृत 'समीक्षा की समीक्षा' एक ऐसा प्रयास है जिस पर विद्वानों तथा साहित्य के विद्यार्थियों का ध्यान जाना जरूरी है। हिन्दी समीक्षा की सीमाओं और उसकी समस्याओं पर उन्होंने न केवल अपनी टिप्पणी प्रस्तुत की है, वरन् सम्बन्धित प्रश्नों को इस प्रकार रखा है कि पाठक को बरबस उन सबके सम्बन्ध में सोचने-विचारने के लिए उद्यत होना पड़ता है।

समीक्षा के क्षेत्र में इतने मत-मतान्त हैं कि वस्तुतः यह विचारों, निर्णयों और निष्कर्षों का दण्डकारण्य है। 'समीक्षा की समीक्षा' का महत्त्व यही है कि वह इस जंगल में कई पगडण्डियाँ बना देती है। पाठक की गन्तव्य दिशा के ज्ञान पर यह निर्भर करता है कि वह अपने लिए इनमें से कौनसा पथ चुने।

कला के क्षेत्र में इतने मतभेदों से माचवे जी स्वयं सुपरिचित हैं; अतएव उन्होंने इस वैचारिक दण्डकारण्य में अनेक पगडण्डियों के जाल का रूप ग्रहण करना ही स्वीकार किया है। इसका एक कारण यह भी है कि उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों को भी दृष्टि में रखना है। फलतः वह अनेक वादों और मतमतान्तरों से उन्हें परिचित कराना चाहता है। इसलिए, माचवे जी ने प्रभूत सामग्री एकत्र तथा व्यवस्थाबद्ध कर दी है। कला-समीक्षा-सम्बन्धी मूल परिकल्पनाओं का उन्होंने पर्याप्त विस्तार से निरूपण किया है तथा मतों का विस्तृत विवरण देने का प्रयास किया है। अगर हम माचवे जी की पुस्तक को विविध मतों का संग्रह अथवा कोष कहें तो अनुपयुक्त न होगा।

प्रस्तुत समीक्षक इस बात के लिए आतुर जान पड़ता है कि पाठक स्वयं अपने विवेक से किसी भी तथ्य, मत अथवा निष्कर्ष को अपना ले। इसी बात को ध्यान में रखकर, उसने दूसरों के लेख-के-लेख अवतरित किये हैं, जो उसके मतानुसार मूल्यवान हैं तथा जिनका अनुशीलन पाठक के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत समीक्षक पाठक का सतत मार्गदर्शी न बनकर उसका सहचर रहने में ही अपने को कृतकार्य समझता है। इसका फल यह होता है 'समीक्षा की समीक्षा' की उपादेयता और भी बढ़ जाती है।

हर क्षमता की अपनी सीमा है। इसलिए, इस कार्य-शैली का भी एक दूसरा पक्ष है, जिसे हम उसकी सीमा कह सकते हैं। पहली बात तो यह है कि इस शैली के अपनाने का एक स्वाभाविक परिणाम तो यह हुआ कि माचवे जी किसी भी एक सिद्धान्त-प्रणाली की विस्तृत रूप-रेखा, उसके मूलाधारों की विस्तृत व्याख्या, किसी दृष्टिबिन्दु का विशद निरूपण और किसी निष्कर्ष का ऊहापोह नहीं कर सके हैं। उन्हें मात्र अपनी टिप्पणियों से ही सन्तोष करना पड़ा है। किन्तु, विषय ऐसा है कि जिसके प्रति योग्य न्याय करने के लिए टिप्पणियों की विशदता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक है। फल उसका यह होता है कि माचवे जी के मतों का औचित्य-मात्र विश्वास का विषय हो जाता है, वैज्ञानिक विवेक का विषय नहीं। कदाचित्, इसका मूल तथा सर्वप्रधान कारण यह है कि इस समीक्षक को अपने मतों का विशेष आग्रह भी नहीं है, अपने व्याख्यानों से वे पाठक की बुद्धि को अनुशासित नहीं करना चाहते। इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि इस समीक्षाकार के लिए कोई भी बात मूलभूत अथवा अन्तिम नहीं है, जिसे दोष भी कहा जा सकता है।

इस कार्य-शैली से दूसरी कमजोरी भी आ जाती है जिसकी तरफ हमारा ध्यान जाना जरूरी है। वह यह है कि यदि लेखक किसी भी प्रश्न पर विविध मतों और अनेक निष्कर्षों की झाँकियाँ प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर वह, अपने अनजाने ही, ऐसे निष्कर्षों और मतों को अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है जो उसे अच्छे तो लगते हैं, किन्तु जिनका निरूपण और विश्लेषण वह सम्यक् रूप से नहीं कर पाता है। बहुत बार इसका परिणाम यह होता है कि वे मत परस्पर-विरोधी-से प्रतीत होते हैं। हम यहाँ एक उदाहरण लेंगे। रामचन्द्र शुक्ल पर लिखे निबन्ध में वे कहते हैं; **"शुक्ल जी इस कारण परम्परा को, छायावाद की पलायनवादी वृत्ति को नहीं देख सके।"**[1] दूसरी ओर वे यह कहते हैं : **"वस्तुतः छायावादी काव्य, नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना और व्यक्ति की महत्त्व घोषणा का काव्य है"**।[2] यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि श्री माचवे के अनुसार छायावादी व्यक्ति की महत्त्व-घोषणा का काव्य है तो उसमें, पूर्वोलिखित मन्तव्य के अनुसार, पलायन-वृत्ति कैसे है और कहाँ है और यदि उसमें 'पलायन वृत्ति है तो उसमें नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना' कैसे आई। स्पष्ट है कि माचवे जी को अपने विचारों की विशद व्याख्या करनी चाहिए थी। हुआ यह है कि छायावाद के सम्बन्ध में यदि एक ओर उन्हें एक विचार भला मालूम हुआ है तो दूसरी ओर उन्हें अन्य विचार भी अच्छा लगा है। फलतः, उन पर उन्होंने अनजाने ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी है। यदि वे विस्तृत ऊहापोह करते, सम्यक् व्याख्या करते तो यह दोष न आता। उनका तरीका वस्तुतः इम्प्रेशनिज्म का तरीका है, जिससे बहुत बार बहुत से महत्त्वपूर्ण तथ्य भी वे सामने रख देते हैं (जैसी कि उनकी भूमिका से स्पष्ट है, जो बहुत अच्छी लिखी गई है) तो उसमें ऐसी असंगतियाँ भी रह जाती हैं। असल बात यह है कि माचवे जी की वृत्ति गुणग्राहक-सर्वसंग्राहक ही अधिक है।

हम उनकी इस वृत्ति का एक दूसरा उदाहरण भी लेंगे। प्रगतिवादियों की आलोचना की प्रारम्भिक प्रस्तावना में उन्होंने हिन्दी के प्रगतिवाद को ऐसी गाली दी है, जिसे हम उनकी अन्धता कह सकते हैं, किन्तु जब वह व्यक्तिगत प्रगतिवादी आलोचकों की तरफ मुड़े हैं तब उन्होंने इतनी अनुदारता नहीं बतलाई है। दूसरे, रामविलास शर्मा पर वे काफी बिगड़े हैं। किन्तु, उनकी शक्ति, उनकी प्रमुख महत्त्वपूर्ण पुस्तकों (जो हमारे समीक्षा-साहित्य की निधि हैं) पर वह मौन हैं। ऐसा क्यों, इतना पक्षपात क्यों? ध्यान में रखना चाहिए कि यदि डॉक्टर रामविलास शर्मा ने लोगों को काटा है तो यह भी सच है कि प्रगतिशीलों के विरोधियों ने प्रगतिवादियों की भयानक रूप से विचित्र भर्त्सनाएँ भी की हैं। ऐसी स्थिति में, सैद्धान्तिक दृष्टि से, माचवे जी को यह

१. देखिए पृष्ठ २३
२. पृष्ठ २६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए था कि रामविलास जी की क्षमताओं का भी विशद निरूपण करते, जैसा कि उन्होंने नहीं किया।

जहाँ माचवे जी प्रसिद्ध समीक्षा-पुस्तकों की आलोचना को छोड़कर व्यक्तिगत आलोचकों पर उतरते हैं, वहाँ वे बहुत अच्छी तरह अपनी बात कहते हैं। उनकी समीक्षा वहाँ खूब अच्छी तरह गले उतरती है। इसका सबसे बड़ा नमूना उनका लेख है शान्तिप्रिय द्विवेदी पर। 'समीक्षा की समीक्षा' में रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, शचीरानी गुर्टू, लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा हिन्दी के अन्य आलोचकों पर लिखा गया है। प्रथम पाँच बड़े निबन्ध हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट निबन्ध रामचन्द्र शुक्ल और लक्ष्मीनारायण सुधांशु पर है। इन दो में माचवे जी ने साहित्य के विविध प्रश्नों की चर्चा की है। इससे माचवे जी के ज्ञान, पाण्डित्य तथा समीक्षा-बुद्धि की शक्ति का पता चलता है, । मुक्त छन्द पर माचवे जी के विचार जानने योग्य हैं। शचीरानी गुर्टू और गुलाबराय के सम्बन्ध में माचवे जी ने जल्दबाजी की है। गुलाबराय पर उनका लेख, उस लेखक पर न होकर, अपने ज्ञान-सामग्री का संग्रह प्रकोष्ठ मात्र ही रह गया है। इन पाँच निबन्धों में माचवे जी साहित्य के मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय और दार्शनिक पहलुओं पर उतरे हैं। किन्तु 'समीक्षा की समीक्षा' इतनी संक्षिप्त पुस्तक है कि उसमें सम्बन्धित प्रश्नों का विस्तृत विवेचन होना असम्भव-सा ही था। माचवे जी के समीक्षा-सम्बन्धी मन्तव्यों पर यह कहा जाता है कि उनका झुकाव रसवादी मनोवैज्ञानिक आलोचना की मूलभूत विचार-धारा की ओर ही अधिक है, यद्यपि उन्होंने यत्र-तत्र प्रगतिवादियों द्वारा व्याख्यात मतों और निष्कर्षों को भी राह चलते अपना लिया है।

'समीक्षा की समीक्षा' साहित्य के विद्यार्थी के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और उपयोगी पुस्तक है। यदि एक ओर माचवे जी नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी से मतभेद रखते हैं तो दूसरी ओर, इधर-उधर से घूमघाम कर, उनकी पंक्ति में बहुत बड़े मध्यान्तर के बाद बैठते-से दिखाई देते हैं। उनमें और माचवे जी में अन्तर यह है कि प्रस्तुत समीक्षक को उन आलोचकों से साहित्य के वस्तुवादी सामाजिक पक्ष का आग्रह अधिक है। किन्तु, उनके मूल दार्शनिक विचार क्रोचे आदि भाववादी सौन्दर्यवादी चिन्तकों के समीप ही जा पहुँचते हैं, नगेन्द्र और नन्ददुलारे के नहीं। माचवे जी भी प्रगतिवादियों के उतने ही विरुद्ध हैं, कदाचित् अधिक विरुद्ध हैं, जितने कि ये लोग।

अन्त में, हम यही कहेंगे कि माचवे जी की 'समीक्षा की समीक्षा' पुस्तक अपनी जगह मूल्यवान् तो है ही, यह उसके लेखक से अपेक्षणीय है कि वे स्वयं एक स्वतन्त्र साहित्यिक व्याख्याधार के नाते हमारे सामने समीक्षा-सम्बन्धी एक मूलभूत ग्रन्थ उपस्थित करेंगे, जिससे कि लोगों के सामने उनकी कला-चिन्तना का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत हो सके।

ले०—प्रभाकर माचवे; प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

खण्ड सत्य और निष्प्राण बीज

होवर्ड वेस्ट नामक एक कम्युनिस्ट, उपन्यास-लेखक और आलोचक का कथन है: "सत्य आज इस शिविर में है या उस शिविर में, और इसके पूर्व कि सत्य की प्रकृति को लेखक जान सके, उसे पहले शिविर चुन लेना चाहिए, क्योंकि सत्य पक्षधर है तटस्थ नहीं।"

प्रस्तुत उपन्यास इसी धारणा की कथात्मक व्याख्या है। इस कथन के अनुसार यदि एक कम्युनिस्ट विचारक प्राचीन और वर्तमान साहित्य का अपनी दृष्टि से विश्लेषण कर सकता है, तो एक अकम्युनिस्ट भी इस कथन का अपने दृष्टिकोण के पोषण के लिए उपयोग कर सकता है। विश्व के इस विराट् रंगमंच पर सत्य के साथ यह ठेलाठेली चिन्त्य विषय है। आज 'शांति', 'मानव एकता', 'सहानुभूति' आदि शब्दों का कोई एक सर्वमान्य अर्थ न होना इसी बात का दुष्परिणाम है। 'पार्टीज़न ट्रुथ' का आशय है 'खण्ड सत्य', और 'खण्ड सत्य' साहित्य के अन्तिम लक्ष्य—आनन्द—का आधार नहीं बन सकता। राजनीति सामाजिक अस्तित्व का प्रधान अंग रही है—आज तो वह एक प्रकार से एकमात्र अंग बन गई है—किन्तु दुर्भाग्यवश राजनीति ने आज साहित्य के गले में जो फाँसी डाल दी है उससे साहित्य-सौंदर्य की निर्जीवता निश्चित है। कहीं-कहीं तो उससे स्वयं मनुष्यत्व को क्षति पहुँचती दिखाई पड़ती है। यदि एक कवि या लेखक किसी वस्तु या घटना को सफ़ेद कहता है, तो दूसरा उसी को मटियाला कहता है। और ताज्जुब यह है कि दोनों ही पक्ष वास्तविक सत्य की दुहाई देते हैं। हो सकता है दोनों के कथनों में सत्य का कुछ-कुछ अंश हो, किन्तु ऐसी परिस्थिति में एक हाथी और सात अंधों की कहानी ही चरितार्थ हो सकती है। साहित्य के सौन्दर्यमूलक और रसपूर्ण चिह्न चिरंतन और शाश्वत हैं, राजनीति क्षण-क्षण परिवर्तनशील और विनश्वर है। युग-वाणी और युग-जीवन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु साहित्य को उन्हीं के खूँटे से बाँध देना साहित्य को ग्राम्य-भाव से देखना है।

कुछ दिन हुए मुझसे कहा गया था कि श्री अमृतराय का 'बीज' हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में 'Landmark' है और वह प्रेमचन्द की परम्परा को बहुत आगे बढ़ा ले जाता है। स्वभावतः मुझे उत्सुकता हुई और मैंने शीघ्र ही उसे पढ़ डाला, और ध्यानपूर्वक पढ़ा। किन्तु जितनी अधिक उत्सुकता हुई थी, उतनी ही अधिक निराशा हुई। और तो किसी दृष्टि से वह मुझे 'Landmark' नहीं दिखाई देता, लेकिन खुल्लमखुल्ला, आद्योपान्त और सचेष्ट रूप में कम्युनिस्ट राजनीति पर आधारित होने के नाते वह अवश्य 'Landmark' कहा जा सकता है। अभी तक जितने पूर्व-'बीज' उपन्यास थे उनमें अन्यथा अकम्यूनिस्ट कथानकों में या तो प्रच्छन्न रूप में कम्युनिज्म की ओर संकेत-भर कर दिया जाता था अथवा कोई एक शिक्षित मध्यमवर्गीय पात्र दबी जबान से 'वर्ग-संघर्ष', 'शोषण', 'पूँजीवाद-साम्राज्यवाद', 'सर्वहारावर्ग' आदि का उल्लेख कर दिया करता था। 'बीज' का लेखक बधाई का पात्र है कि उसने इस राजनीतिक उपन्यास की रचना करके हिन्दी में 'लाल उपन्यासों' की एक विशिष्ट शाखा को जन्म दिया है। किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें 'लैंडमार्क-पन' कहीं नहीं दिखाई देता। उसके द्वारा प्रेमचन्द की परम्परा को विकसित होते हुए कहना भी अनुचित ही है। 'गोदान' में जिस संघर्षपूर्ण जीवन का चित्रण है, वह 'बीज' में नहीं मिलता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बीज', लेखक के अनुसार, जीवन के संघर्ष का बीज है, कम्युनिज्म 'नये जीवन के विराट् अश्वत्थ', 'नये सुख' और 'नये प्रभात' का बीजारोपण करता है। उसी बीज का प्रस्फुटन आगे होगा, जीवन की अवरुद्ध गति उन्मुक्त होगी। उपन्यास में मध्यमवर्गीय शिक्षित नवयुवक सत्यवान अनेक पारिवारिक और सामाजिक संघर्षों के बाद जेल में वीरेन्द्र के साथ स्थापित सम्पर्क के फलस्वरूप कम्युनिस्ट विचार-धारा लेकर बाहर निकलता है। उसकी पत्नी उषा मध्यमवर्गीय नारी की भाँति सुखी और समृद्ध पारिवारिक जीवन के स्वप्न देखती है। सत्यवान् उसे निजत्व की संकीर्ण परिधि से निकालकर उसमें सामाजिक चेतना उत्पन्न करना चाहता है। कुछ दिनों तक दोनों में संघर्ष चलता है। अन्त में सत्यवान के जेल जाने के बाद उषा अपने पति के विचारों का महत्त्व समझती है और वह अपने कुण्ठित एवं अवसादपूर्ण श्लथ जीवन को छोड़कर नया जीवन ग्रहण करती है। उपन्यास में स्थान-स्थान पर साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, राष्ट्रीयता, गान्धीजी का अहिंसात्मक आन्दोलन, मार्क्स का कम्युनिस्ट मेनीफैस्टो, समाज में नारी का स्थान, विवाह सम्बन्धी समस्याओं आदि का उल्लेख हुआ है। नया जीवन पाकर उषा अछूतोद्धार का कार्य करते हुए लाठियों के प्रहार तक सहती है। उषा को नये जीवन का प्रकाश कम्युनिज़्म के कारण ही मिल सका था। स्वयं सत्य वीरेन्द्र से यह प्रकाश लेकर जेल से लौटा था। पुस्तक में कम्यूनिज़्म उस पारस पत्थर के रूप में चित्रित किया गया है जिसके स्पर्श करते ही जंग लगा लोहा सोना बन जाता है। सत्य और उषा के अतिरिक्त पार्वती और प्रमिला का व्यक्तित्व भी कम्युनिज़्म के स्पर्श से निखर उठता है। राजेश्वरी और जमुना उस प्रभात के दर्शन न कर सकी थीं, उनमें कम्युनिस्ट सामाजिक चेतना जन्म न ले सकी थी; इसीलिए उन दोनों के जीवन समाज के सड़े-गले संस्कारों और रूढ़ियों तथा परम्पराओं में ग्रस्त रहते हैं। राज महेन्द्र के हाथों गीदड़ों की मौत मरती है और जमुना घरबार छोड़कर केवल ब्याह करने के लिए भाग जाती है। अमूल्य पार्टी का सेक्रेटरी है और वीरेन्द्र सत्यवान् का गुरु। सभी पुरुष और नारी-पात्र कम्युनिस्ट रूप में आशा का सन्देश देते हैं, अन्यथा नहीं।

लेखक को अपने राजनीतिक विचार रखने का पूर्ण अधिकार है। आधुनिक समय में किसी भी लेखक के ऐसे अधिकार पर आपत्ति नहीं की जा सकती। किन्तु जिस बात की ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ वह यह है कि उपन्यास में 'गोदान' जैसा संघर्ष कहीं नहीं दिखाई देता। जो घटनाएँ घटित हुई भी हैं वे परोक्ष रूप में घटित हुई हैं। पाठकों को उनमें भाग लेने का अवसर प्रदान नहीं किया गया। कला की दृष्टि से यह दोष है। यह दोष 'गोदान' में नहीं है। ब्रैंड ह्रिट्लौक के अनुसार : '...fiction, on the other hand, calls for the personal participation of the reader in one or many dramatic enterprises; contradictions are created, and the protagonist sets forth to resolve them, and the reader joins in these struggles. The reader participates, and thereby is the unique secret of the art of the story-teller, his ability to project his audience into the dramatic situation he has evoked. The measure of his art is how well he does this, the stature of his art depends upon the type of dramatic comprehension and leadership he can offer his audience, the quality of his art depends upon his own relationship to masses of people.' लेखक स्वयं विचार करे वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहाँ तक ह्रिट्लौक के कथन की पूर्ति करता है। उपन्यास में औपन्यासिक रस की निष्पत्ति कम और कम्युनिस्ट राजनीतिक विचार-धारा की अवतारणा अधिक होती है। होना चाहिए था ठीक इसके विपरीत। यही कारण है कि पात्र सजीव न होकर लेखक की विचार-धारा के प्रतीक मात्र बनकर रह गए हैं। कला की दृष्टि से वीरेन्द्र द्वारा भारतीय राजनीति का कम्युनिस्ट विश्लेषण, प्रफुल्लबाबू, अमूल्य और सत्यवान् के वादविवाद, तीन डायरियों के पन्ने और जेल में लाटी-चार्ज होने के उपलक्ष्य में दिये गए भाषण चिन्त्य हैं। और फिर उपन्यास का अन्त बड़ा हल्का हुआ है। वैसे भी कम्यूनिस्ट विचार-धारा के अनुसार उषा को मजदूरों, जो 'spearhead of the revolution' हैं, की बस्ती में जाना चाहिए था, न कि अछूतों की बस्ती में। अछूतों की समस्या प्रधानतः सामाजिक है, न कि राजनीतिक—अंग्रेजों ने भले ही उसे राजनीतिक रूप दे दिया हो। पृ० ५०५-५०६ पर अछूतों के सम्बन्ध में विश्लेषण प्रस्तुत करते समय गान्धीजी पर जो छींटे फेंके हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि किसी समस्या को विशुद्ध पार्टी-दृष्टिकोण से देखने से कितनी संकीर्णता उत्पन्न हो सकती है। गान्धीजी सफल रहे हों या असफल, अछूतों के प्रति की गई उनकी सेवाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखी जायँगी। लेकिन आने वाले भारत में न अछूत रहेंगे न अछूतों की समस्या। वह शायद इतनी ज्वलन्त समस्या भी नहीं रह गई है। इसके स्थान पर लेखक ने 'Democracy Vs. Totalitarianism' और 'Individual Liberty Vs. Mass regimentation of mind' की समस्या पाठकों के सामने रखी होती तो अधिक अच्छा होता। भाषा की दृष्टि से लेखक सफल कहा जा सकता है, यद्यपि व्याकरण-सम्बन्धी, विशेषतः लिंग-सम्बन्धी, अनेक अशुद्धियाँ हैं। आशा है अगले संस्करणों में लेखक उन्हें ठीक कर देगा।

संक्षेप में, कथानक पार्टी-दृष्टिकोण की तंग गली से गुजरता है, अनेक स्थलों पर उपन्यास उपन्यास न प्रतीत होकर पार्टी-पैम्फलैट मालूम होता है, जीवन को लाल रंग के चश्मे से देखा गया है और उसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत नहीं है। केवल अन्तिम अंश में उपन्यास प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। शेष अंशों में संघर्ष-चित्रण, समस्या के प्रस्तुतीकरण आदि दृष्टि से यह उपन्यास, लेनिन के शब्दों का प्रयोग करते हुए, 'Baby-talk' है।[1]

१. बीज—ले० अमृतराय; प्रकाशक—हंस प्रकाशन, इलाहबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० टीकमसिंह तोमर

'वेलि' का नया संस्करण

प्रस्तुत संस्करण के वास्तविक मूल्यांकन के लिए यह समीचीन प्रतीत होता है कि 'वेलि' के इससे पूर्व प्रकाशित अन्य संस्करणों का भी संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दे दिया जाय। इसीलिए नीचे उनका उल्लेख किया जा रहा है।

अंग्रेजी और हिन्दी भाषा-भाषियों के हितार्थ १९१७ ई० के लगभग डॉ० एस० पी० टैसीटरी ने तीन उपलब्ध प्राचीन टीकाओं तथा कई चारण-कवियों और विद्वानों की सहायता से एक संक्षिप्त भूमिका, मूल कविता तथा अंग्रेजी नोटों के सहित एशियाटिक सोसाइटी ऑव-बंगाल से 'वेलि' का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित कराया था। यद्यपि इस संस्करण की अपनी सीमाएँ थीं, तो भी पांश्चात्य विद्वान् का इस दिशा में अपने ढंग का एक अनूठा एवम् स्तुत्य प्रयास था।

इसके अनन्तर १९३१ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, प्रयाग ने 'वेलि' का एक अधिक महत्त्वपूर्ण संस्करण प्रकाशित किया। इस संस्करण के अनुवादक महाराज श्री जगमालसिंह जी और संशोधक तथा सम्पादक टा० रामसिंह एम० ए० एवम् पण्डित सूर्यकरण पारीक एम० ए० जैसे ख्यातिलब्ध डिंगल के अधिकारी विद्वान् थे। इस संस्करण के आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका में महाराज पृथ्वीराज के जीवन-चरित्र, व्यक्तित्व, भक्ति भावना, वीरता आदि गुणों, राजस्थानी भाषा और साहित्य, वेलि की प्राचीन टीकाओं, वेलि के आधार-स्तम्भ ग्रन्थों, ग्रन्थ-नामकरण, कवि की मौलिकता, रस-विवेचन, ऋतु-वर्णन, निर्माण-काल, ग्रन्थ-माहात्म्य, आध्यात्मिक सन्देश, डिंगल छन्द और भाषा, व्याकरण, अलंकार, वयण-सगाई आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार एकेडेमी का उक्त संस्करण सभी दृष्टियों से अधिक उपयोगी एवम् महत्त्वपूर्ण है।

इसके पश्चात् श्री आनन्द प्रकाश जी दीक्षित द्वारा सम्पादित तथा विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'वेलि' का यह संस्करण हिन्दी भाषा-भाषियों के हितार्थ प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् सम्पादक ने इस ग्रन्थ के आरम्भ में लगभग १९२ पृष्ठों की भूमिका में पृथ्वीराज का जीवन तथा उनकी साहित्य-सेवा, वेलिकार की पूर्वकालीन तथा समसामयिक स्थिति, वेलि पर पूर्ववर्ती काव्य का प्रभाव तथा स्वरूप-विधान, राजस्थानी-साहित्य तथा वेलि, वेलि का नामकरण एवम् वेलि-ग्रन्थों की परम्परा, रचना-काल, वेलि की कथा का आधार, वेलि की कथा, वेलि का काव्य-स्वरूप, रस, नखशिख, अलंकार, शब्द-प्रयोग, वयण-सगाई, वेलियो गीत, प्रकृति-चित्रण, वेलिकार की बहुज्ञता, वेलि में भक्ति का स्वरूप, भागवत, नन्ददास के रुक्मिणी-मंगल, नरहरि कृत रुक्मिणी-मंगल, खुराजसिंह कृत रुक्मिणी-परिणय तथा मराठी रुक्मिणी-हरण काव्य से वेलि की तुलना आदि समस्याओं की सविस्तार व्याख्या की है।

जिस प्रकार एकेडेमी वाली प्रति के सम्पादकों ने डॉ० टैसीटरी के संस्करण का पूर्ण स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है, उसी प्रकार श्री दीक्षित जी ने एकेडेमी के संस्करण से पूर्ण लाभ उठाया है। भूमिका, मूल-पाठ, अर्थ आदि सभी पर आदि से अन्त तक एकेडेमी के संस्करण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की छाप स्पष्ट एवम् प्रधान रूप से वर्तमान है। इसके अतिरिक्त सम्पादक ने टॉड, मोतीलाल मेनारिया, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल आदि विद्वानों के ग्रन्थों से भी सहायता ली है।

यह सब होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि श्री दीक्षित जी ने इस ग्रन्थ के सम्पादन-कार्य में स्तुत्य परिश्रम किया है। साथ ही कतिपय स्थलों पर नई सूझ बूझ का भी परिचय दिया है। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने वेलि-सम्बन्धी कुछ समस्याओं के सम्बन्ध में नवीन विचार-धारा और नवीन निष्कर्ष पाठकों के समक्ष रखने की भी चेष्टा की है। सम्भव है कि कुछ विद्वान् समालोचक यत्र-तत्र उनके मत से सहमत न हों, तो भी उनका यह सम्पादन कार्य एक नवीन दृष्टिकोण का परिचायक है, इसमें किसी को आपत्ति न होगी।[1]

जनार्दन मुक्तिदूत

सात रेडियो एकांकी

प्रस्तुत पुस्तक 'लहर और चट्टान' में श्री विश्वम्भर मानव के सात एकांकी नाटक संग्रहीत हैं। यह सारे नाटक जैसा कि उनके विधान से स्पष्ट है रंगमंच के लिए नहीं बल्कि रेडियो-प्रसारण के लिए लिखे गए हैं। मानव जी के नाटकों में यही वैधानिक विशेषता (Technical forte) है।

इन नाटकों में 'चट्टानें' और 'प्रेम का बन्धन' सफल नाटक हैं और 'जीवन-साथी' एक सुन्दर प्रहसन, अतएव पहले इन तीनों पर ही विचार करूँगा।

'चट्टानें' की कहानी अशोक नामक एक कवि के गिर्द घूमती है। उसके पास उसकी प्रेयसी अमिता आती है जो अब किसी प्रसिद्ध और धनी वकील की पत्नी है। उसके पति और उसके बीच कोई स्वाभाविक आकर्षण (Tempramental affinity) नहीं। वह वैवाहिक जीवन से विद्रोह करना चाहती है और इसीलिए वह गृह-त्याग करके अशोक के पास चली आती है। किन्तु अशोक परमादर्शवादी है। वह माँसलता को हेय समझता है और अमिता को अध्यात्म का उपदेश देता है। अमिता वापस लौट जाती है। पर इस बीच अमिता के भृत्य 'माधो' और अशोक की दासी 'फूल' में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। खैर, रहता तो उनका प्रेम भी असफल ही है पर उनके सम्वादों द्वारा चट्टानों की कठोर ट्रेजेडी एक सुन्दर सुखान्त के पुट से परिपूर्ण हो उठती है। गम्भीर विषयक नाटकों में ऐसे पात्रों का आविष्कार एक सफल प्रयोग है। मुख्य विशेषता तो चट्टानों का कथानक है जिसे अन्त से आरम्भ (Flash-back) करने के विधान के कारण उसमें और भी तीखापन आ गया है।

'प्रेम का बन्धन' भी नया प्रयोग है। गो यह एकांकी समस्यामूलक कतई नहीं और

---

१. वेलि क्रिसन रुकमणी री; सम्पादक—श्री आनन्द प्रकाश दीक्षित; प्रकाशक—विश्व-विद्यालय प्रकाशन गोरखपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाटककार के जरा से चाहने पर ही इसमें 'तलाक' की समस्या आसानी से खड़ी की जा सकती थी पर ज्यादा सोचने पर यह बहुत दूर भी नहीं मालूम होती। पर नाटक के अन्य अंग ही काफी सुन्दर हैं। समस्या की जरूरत भी नहीं है। खास तौर से सम्वादों में घरेलूपन की चाशनी है जो नाटक को आदि से अन्त तक पढ़ने पर विवश कर देती है। प्रत्येक युवती का चरित्र-चित्रण काफी मँजा हुआ है। इस प्रकार के नाटक इतने सरल और स्वाभाविक ढंग से इधर काफी दिनों से कम ही पढ़ने को मिले हैं। हाँ, उर्दू में ऐसे बहुत नाटक लिखे गए हैं।

'जीवन-साथी' एक प्रहसन है जिसमें चार कुमारियाँ चार युवकों से समझ-बूझकर विवाह करती हैं। एक युवक कवि है जिसकी पत्नी सदा 'उसकी (स्त्रियों में) लोकप्रियता को' सन्देह की दृष्टि से देखती है। दूसरा धनी व्यक्ति है जो सुख को सोने की तुला पर तोलता है। तीसरा जोड़ा साधारण गृहस्थ होकर कहीं गर्क हो जाता है। सच्चे अर्थों में चौथा युवक और उसकी पत्नी परम सुखी हैं। पति साधारण क्लर्क है पर उसे सुख की कुंजी मालूम है। वास्तव में सुख की कुंजी सन्तोष है। यही नाटक का सार है।

बाकी चार नाटक '**संकीर्ण**', '**दो फूल**', '**भीगी पलकें**', '**सन्देह का अन्त**' बहुत ही साधारण कोटि के नाटक हैं या ध्वनिरूपक हैं जिनका उपयोग रेडियो पर 'नाटकों के लिए नियत' समय को भरने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि रेडियो के अत्यधिक प्रचार के बाद हिन्दी जगत् में रेडियो-नाटकों या ध्वनि-रूपकों की बाढ़-सी आ गई है। प्रतिवर्ष सारे केन्द्रों के लिए लगभग चार सौ छोटे-बड़े एकांकी लिखे जाते हैं, पर इन नाटकों में कठिनाई से ही दस-पाँच अच्छे बन पाते हैं, बाकी नाटकों का स्तर रेडियो अधिकारियों के बुद्धिस्तर से भले ही मेल खाता हो, कम-से-कम उन्हें नाटक-शास्त्र की कसौटी पर कस सकना कठिन है।

ये चार नाटक रेडियो की माँग पूरी करने के लिए 'कट टू आर्डर' (cut to order) लिखे गए हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि नाटककार अपने गहन उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है।

उदाहरण के लिए—

'दो फूल' एकदम अविश्वनीय और तीसरे दरजे की प्रेम-कहानी है। चम्पा एक धनी पिता की पुत्री है और वह घर के नौकर गुलाब से प्रेम करती है (वर्ग-संघर्ष की प्रतीक न हो कहीं यह घटना?)। पिता काफी क्रोध के बाद गुलाब को दामाद बनाना स्वीकार तो कर लेते हैं पर शर्त यह रखते हैं कि वह हजार रुपये मासिक कमाने लगे। सो भी कुल एक वर्ष की मियाद में (यह भारत है जहाँ क्लर्क की पीढ़ियाँ १०० रुपये पर जीवन समाप्त करती हैं)। गुलाब अपना भाग्य आज़माने बम्बई आता है और वह एक अभिनेत्री के घर नौकरी कर लेता है। अभिनेत्री फ़िल्मी ढंग से गुलाब को प्यार करने लगती है और उसे पार्श्वगायक नायक और अन्त में हजार रुपये मासिक का कलाकार बनवा देती है। वर्ष के अन्तिम दिन गुलाब चम्पा के पास पहुँचता है और उसके पिता को कन्ट्रेक्ट दिखाता है पर उससे कह दिया जाता है कि चम्पा का विवाह हो चुका। गुलाब विष खाकर मर जाता है। चम्पा भी उसी विष से फ़िल्मी ढंग से मर जाती है और तब तक जीवित रहती है जब तक वह पिताजी से यह वचन नहीं ले लेती कि उसे और गुलाब को एक ही चिता पर जलाया जाय। इस तरह **दो फूल** आधुनिक शीरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़रहाद बन कर रह जाता है। फ़रहाद पहाड़ तोड़कर नहर लाता है पर मज़ाक में शीरीं की मृत्यु सुनने पर उसी फाँवड़े को (जिससे वह पहाड़ तोड़कर नहर लाया है) सर में मारकर मर जाता है।

इसी प्रकार 'भीगी पलकें' में नायिका की मृत्यु यद्यपि होती है वृक्षों के गिरने से (आँधी भी सुविधानुसार आ जाती है) पर सुबह जब चौकीदार उसकी लाश को सड़क के किनारे पड़ा पाता है तो उसे वृक्ष द्वारा लगे घाव नहीं दिखाई देते, पर भीगी पलकें दिखाई दे जाती हैं और वह कहता है कि मालूम होता है कि बेचारी रोते-रोते मरी है तभी तो इसकी पलकें भीगी हैं।

यह सातों नाटक मूल में विभिन्न प्रिय कहानियाँ हैं। प्रेम से कोई एतराज़ या परहेज़ थोड़े ही है और न प्रेम-कहानी के माध्यम द्वारा कुछ कहना अस्वीकार। लेखक चाहे जैसे भी गतिशील जीवन प्रस्तुत करे। हमें उसका स्वागत करना चाहिए। बोतल के पुराने लेबिल से चौंक कर अन्दर की नई शराब छोड़ने के पक्ष में मैं नहीं हूँ और इसीलिए तीन सुन्दर नाटकों में एक नाटक ऐसा भी है जिसका पुराना लेबिल देखकर आम पाठक उसे छोड़ देना चाहेंगे।

अपनी दुर्बलता को भूमिका की ढाल से छिपाना कम-से-कम मुझे पसन्द नहीं है। मानव जी ने भूमिका में लिखा है:—

"जीवन को क्षति पहुँचाकर कुछ भी करने के पक्ष में नहीं हूँ (बिरादर! यह भारत अमेरिका नहीं।) अतः दुःख में मुझसे कुछ भी करते नहीं बनता...।" "हर्रे लगे न फिटकरी रंग चोखा" साहित्यकारों के लिए यह कहावत पाश्चात्य देशों में भी कभी लागू न हो सकी। साहित्य के लिए साधना की नितान्त आवश्यकता है।

भूमिका ही में 'दो फूल' के विषय में मानव जी ने लिखा है कि वह एक सत्य घटना के आधार पर लिखा गया है। हमें आपत्ति क्यों हो। आप कहीं से प्रेरणा ग्रहण करें किन्तु सत्य घटनाओं को ज्यों-का-त्यों रख देना सामयिक (Journalese) महत्त्व की वस्तु हो सकती है कला की नहीं। कला फ़ोटोग्राफ़ी को नहीं कहते। कैनवेस पर कूची लेकर सृजन करने को कहते हैं। इस तरह बाकी के चार नाटकों के लिए मैं भूमिका की कोई सिफारिश स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। मैंने नाटकों को पढ़ा है और मैंने उन्हें भूमिका की कसौटी पर नहीं बल्कि नाटक-शास्त्र की कसौटी पर कसा है। तीन खरे उतरे चार खोटे। इसमें लेखक को कोई शिकायत न होनी चाहिए।

१. लेखक—विश्वम्भर मानव एम० ए०; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विष्णु स्वरूप

सृष्टि का रथ

आदिवासियों के एक वर्ग—गोंडों के जीवन का विषय—जिसकी एक झलक श्री देवेन्द्र-सत्यार्थी, अपनी तेरह वर्ष में लिखी गई पहली कहानी 'अन्न देवता' में प्रस्तुत कर चुके थे, अनुभव और चिन्तन के द्वारा वृद्धि पाकर एक नये और बड़े कैन्वेस पर 'रथ के पहिये' के रूप में सात वर्ष के लम्बे परिश्रम के परिणामस्वरूप अंकित हुआ है।

उनकी दृष्टि इन आदिवासियों की जीवन-प्रक्रिया में एक 'सांस्कृतिक और कलात्मक थाती' के दर्शन कर पाई है। उनकी आशंका भी यथार्थ है कि कहीं अवहेलना के कारण वह जीती-जागती संस्कृति मोहनजोदड़ो की सभ्यता की भाँति जमीन के नीचे न दब जाय। यही आशंका प्रस्तुत उपन्यास की आधार-शिला है। किन्तु सत्यार्थी जी के अनेक निबन्धों और कहानियों की भाँति प्रश्न को केवल छूकर, किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँचने के बजाय भावनामय भूलभुलैयों में खो जाने की प्रवृत्ति उनकी इस रचना में भी स्पष्ट है।

कथानक का मोहनजोदड़ो से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि गोंड-जीवन के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए पाठक के मन में आधार-भूमि तैयार की जा सके और तुलना द्वारा यह समझाया जाय कि 'गोंडों की तहजीब मोहनजोदड़ो से भी पुरानी कही जा सकती है। जिन्दा इन्सानियत एक उदास कब्रिस्तान से कहीं बढ़कर होगी, लेकिन इसके लिए उपन्यास के आरम्भ में काफी दूर तक मोहनजोदड़ो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए, वहाँ के क्यूरेटर के चरित्र को उभारने का प्रयास, (जिसका कि आगे के कथासूत्र से सम्बन्ध नहीं रह जाता), पाठक के मन में यह भ्रम उत्पन्न करने के अतिरिक्त कि उपन्यास का कथानक कहीं मोहनजोदड़ो पर ही तो आधारित नहीं है, अन्य कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं करता। इसी प्रकार धनकुण्डी के मालगुजार की डायरी के उद्धरणों में आवश्यकता से अधिक उलझाव कथाप्रवाह में व्यर्थ रुकाव उत्पन्न करता है।

गोंड-जीवन के विकास के अपने मानसिक आदर्श को लेखक ने दो प्रधान-पात्रों में मूर्त किया है। आदिवासियों के प्रति देश के कर्तव्य एवं उनके कलात्मक विकास तथा आर्थिक उत्थान के लिए आवश्यक कार्य-पद्धति की कल्पना का प्रतिनिधित्व एक आदर्शवादी युवक 'आनन्द' करता है; और स्वयं आदिवासियों की आन्तरिक चेतना का प्रतिनिधित्व एक सम्वेदनशील गोंड युवती 'रूपी' करती है। इस प्रकार के पात्र यथार्थ न होकर यथार्थ की सम्भावना ही हो सकते हैं, फिर भी दोनों पर्याप्त व्यक्तित्वपूर्ण हैं। वस्तुतः 'रथ के पहिये' के सभी पात्र विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न दीख पड़ते हैं, और कथारस के अभाव की बहुत-कुछ पूर्ति इनके द्वारा हुई है। शिक्षिता गोंड-युवती रूपी के सहयोग में सक्रियता ही नहीं, मधुरता भी है—क्रमशः विकसित होते हुए प्रेम की मधुरता। साथ ही उसके कलाकार मित्र सोम का एक मान्य गोंड-कन्या फुलमत के साथ विवाह में परिणत होने वाला मधुर सम्बन्ध, दोनों के द्वारा कथानक के वातावरण में सरसता उत्पन्न की गई है।

कथासूत्र के समानान्तर चलने वाला बूढ़े चुन्नूमियां का चरित्र भुलाया नहीं जा सकता। अपनी छब्बेदार दाढ़ी पर हाथ फेरकर हर बात में अल्ला पाक की पसन्द-नापसन्द की इनकी खोज कम मनोरञ्जक नहीं। क्रूर मालगुजार धनपाल का चरित्र लालाराम की सरलता के परिपार्श्व में काफी उभड़कर आया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर के हिन्दी कथा-साहित्य में लोक-तत्त्व के समावेश की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है, जो कि कलाकार के जीवन से निकट सम्पर्क को सूचित करती है। लोकजीवन के आशा-विश्वासों के साथ ही प्रदेश-विशेष के रहन-सहन, रीति-रिवाज, चिन्तन पद्धति आदि विभिन्न जीवन-प्रक्रियाओं का यथार्थ चित्रण, कथानक को ताजगी देता है। नागार्जुन के 'बलचनवा' और शिवप्रसाद 'रुद्र' के 'बहती गंगा' नये उपन्यासों में इस दृष्टि से मुख्य हैं। 'रथ के पहिये' इस आधार पर निश्चय ही काफी आगे बढ़ा हुआ है। यद्यपि यह बहुत-कुछ कथानक के अनुरोध-मात्र से सम्भव हुआ है, किन्तु सत्यार्थी जी द्वारा आदिवासियों के और विशेष रूप से करंजिया प्रदेश के गोंड-जीवन के व्यापक एवं सूक्ष्म निरीक्षण का प्रतिफलन ही इसमें हुआ है। उपन्यास आरम्भ करने से पूर्व लेखक ने साहित्यिक और कलात्मक तकाजे को मानकर उस जीवन का कष्ट उठाकर पुनः विशेष निरीक्षण किया था और इसी कारण वहाँ की प्रादेशिकता को उपन्यास में मुखर कर पाया है। लामसेना की विचित्र प्रथा (वर द्वारा कन्या के निर्दिष्ट मूल्य को पूरा करने के लिए विवाह के पूर्व एक निश्चित अवधि तक कन्या के पिता की सेवा करना), करमा नृत्य, सर्पदंशन के विष को उतारने की अद्भुत प्रणाली आदि के चित्रण ने 'रथ के पहिये' के प्रादेशिक रंग (regional element and local colour) को काफी गहरा बना दिया है। फिर भी ऐसे स्थानों पर हृदय को छू सकने वाली मार्मिकता बहुत कम अंशों में ही उत्पन्न हो पाई है।

सत्यार्थी जी ने आदिवासियों की सांस्कृतिक प्रगति को मानव-मात्र की सांस्कृतिक प्रगति के एक चिरन्तन गतिशील सत्य के परिपार्श्व में देखने का प्रयास किया है। रथ के पहिये उसी गतिशीलता के प्रतीक हैं। इसकी प्रेरणा का आधार वह गोंड-गीत है जिसमें चन्द्रमा और सूर्य के पहियों वाले उस चिरन्तन सृष्टि-रथ की व्यापक कल्पना है जिसमें दिन और रात के बैल हैं और मानव-पुत्र जिसका सारथी है। लेखक उसकी गतिशीलता के प्रति पूर्व आस्थावान है—"**रथ नहीं रुक सकता, कोई रथ से उतर जाय, चाहे कोई रथ पर सवार हो जाय, पहिये चलते रहें, पहिए रुकने न पाएँ, कभी हौले-हौले, कभी तेज़-तेज़।**" इसीलिए सारे उपन्यास के वातावरण में जैसे उन पहियों की ध्वनि परिव्याप्त है—'**रीरीना, रीरीना राजा रीरीना।**'[1]

मार्कण्डेय

चाँदनी रात और अजगर

अश्क की रचनाओं के सम्बन्ध में द्विविध प्रतिक्रियाएँ रही हैं। जिनके मन में रूप का अत्यधिक आग्रह है वे मुँह बिचकाकर विमुख हो जाते हैं और जो वस्तु के प्रेमी हैं (कविता और समाचार-पत्र के सम्पादकीय में अन्तर न मानने वाले) वे झगडा खड़ा कर देते हैं, क्योंकि अश्क की प्रस्तुत पुस्तक 'चाँदनी रात और अजगर' का प्रकाशन भी हिन्दी कविता के इसी विवादग्रस्त युग में हुआ है।

---

१. रथ के पहिये; लेखक—देवेन्द्र सत्यार्थी; प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक में खासे सुरुचिपूर्ण कवरपृष्ठ और फ्लैप से लगे हुए वातायन से झाँकती हुई चाँदनी के साथ उदास रोगी-व्यक्ति के रेखा-चित्र के बाद कवि का एक भव्य फोटो है और उसके बाद दो भूमिकाएँ। पहली स्वयं अश्क की है जो इनकी अन्यान्य भूमिकाओं की तरह दम्पती चर्चा से बोझिल होते हुए भी अपनी कविता की बात को बहुत हद तक साफ करती है। हाँ, आत्मिक वस्तुपरकता या व्यक्तिवादी समाजवाद का जो नया रूप इधर बहुतेरी प्रगतिशील कृतियों या कृतिकारों में परिलक्षित हुआ है और जिसने कृतित्व को ओछा और हलका प्रचारवादी बनाया है, का संकेत हमें इस भूमिका में भी मिलता है। दूसरी भूमिका खासी जोरदार शब्दावली में अन्धाधुन्ध लिखी हुई तारीफ एवम् परिचय ही मानी जाय तो इससे शायद कवि और आलोचक दोनों को प्रसन्नता होगी। वैसे चौहानजी ने कविता की विषय-वस्तु और शैली दोनों की चर्चा की है। विषय-वस्तु में जनवादी होना ही काफी है ? पर शैली के लिए उन्होंने 'फैज', 'पंत' और 'महादेवी' की शैलियों से प्रेरणा ग्रहण करके छन्द में नये प्रयोगों की भी सराहना की है। ऐसी अवस्था में छन्द-विधान को संश्लिष्ट और जटिल कहना कोरा वाग्जाल ही लगता है।

प्रस्तुत कविता, (जिसे भूमिका-लेखक ने गत जीवन के संस्मरणों, अभावों और भावी जीवन के स्वप्नों द्वारा गूथी कहानी (?) कहा है) रोग-शय्या पर पड़े व्यक्ति की मानसिक वृत्तियों की संस्मरणात्मक अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है। पूरी कविता में सजगता की एक यूनिटी है, जो अपने में, अपने दुःख में, अपनी आशाओं में मन के पास तक पहुँचने की कोशिश करती है पर जैसे ही उसमें रूमानी भावुकता का विद्रोही स्वर आता है वह मासूम बच्चे के बनावटी क्रोध या हवाई उड़ान-सी लगने लगती है। एक उदाहरण लीजिए—

बनूं महाकवि मैं 'ठाकुर' सा
औ' इनाम 'नोबुल' सा पाऊँ।
जमुना तट पर शान्ति निकेतन
ही सा मैं फिर नगर बसाऊँ।
माता पिता चाहते—बेटा
करे परिश्रम जान तोड़ कर,
बैठे कम्पटीशन में औ'
बने कलक्टर और कमिश्नर।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

इस तरह के अनेक स्थल पुस्तक में भरे पड़े हैं जो अत्यन्त आरोपित हैं—और प्रारम्भिक काव्य-गठन और उठान को बीच-बीच में तोड़ते चलते हैं। बीच में संस्मरणों के सिलसिले में जब लेखक पारिवारिक कहानी कहने लगता है तो वह एक आग्रह-सी ज्ञात होती है और यही शायद इसके काव्य-कथा कहलाने का भ्रम भी पैदा करती है। दूसरी बात यह कि इसमें कथा का रस और वर्णन की सूत्रात्मकता भी नहीं है जो पाठक को बाँधे। स्पष्टतः यह यह टूटी हुई कल्पनाएँ हैं जो खंडित प्रतीकों की तरह रुक-रुककर नया रूप धरती चलती हैं।

संस्मरण, अभाव और भावी जीवन के स्वप्न, तीनों ही इस कविता की बुनाई में प्रस्तुत हैं, पर इनका गुम्फन अभिव्यक्ति की गहराई में नहीं उतर सका है। जैसा ऊपर संकेत हो चुका है कि कहीं-कहीं व्यक्तिगत दुःख, साहस और संघर्ष का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन हुआ है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे कवि की स्वस्थ मानसिक वृत्ति का पूरा परिचय मिलता है। अन्त में जब अभाव और शोषण से मुक्त होकर जन-जागरण का प्रतीकात्मक चित्र आता है तब कविता एकाएक बहुत ऊपर उठ जाती है क्योंकि यहाँ भी प्रारम्भ की भाँति अभिव्यक्ति की गहराई अत्यन्त आत्मिक हो उठी है :

सोच रहा हूँ—
यह असीम बल
परिमिति-हीन समूह शक्ति का,
शोषण से हो मुक्त
पुष्ट हो श्रम के फल से
एक सूत्र में बँध स्वेच्छा से
पाकर निज आकार भव्यतर
जब होगा मथने को तत्पर
वक्ष धरणि का
अम्बर का उर
सरिता सागर
क्या क्या रत्न न यह लाएगा।

कहीं-कहीं अभाव का भी मार्मिक चित्र उभरकर सामने आता है, लेकिन सम्पूर्ण रूप से यह लम्बी कविता विस्तार अथवा कथात्मकता के मोह में बिखरकर प्रभावहीन हो गई है।

जहाँ तक भाषा और शैली की बात है उसमें सच्चाई के साथ दो मत नहीं हो सकते कि अश्क की कविताओं में नई कविता के परिमार्जित एवम् सहज-शब्द-विन्यास का पूर्ण अभाव है।

लगता है जैसे मनोवेगों को छू सकने के लिए कवि के पास शब्द और संगीत दोनों का अभाव है। साफ-सुथरे शब्दों की तोड़-मरोड़ और इनके कतिपय ग़लत प्रयोगों के साथ टूटे हुए मीटर में जो मनमानी कवि ने की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शौकिया और कभी-कभी ही कविता लिखता है। न तो वह काव्य की दिन-प्रतिदिन अग्रसर होने वाली प्रवृत्ति अथवा शैली के साथ है, न उसे जानना ही चाहता है।

अन्त में यह कहना जरूरी है कि कविता केवल शैली का चमत्कार ही नहीं है, पर कविता घोषणा-पत्र भी नहीं है। इन दोनों का स्वस्थ सामञ्जस्य ही किसी रचना को पाठक के हृदय तक पहुँचा सकता है। 'अश्क' की प्रस्तुत पुस्तक अपनी स्वस्थ और जागरूक काव्य-वस्तु के लिए पढ़ी जानी चाहिए और यह भी कहा जा सकता है कि जिज्ञासु पाठक उसमें यत्र-तत्र भीगेगा भी।[1]

१. लेखक—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'; प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन गृह, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाकर माचवे

भारतीय सन्तों की वाणी

'सन्त सुधासार' में बड़े परिश्रम और गहरी श्रद्धा के साथ वियोगीहरिजी ने दो सिद्ध (सरहपा और तिलोपा), दो जैन मुनि, गोरख (नाथ), नामदेव, कबीर, रैदास और कबीरपंथियों और दूसरे निर्गुनियों में १५ बाबा और साहबों की बानी संग्रह की है। साथ ही गुरु-बानी में १२ सन्त आदि-ग्रंथ से सम्बन्धित दिये गए हैं जिनमें 'जपुजी' और नानक से शेख फ़रीद तक के पंजाबी पदों के सम्पूर्ण अर्थ भी नीचे पाद-टिप्पणियों में दिये गए हैं। वैसे कठिन शब्दों के अर्थ सर्वत्र नीचे दिये हैं और हर सन्त के साथ-साथ 'चोला-परिचय' और 'बानी-परिचय' भी दिया गया है, जो कि संक्षिप्त है और केवल रस-ग्रहण में सहायक हो इस दृष्टि से है।

प्रकाशकीय में कहा गया है कि पुस्तक आध्यात्मिक क्षुधा की शान्ति की दृष्टि से भी प्रकाशित की गई है। यद्यपि आध्यात्मिक क्षुधा से हम विशेष संपीड़ित नहीं—क्योंकि क्षुधा-मात्र न जाने किस पाप को करने के लिए उत्प्रेरण दे—और आत्म-लाभ की कांक्षा भी सन्तों को पढ़कर कम ही होती है; फिर भी मन्त्री जी की श्रद्धा को ठेस न लगाते हुए निवेदन है कि पुस्तक जरा झीने टाइप में छपकर ग्यारह रुपये खर्च कर सकने वालों से अधिक संख्या में सहज-सुलभ हो सकती थी। परन्तु 'सस्ता' होने पर भी प्रकाशन आखिर प्रकाशन जो है। यानी सन्त-मत का अनुसरण पूर्णतः करें तो 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का क्या हो ? लगता है पाठकों को तो होगा ही, प्रकाशक को भी 'आत्म-लाभ' हुआ है। विनोबा ने (पृ० १२ पर) कहा है: **"आजकल हमने सार्वजनिक सेवा का एक आडम्बर-सा बना रखा है।"**

हमें पुस्तक पढ़कर परम सन्तोष हुआ। इतना अध्यवसाय और इतनी व्यापक रस-ग्राहकता इधर हिन्दी-पुस्तकों में (विशेषतः जल्दी-जल्दी में पाठ्य-पुस्तकों की तरह बनाये गए संकलन-संग्रहों में) कम मिल पाती है, इसलिए और भी सुख हुआ। केवल सम्पादकजी से हमारा जरा-सा मतभेद नानक, गुरु अर्जुनदेव आदि के पंजाबी पदों को हिन्दी मानने पर है। यदि पंजाबी भाषा को सम्पादकजी स्वतन्त्र भाषा न मानकर राजस्थानी, मैथिली, अवधी, ब्रज की तरह हिन्दी ही की एक शाखा मानते हों तो बात दूसरी है। लगता है इसमें पंजाबी भाषा (विभाषा नहीं) के साथ कुछ अन्याय होता है। हम आशा करते हैं कि 'सन्त सुधासार' का क्रम वियोगीहरि जी चालू रखें और अगले खण्ड में माणिक, चक्रधर, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, रामदास, दक्षिण के आलवार और तमिल शैव-सन्त यथा माणिक्कवाचकम्, संभधर आदि, तेलुगु वेमना और पोतन्ना, कन्नड़ बसवेश्वर, कनकदेव और अक्का महादेवी, गुजराती 'आखो', नरसी मेहता आदि भी उसमें ले आएँगे, क्योंकि सन्तों के निकट निर्गुण-सगुण की रेखा बहुत झीनी है।

यहीं पर पुस्तक की अत्यन्त मूल्यवान और मौलिक चीज विनोबाजी की दस पृष्ठ की भूमिका की ओर मैं दर्शन और साहित्य के सभी सुधी मर्मज्ञों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। विनोबाजी ने लिखा है: **"कुछ ज्ञानी निर्गुण-निराकार का ध्यान करते हैं, जो सब कल्पनाओं से रहित है। उसका ध्यान करने वाले अकसर 'ओंकार' को पसन्द करते हैं।"** ओंकार के विषय में प्रा० गोरे के एक मराठी लेख में २१-४-४८ को विनोबाजी ने **"ॐ नमः सिद्धम्' जैन गुरुओं की छाप है। परन्तु जैन-गुरु इतने नम्र थे कि उन्होंने श्रीगणेशाय नमः**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद उसे स्थान दिया।'' जो विधान किया है, उसके प्रत्युत्तर में लिखा है कि जैनधर्मीय तो 'नमो अर्हिताणं' के बाद 'नमो सिद्धाणं' कहते हैं। अर्हतों की अपेक्षा सिद्ध अधिक पूर्णावस्था को पहुँचे हुए हैं, ऐसा इसका अर्थ है। श्री बी० शेषगिरि राव ने 'दक्षिण भारत में जैन-धर्म का अभ्यास' में लिखा है कि 'सिद्धं नमः' का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। तेलुगु लोग अपनी वर्णमाला के आरम्भ में 'ॐ नमः शिवाय सिद्धं नमः' कहते हैं। कलिंग देश के उड़िया लोग वर्णमाला के आरम्भ में सिद्धिरस्तु कहते हैं। सातवाहन संस्कृति 'सिद्धं नमः' से व्यक्त हुई है तो चालुक्य 'ॐ नमः शिवाय सिद्धम् नमः' से। एलिस गेटी ने अपने ग्रंथ 'गणेश' में पृ० ४० पर प्रो० प्रबोधचन्द्र बागची का एक पत्र दिया है जिसके अनुसार 'सिद्धं' का जो द्वितीया रूप रहता है और 'शिवाय' की तरह से चतुर्थी रूप नहीं हुआ इसका कारण यह है कि बहुत प्राचीन काल से हिन्दुओं के मूलाक्षरों का नाम 'सिद्धं' था। विल्सन कालेज, बम्बई के पण्डित भार्गवशास्त्री जोशी व्याकरणाचार्य के अनुसार महाभाष्यकार पतंजलि ने 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' में 'सिद्ध' मांगल्यसूचक अव्यय माना है। उत्तरप्रदेश के 'रामसुती, सरसुती, ओनामासीधं' का 'ओनामासीधं' महाराष्ट्र में भी है। डेविड डिरिंजर के ग्रन्थ ''दी अलफाबेट, ए की टु दि हिस्ट्री आफ मैनकाइंड'' में गुप्त लिपि से सिद्धमातृका लिपि के द्वारा देवनागरी लिपि ईसा की छठी शती में आई ऐसा प्रतिपादित है। तोशाय ओ३म् नमः सिद्धं' में सिद्धमात्रिका लिपि का ही चयन हो। अस्तु, यह अवांतर चर्चा मैंने 'ओंकार' और 'सिद्ध' शब्द के कारण आनुषंगिक समझकर की। विद्वज्जन इस पर सोचें।

विनोबाजी की भूमिका में जहाँ ईश्वर के सम्बन्ध में यह एकदम नवीन और मौलिक विचार इस चार्ट के रूप में मिलता है कि :

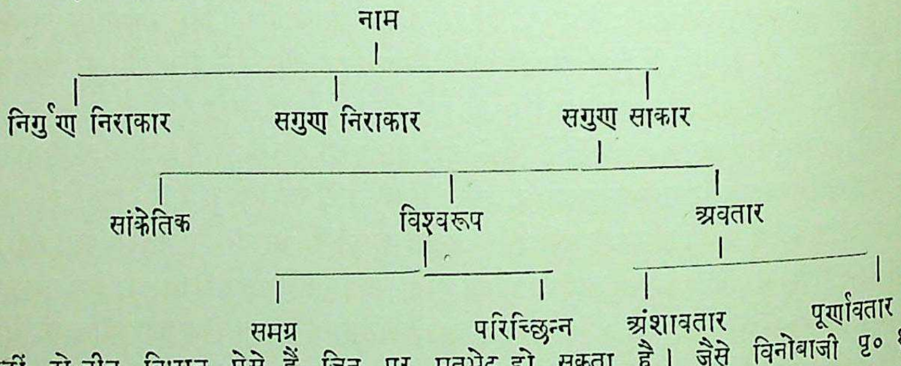

वहीं दो-तीन विधान ऐसे हैं जिन पर मतभेद हो सकता है। जैसे विनोबाजी पृ० १४ पर कहते हैं—**''दुनिया के सारे साहित्य में निर्गुण निराकार का सबसे श्रेष्ठ प्रतिपादन उपनिषदों में मिलता है।''** यह विनोबाजी का अपना मत हो सकता है। अनीश्वरवादी दर्शनों में निर्गुण निराकारत्व 'नैरात्मा' की स्थिति तक पहुँचा है। उपनिषदों में काव्यगुण अवश्य हैं, परन्तु निर्गुणत्व और निराकारत्व का प्रतिपादन बौद्ध शून्यवादियों ने अधिक सूक्ष्मता से किया है, ऐसा मेरी अल्पमति के अनुसार मुझे लगता है।

और विनोबाजी के जिन दो विधानों को लेकर मैंने उनसे कुछ पत्र-व्यवहार किया वे मूल में इस प्रकार से हैं : (१) **''उपनिषद् में निर्गुण-निराकार के साथ सगुण-निराकार की पुष्टि करने वाले वचन भी पाए जाते हैं, जिनको रामानुज आदि भाष्यकार विशेष महत्त्व देते हैं।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम और ईसाई मत इसीको मानते हैं। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इत्यादि आधुनिक समाज सगुण-निराकार की भूमिका पर खड़े हैं।"[1] और (२) "कुछ विचारक और उपासक ऐसे जरूर होते हैं जो अपना-अपना आग्रह रखते हैं। जैसे मोहम्मद पैगम्बर सगुण-निराकार मानने वाले थे। यद्यपि निर्गुण निराकार का वे निषेध नहीं करेंगे, किन्तु सगुण-साकार का अवश्य निषेध करते हुए दीख पड़ते हैं। वैसे कुरान में वज्हुल्लाह याने 'अल्लाह का चेहरा' ये शब्द कई जगह आए हैं, जिनके आधार पर मूर्तिपूजा की अतिशयता का तो बचाव नहीं होगा, लेकिन सगुण-साकार का प्रवेश हो जायगा। कुरान का कुल मिलाकर भाव मैं यही समझा हूँ कि मोहम्मद के सामने विकृत मूर्तिपूजा खड़ी है, जिसके साथ उनके अनेक भ्रष्टाचार जुड़ गए हैं; उस सब का वे निषेध करना चाहते हैं। आखिर, ईश्वर का शब्द वे सुनते थे, 'वही' उन्हें प्राप्त होती थी, उसमें वे भावित होते थे, उसका उनके शरीर पर असर होता था; कुछ रूह, कुछ प्रभा, कुछ आभास, जो भी कहो, उनके अन्तर्-मानस में प्रकट होती थी। यह सब देहधारी मनुष्य कैसे टालेगा?"

विनोबा के मूल अवतरण पाठकों को मेरे पत्र-व्यवहार की शंकाओं को समझने में सहायक हों, इस हेतु से दिये हैं। उन्हें इस अंश को लेकर जो पत्र मैंने लिखा। उसमें 'यदुहुल्लाह' (अल्लाह का हाथ) आदि का आधार देकर कुरान में अल्लाह के सगुणपन के विषय में शंका व्यक्त की थी।

विनोबाजी ने उत्तर में जो पत्र लिखा उसका उपयोगी अंश इस प्रकार है जो इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि वह विषय को समझ सकने में अधिक सहायक सिद्ध हो सके:—

"सगुण-निर्गुण-भेद का मर्म जान सकना याने ईश्वर में प्रवेश ही पाना है। ईश्वर तत्त्व केवल अचिंत्य है, शब्द से परे है। तिस पर भी उसके वर्णन के लिए शब्दों का उपयोग किया जाता है तो ईश्वर वह सहन कर लेता है। विष्णुसहस्र नाम में ईश्वर के दो नाम ही यों दिये हैं—"शब्दातिगः शब्दसहः।"

अकसर लोग निराकार याने निर्गुण, और सगुण याने साकार ऐसा ही मान लेते हैं। पर निर्गुण निराकार और सगुण साकार से भिन्न सगुण निराकार भूमिका है। पैगम्बर की यही भूमिका मैं समझा हूँ। मैंने यह नहीं कहा कि वे सगुण साकार को मानते हैं। लेकिन वज्हुल्लाह आदि शब्दों के आधार पर अगर कोई समन्वय करना चाहे तो सगुण साकार के साथ समन्वय हो सकेगा, इतना ही मैंने सूचित किया था। आपने परमेश्वर के जो विशेषण कुरान के दिये हैं वे बहुत सारे निराकार होते हुए भी सगुण हैं। जैसे 'अररज्जाक' याने रोजी देने वाला। निर्गुण किसी को रोजी नहीं दे सकता। निर्गुण का वर्णन तो नकार से ही हो सकेगा।

सगुण निराकार मानने वाले जितने होते हैं उनकी भूमिका सबकी एक ही होती है, सो बात नहीं है। उनमें से कोई साकार का निषेध करते हैं। कोई साकार का निषेध करते हुए भी, इन्सान के लिए ही क्यों न हो, साकारवाची शब्द सहन करते हैं। कोई साकार को मानसिक आकार देते हैं। कोई उसको भौतिक रूप देते हैं। कोई उसकी उपासना के लिए मूर्ति भी अज्ञान दशा के लिए मान्य कर लेते हैं। ऐसे सब भेद होते हुए भी ये सारे सगुण निराकारवादी

१. पृ० १४
२. पृष्ठ १५-१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं। इस्लाम, ईसाई, रामानुज ब्राह्मो-प्रार्थना समाजी आदि ये सारे जितने भी उपासना-ग्रन्थ हैं सब सगुण भूमिका पर खड़े हैं, ऐसा ही मैं समझता हूँ।

राम, कृष्ण ये शब्द भी मूलतः अमूर्तवादी सगुण शब्द हैं। याने सगुण निराकार हैं। उस पर आकार का आरोपण पीछे से किया गया है। राम याने रमने वाला। कृष्ण याने आकर्षण करने वाला। 'हर हर महादेव' याने अक्षरशः 'अल्लाहो अकबर।' महादेव और अकबर एक-दूसरे के तर्जुमे समझिए।

जहाँ तक ज्ञानदेव का ताल्लुक है, निर्गुण, सगुण और साकार तीनों में वह कोई फर्क नहीं करता है। अलंकार के आकार में सुवर्ण रहता है। और सुवर्ण में सुवर्णत्व है। हम अक्षर की आकृतियाँ देखते हैं। उन आकृतियों में हम अक्षर पढ़ते हैं। और उन अक्षरों से हम अर्थ ग्रहण करते हैं। अर्थ निर्गुण है। अक्षर-ध्वनि सगुण है। अक्षर-आकृति साकार है। राजा का पत्र हम फाड़ डालते हैं तो राजा का अपमान होता है।

कुरान में एक जगह मुहम्मद ने अपने अनुयायियों से कहा है कि मूर्तिपूजकों के देवताओं की तुम निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे अल्लाह की निन्दा करेंगे। कोई भी नहीं कहता कि व्यभिचारियों के व्यभिचार की निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे सदाचार की निन्दा करेंगे। ज़ाहिर है कि इसमें मुहम्मद ने मूर्ति-पूजा को अधर्म नहीं माना है, बल्कि परधर्म माना है। यह सारी मेरी समझने की दृष्टि है। गीता ने 'ओऽम् तत् सत्' इस महामन्त्र में निर्गुण, सगुण और साकार का उत्तम समन्वय किया है। उसकी कुछ चर्चा अपने 'स्थित प्रज्ञ-दर्शन' में मैंने की है। सगुण-निर्गुण-उपासना की एकता, जैसी मैं समझता हूँ, 'गीता प्रवचन' में प्रगट की है। मैं नहीं जानता कि इतने से आपका समाधान हो सकेगा या नहीं। आखिर यह अनुभव का विषय है और शब्द-शक्ति की एक सीमा है।"[१]

---

१. संकलनकर्ता : वियोगीहरि; प्रस्तावना—आचार्य विनोबा; प्रकाशक— सस्ता साहित्य मण्डल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय

खोज की पगडण्डियाँ

ले०—श्री मुनि कांतिसागर; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी;

प्रस्तुत पुस्तक मुनि कांतिसागरजी के बारह लेखों का संग्रह है। ये लेख कला, पुरातत्व एवं यात्रा-विषयक हैं।

उपर्युक्त लेखों में पहला लेख सबसे बड़ा है। उसमें जैन चित्रकला की प्राचीनता और उसके क्रमिक विकास का विस्तृत विवेचन किया गया है। विद्वान् लेखक ने मुगल काल के पहले की जैन चित्रकला के सम्बन्ध में कई नवीन बातों पर प्रकाश डाला है। दूसरा लेख बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकला पर है। इसमें विविध प्रकार के बौद्ध-चित्र तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चित्रपटों के सम्बन्ध में मुनिजी के विचार विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। ललित-कला विषयक अन्य तीन लेखों में कई ज्ञातव्य तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। छठे, सातवें और आठवें लेखों में क्रमशः दो ताम्रपत्रों तथा रोहण खेड़ के एक मकबरे पर प्राप्त विचित्र ढंग की लेखन-प्रणाली की चर्चा की गई है।

पुस्तक का अन्तिम भाग भौगोलिक तथा यात्रा-विषयक है। मुनिजी पर्यटक के रूप में प्रसिद्ध हैं। परन्तु उनका पर्यटन घुमक्कड़ों की श्रेणी में नहीं आता। वह अपनी यात्राओं में प्राचीन अवशेषों का सम्यक् निरीक्षण करते हैं और उनके सम्बन्ध में आवश्यक बातें नोट करते हैं। अनेक बार उन्हें भयावने और बीहड़ स्थानों में भी पुरातत्व की खोज में जाना पड़ा है। प्राचीन स्थलों का प्रत्यक्ष वर्णन मुनिजी ने अपने यात्रा-सम्बन्धी लेखों में बड़ी खूबी के साथ किया है। वर्णन-शैली रोचक है। इस पुस्तक में नालंदा, विंध्याचल, मैहर तथा पाटलिपुत्र के मनोरंजक वर्णन मिलते हैं।

पुस्तक में कुछ कमियाँ रह गई हैं। चित्र-कला तथा शिल्प-सम्बन्धी आवश्यक चित्रों का न होना खटकता है। जिन मुख्य कलाकृतियों तथा भौगोलिक स्थलों के उल्लेख पुस्तक में हुए हैं यदि उनके चित्र दे दिये जाते तो पुस्तक की शोभा और उपादेयता निस्सन्देह बढ़ जाती। प्रूफ़ की भी कुछ गलतियां रह गई हैं—विशेषकर व्यक्तियों और स्थानों के नामों की। इस प्रकार की उपयोगी पुस्तक के अन्त में अनुक्रमणिका का न होना भी खटकता है। लेखक ने 'म्यूजियम' के लिए 'आश्चर्य गृह' शब्द का प्रयोग किया है। इसके स्थान पर 'संग्रहालय' या 'कलाभवन' नाम अधिक उपयुक्त रहता। आशा है अगले संस्करण में इन कमियों को दूर किया जा सकेगा।

हम मुनिजी का इस उपयोगी पुस्तक की रचना के लिए साधुवाद करते हैं। उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ पुरातत्व और कला-सम्बन्धी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री को अपनी इस कृति में संग्रहीत किया है।

—कृष्णदत्त वाजपेयी

अर्वाचीन और प्राचीन के परे

लें०—गोपीकृष्ण 'गोपेश'; प्र०—आर्ट प्रिण्टर्स, इलाहाबाद।

अर्वाचीन और प्राचीन के परे १४ पौराणिक रूपकों का संग्रह है जो रेडियो के लिए लिखे गए हैं। रेडियो-रूपक अपनी अजीब-सी सीमाओं में पलते हैं, मूर्त होते हैं। बिना कुछ दिखाए ही नाटककार से उसका श्रोता सब-कुछ देख लेना चाहता है—वह भी कानों से।

पर रेडियो रूपककार को कुछ छूट मिलती है। उसे कुछ और अधिकार मिलते हैं। वह स्वयं एक प्रवक्ता बनकर अपने चरित्रों और श्रोताओं के बीच में आता है—रूपक के वातावरण और कथासूत्र का परिचय देने, इतिवृत्त को बढ़ाने, सँवारने। इतिवृत्त के बीच प्रमुख घटनाएँ, वाणि-अभिनय, वार्तालाप, संगीत, ध्वनि आदि से नाटकीय रूप-रेखा में बाँधी जाती हैं।

इन रेडियो-रूपकों में उक्त सभी मान्यताएँ सफलता से चरितार्थ हुई हैं। इनमें कभी वर्णनकार आकर हमारी समस्त सांस्कृतिक वृत्तियाँ जगा देता है और साथ-ही-साथ वातावरण-निर्माण के बीच वस्तुस्थिति पर अपना आलोक फैला देता है; जैसे—'विजया दशमी' में 'सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र' में, 'नल दमयन्ती', 'सावित्री सत्यवान' और 'पालने में भूले नंदलाला' आदि में। दूसरी ओर रूपककार अपने को वर्णनकार के रूप में न लाकर वहाँ स्त्री-पुरुष के स्वरों से कार्य लेता है—यह विधान अपेक्षाकृत नाटकीय, सफल और कलात्मक है; जैसे, 'महाराज दिलीप' में, 'महाराज उद्धव व्रज से मथुरा में।'

इन समस्त रूपकों का भाव-क्षेत्र हमारी भारतीयता, हमारे आदर्श और हमारी संस्कृति है। रूपककार ने इस मर्यादा को सर्वत्र निभाया है। रूपककार मूलतः कवि है। इस दिशा में यह कृतित्व उसकी प्रथम देन है। कथानक पुराने हैं, इन पर बहुत लिखा गया है, लिखा जायगा, क्योंकि यही वह क्षेत्र है, जहाँ हमें आज भी गति मिलती है। इस प्रथम देन के लिए रूपककार साहित्य-जगत् की ओर से बधाई का पात्र है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

बदलती राहें • मधु

लेखक—यज्ञदत्त; प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन दिल्ली।

'यज्ञदत्त-साहित्य' के अन्तर्गत दो उपन्यास 'बदलती राहें' और 'मधु' सामने हैं। 'बदलता राहें' में लेखक ने कथा का निचोड़ काफी जोरदार शब्दों में भूमिका-रूप में पहले दे दिया है। इस उपन्यास में सन् सत्तावन से लेकर आज तक की इस लम्बी अवधि पर नज़र दौड़ाकर स्वप्नमूलक आदर्शवादिता के जोश में कुछ कहने की कोशिश की गई है। एक पृष्ठ की भूमिका में आत्मा, प्रगति, रूढ़ि और त्याग आदि जिन शब्दों के प्रयोग द्वारा कथा की भव्यता प्रदर्शित की गई है वे सब अन्त तक पहुँचते-पहुँचते निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं; जिसके मूल में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, विवेचन, कहने की शैली और संवेदनात्मक स्थलों की पकड़ का अभाव है।

इतनी विशाल पृष्ठभूमि और इतनी ज्वलंत सामयिक समस्याओं को उठाने के पीछे लेखक की सजगता का तो आभास मिलता है, आदर्शवादी स्थापनाओं द्वारा उसकी आस्था का भी परिचय मिलता है, परन्तु जिस रूप और शैली में यह कथा प्रस्तुत की गई है उसे उपन्यास की संज्ञा देने में हिचक होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐकारान्त सम्बोधनों का प्रयोग और पात्रों का आँखों-में-आँखें डाल देना अत्यन्त हास्यास्पद हो जाता है। भाषा यदि निर्जीव न कही जाय तो सशक्त या व्यञ्जनात्मक भी नहीं है।

'मधु' उपन्यास पर नजर पड़ते ही कवर पेज का चित्र सामने आता है जो हल्केपन का परिचायक है। कुछ सम्मतियाँ हैं और फिर डॉ० राकेश गुप्त की कथा की परिचयात्मक आलोचना। गुप्तजी ने टी० एस० इलियट के एक वाक्य को उद्धृत करके उसे स्पष्ट किया है, पर 'अधिकारपूर्वक' नहीं। और उससे जो निष्कर्ष निकाला है वह एक पृथक् विवाद का प्रश्न है। खैर···

तो कथा आरम्भ होती है प्रकृति-वर्णन के साथ और नौ पंक्तियों के बाद ही गीत प्रारम्भ हो जाता है। गीतों की भरमार और स्थलों पर उन्हें रखने के ढंग से ऐसा लगता है जैसे उपन्यासकार और सिनेमा के 'स्क्रिप्ट' लेखक में कोई अन्तर ही न हो। अतिनाटकीय-शैली और पौराणिक नाटकों की तरह बालिके, चण्डिके आदि सम्बोधन, अमूर्त अदृश्य में भावारोपण करके वार्तालाप, स्थान-स्थान पर नायिका का अचेत हो जाना आदि उबाने के लिए पर्याप्त हैं।

अन्त में यह कह देना भी आवश्यक लगता है कि प्रतिष्ठित सम्मतिकारों को अपनी उदारता का उस हद तक परिचय नहीं देना चाहिए जिससे कथा-साहित्य के पाठकों को ग़लत और भ्रमपूर्ण मार्ग-निर्देश मिले।

—कमलेश्वर

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग)—एक परिचय

सं०—उदयसिंह भटनागर, साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान और विशेषकर मेवाड़ के विभिन्न संग्रहालयों और व्यक्तियों के पास प्राप्त ५०६ ग्रंथों की विवरणात्मक सूची एवं उनके प्राप्त स्थान दिये गए हैं। इन ग्रंथों के रचयिता ३२५ व्यक्ति हैं। ग्रंथों का विवरण अकारादि-क्रम से तीन शीर्षकों के अंतर्गत दिया गया है:—

(क) अध्यात्म, धर्म, दर्शन, भक्ति-सम्प्रदाय, पंथ आदि····८१ ग्रंथ।

(ख) काव्य, साहित्य-शास्त्र, इतिहास आदि····६१ ग्रंथ।

(ग) ख्यात वृत, कथा-काव्य, जैन-रास, जीवन-चरित्र आदि····७६ ग्रंथ।

इस खोज विवरण में कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय 'पृथ्वीराज रासो' की नवीन प्राप्त प्रतियाँ हैं। खोज में सम्पादक को पाँच प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। रासो के संपादन और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'रामसागर' है जिसके रचयिता कबीर कहे गए हैं। लेखक ने प्रति का लिपिकाल सं० १३४२ (?) माना है। दस पत्रों में सीमित यह एक छोटी सी रचना है और विवरण में पूरी-की-पूरी उद्धृत कर दी गई है। यदि यह कबीर की प्रामाणिक रचना है तो इसका विशेष महत्त्व है। कबीर की प्रामाणिक रचना न होने पर भी यदि इसका लिपिकाल सं० १३४२ है, जैसा कि संपादक का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमान है, तो इसका भाषा एवं लिपि की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसके अध्ययन की आवश्यकता है।

प्राचीन ब्रजभाषा एवं राजस्थानी गद्य की दृष्टि से जहाँ प्राप्त वार्ताएँ एवं ख्यात आदि महत्त्वपूर्ण हैं, वहाँ कुछ प्राचीन टीका-ग्रंथ विशेष रूप से भागवत् एवं भगवद्गीता-टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। अंत में, अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंश इसका परिशिष्टांश है जिसमें विभिन्न लिपिकाल के विभिन्न गुटकों में प्राप्त मीरा के अभी तक के प्रकाशित पद संग्रहीत हैं। इस प्रकार से यह ग्रंथ खोज के विद्यार्थियों एवं प्राचीन साहित्य के अध्ययन करने वालों के लिए बहुमूल्य है। इसके लिए लेखक एवं साहित्य-संस्थान बधाई के पात्र हैं।

—मिथिलेश कांति

रीतिकालीन हिन्दी कविता और सेनापति

ले०—रामचन्द्र तिवारी, एम० ए०; प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

सेनापति की रचना 'कवित्त रत्नाकर' के इधर प्रकाशित हो जाने पर इस कवि के अध्ययन की ओर हमारा ध्यान पहले से अधिक आकृष्ट होने लगा है। पुस्तक परीक्षा-सम्बन्धी पाठ्य-ग्रंथों में आ चुकी है और इस कारण अनुशीलन की यह प्रवृत्ति अभी तक सोद्देश्य है और इसका क्षेत्र भी सीमित है। फिर भी सेनापति का आविर्भावकाल भक्ति-युग एवं रीति-युग के बीच में पड़ता है और इस रचना पर इन दोनों युगों का सम्मिलित प्रभाव है, अतएव, इस कवि के विषय में लिखते समय, अपने दृष्टिकोण को व्यापक एवं संतुलित बनाये रखना अनिवार्य हो जाता है। आलोच्य पुस्तक के रचयिता ने इस प्रकार की सभी बातों को अपने ध्यान में रखा है। इसके तीन खंडों में से पहले में रीतिकालीन हिन्दी कविता की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है जो संक्षिप्त होता हुआ भी सुन्दर है। दूसरे खंड में सेनापति के जीवन वृत्त, उसकी रचनाओं तथा उसके व्यक्तित्व का परिचय दिया गया है जो, पर्याप्त सामग्री के अभाव में अनिवार्यतः अधूरा-सा लगता है। परन्तु तीसरे खंड के शीर्षक काव्य-समीक्षा के अंतर्गत लेखक ने कवि की रचनाओं पर प्रायः सभी दृष्टियों से विचार किया है और वह औचित्यपूर्ण भी है। पुस्तक परीक्षार्थियों के अतिरिक्त हिन्दी-काव्यरसिकों के लिए भी सर्वथा उपादेय है, इसमें सन्देह नहीं।

—परशुराम चतुर्वेदी

महाकवि श्री निराला अभिनन्दन ग्रन्थ

कलकत्ता के साहित्यिकों ने श्री निरालाजी के सम्बन्ध में यह संस्मरणात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत कर हिन्दी-जगत् का बहुत उपकार किया है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री बरुआ लिखते हैं कि इस कृति की योजना तैयार करने में उन्हें '२५०० मील रेल यात्रा, ५०० मील ट्राम यात्रा और ५०० मील पैदल यात्रा करने का अलभ्य बड़भाग मिला है।' सम्पूर्ण ग्रन्थ के दो भाग हैं: प्रथम भाग के ११४ पृष्ठों में विभिन्न साहित्यिकों द्वारा श्री निरालाजी पर लिखे गए निजी संस्मरण शब्द-चित्र और श्रद्धांजलियाँ हैं जिनमें सर्वश्री बा० गुलाबराय एम० ए०, पं० श्रीराम शर्मा, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पं० गांगेयनरोत्तम शास्त्री, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, वाचस्पति पाठक, गंगाप्रसाद पांडेय, अमृतलाल नागर, बेढब बनारसी, जयगोपाल शिवगोपाल मिश्र, जानकीवल्लभ शास्त्री, रत्नशंकर प्रसाद, भदन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनन्द कौसल्यायन तथा उदयनारायण तिवारी एम० ए० डी० लिट्० के संस्मरण, शब्द-चित्र एवं श्रद्धांजलियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रारम्भ में श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्रीमती महादेवी वर्मा तथा कुछ अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों की प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ की आयोजना पर बधाइयाँ तथा शुभकामनाएँ हैं। श्री निरालाजी के प्रति लिखित दो कविताएँ भी हैं।

द्वितीय भाग के १८८ पृष्ठों में श्री बरुआ द्वारा लिखित "कलकत्ता में श्री निरालाजी (१०१ संस्मरण)" हैं, जिसमें लेखक ने श्री निरालाजी के सम्पर्क में आये हुए विभिन्न साहित्यिकों और विद्वानों द्वारा लिखित संस्मरणों को एक सूत्र में पिरोया है। इन संस्मरणों में श्री निरालाजी के उस समय के साहित्यिक उत्कर्ष के संघर्षमय जीवन की रोचक कहानी है, जब वे कलकत्ता में थे। इन्हें पढ़ने में एक महान् उपन्यास का-सा आनन्द आता है क्योंकि श्री अमृतलाल नागर के शब्दों में 'निरालाजी का जीवन किसी भी महान् औपन्यासिक 'हीरो' से कम नाटकीय नहीं।' इनमें सर्वश्री इलाचन्द्र जोशी, आचार्य शिवपूजन सहाय, पं० परमानन्दशर्मा, बाबू श्यामसुन्दरदास खत्री, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी, आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा, प्रो० रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल' और यशपाल जैन के संस्मरण उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में ३०० पृष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त आर्ट पेपर पर छपे छोटे-बड़े, सादे और रंगीन १०५ चित्र भी हैं जिनमें कवर-पृष्ठ तथा द्वितीय भाग का मुखपृष्ठ भी सम्मिलित हैं। ६५ चित्र स्वयं श्री निरालाजी के हैं, अथवा उनसे सम्बन्धित हैं जो विभिन्न अवसरों तथा समयों पर लिये गए हैं। इनके अतिरिक्त श्री निरालाजी के एक पत्र तथा उनकी कुछ कविताओं की हस्तलिपियाँ भी हैं। इस सारी प्रचुर सामग्री से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी और उपादेय हो गया है। किन्तु इसमें दो कमियाँ बहुत खटकती हैं। एक, अच्छे काग़ज़ की, दूसरी, जिल्द की। यदि यह अच्छे काग़ज़ पर छपा और मज़बूत जिल्द में बँधा होता, तो अधिक टिकाऊ होता।

—श्याममोहन श्रीवास्तव

प्रेमचन्द के पात्र

सम्पादक—कोमल कोठारी; प्रकाशक—प्रेरणा प्रकाशन, जोधपुर।

हिन्दी-आलोचना बहुत-से विद्वानों के सत्प्रयत्नों के बावजूद अब भी बहुत वैज्ञानिक नहीं हो सकी है, ऐसा कहना कदाचित् बहुत असंगत न होगा। जिस क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित समीक्षा की आवश्यकता, साहित्य के स्वस्थ तथा संतुलित विकास के लिए आवश्यक होती है, उस श्रेणी की समीक्षा हमारे यहाँ अभी पर्याप्त मात्रा में तैयार नहीं हो सकी है। ऐसी स्थिति में जब कोई वैज्ञानिक पद्धति पर आलोचना-कृति हमारे सम्मुख आती है, तो उसके लिए हमारे मन में श्रद्धा एवं सहानुभूति स्वभावतः जाग्रत होती है। 'प्रेरणा' का विशेषांक 'प्रेमचन्द के पात्र' बहुत कुछ ऐसी ही पुस्तक या पत्रिका है। इस में हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण पात्रों की पर्याप्त रूप से सुव्यवस्थित समीक्षा प्रस्तुत की गई है। सारी सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया गया है, कहानियों के पात्र, उपन्यास के पात्र तथा विशेष। इसमें तीसरा और अन्तिम भाग कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस भाग के अंतर्गत प्रेमचन्द के पात्रों का विशेष अध्ययन कुछ सीमित एवं निश्चित शीर्षकों में किया गया है। ये शीर्षक हैं प्रेमचन्द के स्त्री-पात्र, प्रेमचन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साहित्य में भारतीय जनता का चित्रण, नाम संस्कार का सर्वश्रेष्ठ पुरोहित प्रेमचन्द तथा कथा-साहित्य और पात्र (सम्पादकीय)।

महत्त्व एवं रोचकता के आधार पर ही इस पत्रिका में प्रेमचन्द के कुछ विशिष्ट पात्रों का चयन किया गया है। चरित्रों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों ही पृष्ठभूमियों में हुआ है; फिर भी इस अध्ययन को अधिक गहरा एवं विस्तृत बनाया जा सकता था, इसमें कोई सन्देह नहीं, कुछ पात्रों की समीक्षा सानुपात नहीं हो पाई है। उदाहरणार्थ, 'प्रेमाश्रम में लाला प्रभाशंकर का चरित्राध्ययन अपेक्षाकृत हल्के ढंग से हुआ है। समीक्षा भी विशुद्ध साहित्यिक शैली में व बहुत-से स्थानों पर अंग्रेजी शब्दों या मुहावरों के प्रयोग आपत्तिजनक कहे जा सकते हैं। सम्पादकीय में, बिना हिन्दी पर्याय दिये हुए 'प्रोम्प्ट', 'माउथपीस', 'ब्रेक', 'निहिलिस्ट', 'बण्डल ऑफ स्टिम्स', 'क्रिएशन ऑफ प्लॉट' तथा 'पोर्ट्रेट' जैसे—अपेक्षाकृत अपरिचित एवं विशिष्ट अर्थ देने वाले शब्दों का प्रयोग बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कहीं-कहीं अहिंदी कथा-साहित्य-सम्बन्धी हल्के अज्ञान का परिचय मिल जाता है। उदाहरण के लिए, स्वयं सम्पादकीय में ही शरद के 'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी को देवदास से सम्बद्ध बताया गया है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट पात्रों का अध्ययन उपस्थित करने वाले निबन्धों में, विषय-वस्तु तथा शैली दोनों के ही दृष्टिकोण से अधिक गम्भीरता अपेक्षित है।

फिर भी इन सब कमियों के बावजूद, इतना सुन्दर एवं सुव्यवस्थित विशेषांक निकालने के लिए, 'प्रेरणा' का संपादक तथा लेखक-मण्डल, जो अपेक्षाकृत बहुत कम व्यक्तियों में सीमित है, प्रेमचन्द के पाठकों तथा आलोचकों की बधाई का पात्र है। आशा है कि भविष्य में इस पत्रिका के माध्यम से हमें हिन्दी-आलोचना के अन्य क्षेत्रों में भी विशिष्ट, वैज्ञानिक तथा अधिक गम्भीर अध्ययन उपलब्ध हो सकेंगे।

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

अवन्तिका : काव्यालोचनांक

टिप्पणी : जगदीश गुप्त

'अवन्तिका' के नववर्ष-प्रवेश के अवसर पर प्रकाशित काव्यालोचनांक उसकी प्रगति के पथ में एक निश्चित सीमाचिह्न के रूप में स्मरणीय रहेगा, यह असंदिग्ध है, किन्तु इसके अतिरिक्त साहित्य-समीक्षा के विस्तृत क्षेत्र में उसका क्या महत्त्व है, यह अधिक विचारणीय है। प्रस्तुत अंक की सामग्री का संकलन तीन खण्डों में, जिन का पृथक्करण सूक्ष्मता से देखने पर ही सम्भव होता है, तीन दृष्टियों से किया गया है। पहले खण्ड में दस लेख हैं जिनमें संस्कृत काव्य-शास्त्र के सुपरिचित अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि सम्प्रदायों से सम्बद्ध समस्याओं का विवेचन मिलता है। इन लेखों में कई लेख पाण्डित्यपूर्ण हैं, परन्तु 'साधर्म्य अथवा उपमा' शीर्षक डॉ० ओमप्रकाश का लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'ध्वनि' जैसे अनिवार्य महत्ता के सिद्धान्त की उपेक्षा इस खण्ड में चिन्त्य प्रतीत होती है।

दूसरे खण्ड की सामग्री को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संकलित किया गया है। सिद्ध कवियों से लेकर हिन्दी काव्य की अत्याधुनिक प्रवृत्तियों तक का इसमें समावेश है। बदलती हुई काव्य-परम्परा का परिचय देने के अतिरिक्त काव्य की आलोचना के क्षेत्र में और विशेषकर काव्य की समस्याओं तथा मूल्यों के विवेचन में इस ऐतिहासिक दृष्टि की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती। वीर-काव्य तथा प्रेममार्गी काव्य के प्रतिनिधित्व के सर्वथा अभाव में इसे पूर्ण भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस ऐतिहासिक क्रम को पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने के लिए ही कुछ ऐसे लेखों का भी संग्रह इसमें कर लिया गया है जो अंक के उच्च स्तर को सहसा नीचे ले आते हैं। 'हिन्दी के बृहत्त्रयी—सूर तुलसी और कबीर'—तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' जैसे लेखों को अन्य कहीं अधिक श्रेष्ठतर लेखों 'रीतिकाल का नया मूल्यांकन' (दिनकर), 'प्रपन्नवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' (केसरी कुमार) आदि के साथ संग्रहीत देखकर आश्चर्य होता है।

तीसरे और अन्तिम खण्ड में संसार के कुछ विशिष्ट आलोचकों के सिद्धान्तों के विषय में परिचयात्मक लेख संग्रहीत हैं। इसमें भी रिचर्डस् तथा सार्त्र के दृष्टिकोण का अभाव खटकता है। 'इलियट की आलोचना-प्रणाली' शीर्षक लेख इलियट के काव्य-सिद्धान्तों के महत्त्व को देखते हुए अपर्याप्त प्रतीत होता है। 'हिन्दी आलोचना : अगला कदम' में डॉ० देवराज ने जो हिन्दी आलोचना में 'प्रौढ़ि और परिपक्वता' की कमी की ओर इशारा किया है वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं। इस प्रश्न को यदि अवन्तिका काव्यालोचनांक तक ही समाप्त न कर के आगे भी उठाये तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

यत्र-तत्र यत्किंचित् अभाव के बाद भी 'सुधांशु जी' जैसे हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक के सम्पादन में प्रकाशित 'अवन्तिका' के इस विशेषांक का स्वागत होना चाहिए। विवशताओं को स्वीकार करते हुए जिसे सम्पादक ने 'एक प्रयत्न-मात्र' कहा है वह वस्तुतः अनेक दृष्टियों से एक सफल और सशक्त प्रयत्न है।

—जगदीश गुप्त

'नवनीत' दीपावली विशेषांक

नवनीत का दीपावली विशेषांक विशेष आकर्षक है। लेख, कहानी, कविता, प्रवचनों का संकलन विविध विषयों को दृष्टि में लेकर किया गया है। वैज्ञानिक, साहित्यकार, कहानीकार, कवि, चित्रकार, गायक अपनी रुचि के अनुकूल 'इस संचयन' में से कुछ-न-कुछ पा लेता है। एक ओर संगीतज्ञ मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की 'गुज़र चुकी फस्ले बहार' है तो दूसरी ओर हिंसक पशुओं का साम्राज्य भी है···।

हिन्दी, बंगला, मराठी के सुप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं के अतिरिक्त रूसी, फ्रेञ्च, अंग्रेजी, तमिल के विख्यात लेखकों की, जिनमें श्री मेक्सिम गोर्की, रोम्या रोलाँ, बर्टेंड रसेल प्रमुख हैं, कहानियाँ भी हैं। एक ही स्थान पर विभिन्न प्रान्तों, विभिन्न देशों के साहित्य से हमें परिचय मिल जाता है। नवनीत हिन्दी पाठक की अभिरुचि को सुसंस्कृत बना रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

—उमा भटनागर।

'पांचजन्य' (अर्थ अंक)

'पांचजन्य' का अर्थ-अंक हिन्दी में अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों और आधुनिक अर्थ-नीतियों पर विचार करने वाला शायद पहला प्रकाशन है जिसमें कई मतों के लेखकों को एक साथ स्थान दिया गया है। यही इसका गुण भी है और इसकी कमज़ोरी भी।

सम्पादकों के अनुसार भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के लिए उसका 'अध्यात्मीकरण' होना आवश्यक है। इस अध्यात्मीकरण का समर्थन जिन लेखों में किया गया है उनमें से श्री कुन्दन राजा का 'अर्थ-सिद्धान्त : भारतीय दृष्टि में', श्री रामचन्द्र तिवारी का 'मार्क्सवाद की वेदान्तीय समीक्षा' और श्री कुमारप्पा का 'नियोजन का गांधीवादी दृष्टिकोण' नामक लेख उल्लेखनीय हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि सर्वोदय का अर्थशास्त्र पश्चिमी अर्थशास्त्र को भारत की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक नई देन है और सर्वोदय अर्थशास्त्र की बहुत-सी बातें सिद्धान्ततः काफ़ी लोग मानने लगे हैं। लेकिन अभी तक किसी ने भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में सर्वोदय या अध्यात्मवाद पर विचार नहीं किया है। इस विषय पर भी दो-एक लेखों को सम्मिलित कर लेने से अंक का महत्त्व बढ़ जाता।

अंक के सबसे महत्त्वपूर्ण लेख भारत की पंचवर्षीय योजना पर हैं। विशेषतः श्री अधौलिया और श्री वी० के० आर० वी० राव के लेखों में योजना का सविस्तार और सारगर्भित विवेचन किया गया है। हिन्दी में योजना का ऐसा गम्भीर अध्ययन अन्यत्र नहीं है। सोवियत अर्थनीति पर श्री पीटर वाइल्स का लेख अपने विषय पर नई सामग्री प्रस्तुत करता है।

अनुवादों की भाषा में अधिक सावधानी बरतनी चाहिए थी। 'पर्ज' के लिए 'शुद्धि' शब्द का प्रयोग भ्रमोत्पादक है। एक ही वाक्य में 'टैक्स' और 'कर' नहीं होने चाहिएँ थे। 'ट्रेड-यूनियन' का अनुवाद आसानी से हो सकता है, लेकिन उसे ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया है। 'कन्सेन्ट्रेशन कैम्प' के लिए 'सामूहिक श्रम शिविर' लिखना हास्यप्रद है।

आरम्भ की कविताएँ न होतीं तो अच्छा था।

—सुरतदास श्रीवास्तव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यालोचना

श्री सम्पादक 'आलोचना',
इलाहाबाद

मान्यवर महोदय,

आलोचना में मेरी पुस्तक 'व्यक्ति और वाङ्मय' की डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखित आलोचना पढ़ी। अन्य बातों में बहुत-सा मतभेद होने पर भी डॉ० वार्ष्णेय का आलोचक के स्वतन्त्र विचार रखने का अधिकार है, अतः मैं कुछ नहीं कहूँगा। उसमें केवल एक बात का स्पष्टीकरण मैं देना चाहता हूँ। विद्वान् आलोचक ने शंका उठाई है कि मैं मराठी की बात हिन्दी में अधिक करता हूँ, पता नहीं हिन्दी की बात मराठी में करता हूँ या नहीं। कुछ तथ्य अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए रख दूँ।

प्रभाकर माचवे ने हिन्दी लेखकों के परिचय, उनकी रचनाओं के अनुवाद, उनके साहित्यिक मत आदि के विषय में अब तक मराठी पत्र-पत्रिकाओं में जितना लिखा है, उसे पुस्तकाकार छापा जाय तो ५०० पृष्ठों की पुस्तक अवश्य होगी। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं के प्रकाशन की तिथि और नामोल्लेख कर देना पर्याप्त होगा :

क्रमांक	नाम	प्रकाशन तिथि
(१)	हिन्दी साहित्यिकांची प्रभावक : गुप्तबन्धु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द पर विशेष लेख	१९३७
(२)	दीपावली के ललित कला विशेषांक में कई अनुवाद : सुमित्रानन्दन पन्त, प्रेमचन्द आदि	१९३९
(३)	१९४० चे हिन्दी साहित्य	१९४०
(४)	राहुल सांकृत्यायन (व्यक्तिचित्र)	१९४३
(५)	जैनेन्द्रकुमार का 'त्याग पत्र'	१९४१
(६)	'निराला' और 'अज्ञेय' (रेखाचित्र)	१९४७, १९५१
(७)	'साहित्य प्रवाह' भारतीय साहित्य संस्कृति,	१९३९ से १९४८ तक विजयदशमी
(८)	उपवनांतील वारें इत्यादि नियमित स्तम्भ	

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) हिन्दी साहित्यांचा इतिहास १९५२

अश्क, यशपाल, अमृतराय की कहानियों के अनुवाद भी छापे।

पुस्तकों के अनुवादों का जहाँ तक प्रश्न है, उपन्यासों में 'गोदान' का एक मराठी अनुवाद मैंने 'रिवाइज़' किया; 'शेखर' का अनुवाद एक मित्र से करा रहा हूँ; 'बाणभट्ट की आत्मकथा' प्रो० तारा पोद्दार, नागपुर, मेरी सहायता से करना चाहती हैं। हिन्दी नाटकों में से मराठी में शायद ही कोई अनुवाद रुचे; डॉ० रामकुमार वर्मा का 'चारुमित्रा' हुआ है। कविता का अनुवाद कठिन है, कुछ मैंने किया है। एक सज्जन कल्याणराय ने समूची 'भारत-भारती' चार वर्ष पूर्व भारती में समश्लोकी अनूदित की थी, पर प्रकाशक नहीं मिल पाया। प्राचीन ग्रन्थों में से 'तुलसी रामायण' का 'सुश्लोकमानस' अनुवाद श्री खण्डेजी ने किया है। निवेदन इतना ही है कि इस विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करके वह व्यंग्य-प्रहार मुझ पर किया जाता तो अच्छा होता! आशा है कि वह व्यंग्य नहीं है और हिन्दी भाषियों की सर्वसामान्य अन्य भारतीय भाषाओं के विषय में अज्ञता-मात्र है।

—प्रभाकर माचवे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

029525

प्राप्ति-स्वीकार

१. मानस में रामकथा : डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता । २. मानस की रामकथा : परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, प्रयाग । ३. आचार्य चाणक्य : जनार्दन नागर, साहित्य संस्थान, उदयपुर । ४. मुनिया की शादी; महल और मकान: इन्साफ़ : यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । ५. पंजाब की कहानियाँ : बलवन्त सिंह, लहर प्रकाशन, प्रयाग । ६. लोमड़ी का मांस : केशवचन्द्र वर्मा, प्राची प्रकाशन, कलकत्ता । ७. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड : डॉ० रांगेय राघव, सरस्वती पुस्तक सदन, मोदी कटरा, आगरा । ८. चाँद सूरज के बीरन; बाजत आवे ढोल : देवेन्द्र सत्यार्थी, एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली । ९. रजवाड़ा : देवेशदास, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १०. वितस्ता की लहरें : लक्ष्मीनारायण मिश्र, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । ११. कबीर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १२. चीनी जनता के बीच : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, पी० प० हाउस, बम्बई । १३. संताप : बालकृष्ण बल्दुवा, नरेन्द्र बुक-डिपो, कानपुर । १४. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य : डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, चौधरी मानसिंह प्रकाशन, अजमेर । १५. नज़ीर की बानी, फ़िराक : ला जर्नल प्रेस, प्रयाग । १६. आँखों में; बन्दना के बोल : हरिकृष्ण प्रेमी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १७. धर्म की धुरी; अपना पराया : राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, राजेश्वरी साहित्य मन्दिर, पटना । १८. परिव्राजक की प्रजा : शान्तिप्रिय द्विवेदी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग । १९. उर्दू और उसका साहित्य : गोपीनाथ अमन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली । २०. तमिल और उसका साहित्य : पूर्ण सोमसुन्दरम्, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली । २१. भारतीय शिक्षा : डॉ राजेन्द्रप्रसाद, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । २२. वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, प्रयाग । २३. नये नगर की कहानी : रावी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । २४. रोते हैं, हँसते हैं : हरिशंकर परसाई, सुषमा साहित्य मन्दिर, जबलपुर । २५. संघर्ष के बाद : विष्णु प्रभाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी । २६. पर्दे के पीछे : उदयशंकर भट्ट, मसिजीवी प्रकाशन , दिल्ली । २७. अन्तरिम क्षतिपूर्ति योजना; प्रयाग दर्शन : List of technical terms प्रकाशन विभाग, केन्द्रीय सरकार, दिल्ली । २८. सार्थवाह : डॉ० मोतीचन्द, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना । २९. हर्षचरित : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना । ३०. मां दुर्गे : हरिनारायण मैणवाल, ला जर्नल प्रेस, प्रयाग । ३१. गद्य-पथ : सुमित्रानन्दन पन्त, साहित्य भवन प्रयाग । ३२. महावीर वाणी : डॉ० बेचरदास, जैन महामण्डल, वर्धा । ३३. भगवान् महावीर और उनका मुक्तिमार्ग : ऋषभदास राँका, जैन महामण्डल, वर्धा । ३४. चिनगारियाँ : ताराचन्द एल० कोठारी, जैन महामण्डल, वर्धा । ३५. इन्द्र धनुष : श्री हरिशंकर, हिन्दीपीठ, बम्बई । ३६. स्तालिन : राहुलसांकृत्यायन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पी० प० हाउस, बम्बई। ३७. निबन्ध-संग्रह : डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, डॉ० श्रीकृष्णलाल, साहित्य भवन, प्रयाग। ३८. महाकवि भूषण : भगीरथ प्रसाद दीक्षित, साहित्य भवन, प्रयाग। ३९. प्रेत बोलते हैं : राजेन्द्र यादव, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली। ४०. परेड ग्राउण्ड : हंसराज रहबर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। ४१. साहित्य साधना की पृष्ठभूमि : भैरवनाथ झा ज्ञानपीठ, पटना। ४२. तुलसीदास : स्नेह ओझा, साहित्य संस्थान, उदयपुर। ४३. चाकलेट : उग्र, टण्डन ब्रदर्स, कलकत्ता। ४४. माटी का सत्त : रामअधार सिंह, प्र० दिनेशसिंह काशी। ४५. चार के चार : कमल जोशी, विभा प्रकाशन, जमशेदपुर। ४६. जिन्दगी के अनुभव : नमिता लुम्बा, सेन्ट्रल बुकडिपो, प्रयाग। ४७. गुरु दक्षिणा : सन्तराम वत्स्य, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। ४८. मानिनी गोपा; कृष्ण वियोगिनी : हरिनारायण मैणवाल, ला जर्नल प्रेस, प्रयाग। ४९. पत्थर के देवता : ६ यूरोपीय लेखक, प्राची प्रकाशन, कलकत्ता।

८४२४
079575
पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक माला
के
पाँच महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियां

भूमिका : डॉ० रघुवंश

लेखक—प्रभाकर माचवे, डॉक्टर जगदीश गुप्त, विजय चौहान, नामवरसिंह, राजनारायण बिसारिया। मूल्य २)

हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियां

भूमिका : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

लेखक—नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, ठाकुरप्रसाद सिंह, बच्चनसिंह, विजयशंकर मल्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी। मूल्य २)

हिन्दी के गौरव-ग्रन्थ

भूमिका : डॉ० व्रजेश्वर वर्मा

लेखक—डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० रांगेय राघव, विश्वम्भर 'मानव', विजयेन्द्र स्नातक, गोपाल कृष्ण कौल। मूल्य २)

हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियां

भूमिका : डॉ० देवराज

लेखक—शिवनाथ, डॉ०जगदीश गुप्त, विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, शम्भूनाथ सिंह, नलिनविलोचन शर्मा। मूल्य २)

पाश्चात्य आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियां

भूमिका : डॉ० एस० सी० देव

लेखक—डॉ० जयकान्त मिश्र, डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा, विजयदेव नारायण साही, हर्षनारायण, राजनारायण बिसारिया, रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ रामअवध द्विवेदी, केशव आनन्द, यदुपति सहाय। मूल्य ३)

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचना

हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ : भूमिका डॉ० रघुवंश २)
हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ : भूमिका डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय २)
हिन्दी के गौरव ग्रन्थ : भूमिका डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा २)
हिन्दी-आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ : भूमिका डॉ० देवराज २)
उर्दू और उसका साहित्य : गोपीनाथ 'अमन' २)
तमिल और उसका साहित्य : पूर्ण सोमसुन्दरम् २)
तेलुगु और उसका साहित्य : हनुमच्छास्त्री 'अयाचित' २)
मालवी और उसका साहित्य : श्याम परमार २)
मेघदूत : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ४)
साहित्य साधना की पृष्ठभूमि : बुद्धिनाथ झा कैरव ६)
रीतिकालीन कविता एवं शृंगार का विवेचन : डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ६।।)
प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड : डॉ० रांगेय राघव ४)
हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र १२)
प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ : डॉ० रामविलास शर्मा ३।।)
रेवातट (पृथ्वीराज रासो २७वां समय) : सं० डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी ६)
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ : डॉ० सावित्री सिन्हा ८)
कामायनी दर्शन : कन्हैयालाल सहल, विजयेन्द्र स्नातक ४)
हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल १०)
द्विवेदी युगीन निबन्ध-साहित्य : गङ्गाबख्शसिंह ३)
महाकवि भूषण : भगीरथ प्रसाद दीक्षित २।।)
निर्गुण काव्य दर्शन : सिद्धिनाथ तिवारी
समीक्षा-शास्त्र : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी
गद्य-पथ : सुमित्रानन्दन पंत
निबन्ध संग्रह : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री कृष्णलाल
भाषालोचन : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

संस्कृति : इतिहास

मातृभूमि : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल)
प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : डॉ० रांगेय राघव २)
भारत का सांस्कृतिक विकास : शिवशेखर मिश्र ३)
आदि भारत : अर्जुन चौबे कश्यप १
पातञ्जलि योगदर्शन : हरिहरानन्द आरण्य ५)
भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश २।।)
सार्थवाह : डॉ० मोतीचन्द्र ११)
भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : (२भाग) डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार
भारत का प्राचीन इतिहास : डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार १)
भारतीय शिक्षा : डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
शिल्पलोक : रामचन्द्र शुक्ल

कविता

विदेह : पोद्दार रामावतार अरुण
मर्म-स्पर्श : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
दिवालोक : शम्भूनाथ सिंह
मंगल-गीत : राजेन्द्र शर्मा
दीवान-गालिब : 'गालिब'
नज़ीर की बानी : 'फ़िराक' गोरखपुरी
राग-विराग : 'फ़िराक' गोरखपुरी
धरती की करवट : 'फ़िराक' गोरखपुरी
जंजीरें टूटती हैं : 'फ़िराक' गोरखपुरी ४)
विनोद और व्यंग्य : 'अकबर' इलाहाबादी

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली—बम्बई

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2, 9, 23, 48, 75, 84

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri